ज्वालामुखी

(जापानी लोगों द्वारा लिखित एकमात्र हिंदी पत्रिका का किताब संस्करण)

ज्वालामुखी

(जापानी लोगों द्वारा लिखित एकमात्र हिंदी पत्रिका का किताब संस्करण)

संपादक

योशिअकि सुज़ुकि

प्रस्तुतिकर्ता

वेदप्रकाश सिंह

Copyright © 2022 योशिअकि सुज़ुकि
All rights reserved.

No parts of this publication
may be reproduced, stored in a retrieval system, or transmitted,
in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying,
recording, or otherwise, without the prior permission of the author.

Published by
योशिअकि सुज़ुकि

Powered by
Pothi.com
http://pothi.com

विषय सूची

ज्वालामुखी पत्रिका का ऐतिहासिक महत्त्व है.. xi
तोमिओ मिज़ोकामि

शुभकामना संदेश... xv
निखिलेश गिरि

हिंदी की अनोखी पत्रिका : 'ज्वालामुखी' xvii
वेदप्रकाश सिंह

अनुक्रम-1980

संपादकीय : पत्रिका का उद्देश्य.. 1
योशिअकि सुज़ुकि

उत्तरी भारत के नगरों में भाषा समस्या पर कुछ टिप्पणियाँ..................................... 3
तोमिओ मिज़ोकामि

दक्षिण भारत में सतमाहे की रस्म और गीत 13
डॉ० नोरिहिको उचिदा

हजारीप्रसाद द्विवेदी का उपन्यास "बाणभट्ट की आत्मकथा" एक विवेचन 30
यूसुके ओहिरा

क्या "रामचरितमानस" जनहितों के लिए लिखा गया था?.................................... 51
ताकाको सुगानुमा

जनवादी लेखक काशीनाथ सिंह की कहानियाँ... 57
शिगेओ अराकि

जापानी जीवन और इकेबाना.. 68
रयोको कोजिमा

समीक्षा : विचार गोष्ठी "समकालीन भारतीय साहित्य एवं जनता".......................... 71
योशिअकि सुज़ुकि

परिशिष्ट
(1) जापान में प्रकाशित हिंदी एवं हिंदी साहित्य संबंधी निबंधों की सूची
सन् 1970 से 1979 तक 76
(2) इस अंक के लेखक 80
(3) विशेष सहयोगी 80

अनुक्रम-1981

संपादकीय 83
योशिअकि सुज़ुकि

भारतीय फ़िल्में : एक जापानी की नज़र में........ 85
तामाकि मात्सुओका

आधुनिक जापानी साहित्य की प्रवृत्तियाँ (1) 98
शिगेओ अराकि

नया गाँव, नया लेखक : मिथिलेश्वर की कहानियाँ 114
आकिरा ताकाहाशि

कहानी : एक रिक्शावाले की कहानी 125
तोमिओ मिज़ोकामि

मन्नू भंडारी "आपका बंटी" 134
मिकि कावामुरा

नागार्जुन कृत "बाबा बटेसरनाथ" पढ़कर 137
एदेरा कोदामा

"बाबा बटेसरनाथ" एक विवेचन........ 141
यूइचिरो मिकि

परिशिष्ट
(1) गत वर्ष जापान में प्रकाशित भारतीय साहित्य एवं भारतीय भाषा संबंधी
निबंधों की सूची सन् 1980 से जून 1981 तक 148
(2) इस अंक के लेखक एवं लेखिकाएँ 149
(3) विशेष सहयोगी 149

अनुक्रम-1982

संपादकीय 151
योशिअकि सुज़ुकि

जापान में हिंदी शिक्षण की समस्याएँ 153
तोमिओ मिज़ोकामि

शांति निकेतन और जापानी परंपरा 163
महेन्द्र साइजी माकिनो

फिल्मोत्सव 82 167
तामाकि मात्सुओका

कहानी - चौराहे के बीच 174
तोमिओ मिज़ोकामि

ममता कालिया की कहानियों में मध्यवर्गीय नारी का चित्रण 178
एदेरा कोदामा

"प्रेम कहानी" 181
माकोतो फुजिवारा

आपके पत्र 183

भारत में दस महीने 188
चिहिरो तानाका

"काली वर्षा" 190
आकिओ ताकामुरा

आधुनिक जापानी साहित्य की प्रवृत्तियाँ (2) 194
शिगेओ अराकि

ब्लड-ग्रुप और स्वभाव का संबंध 198
तेरुमित्सु माएकावा

समीक्षा 202
योशिअकि सुज़ुकि

परिशिष्ट 206

अनुक्रम-1983

संपादकीय 211
योशिअकि सुज़ुकि

ओसाका में ग्रीष्मकालीन पंजाबी गहन पाठ्यक्रम 213
तोमिओ मिज़ोकामि

नामंजूर लेख : शराब-दर्शन 223
महेन्द्र साइजी माकिनो

कन्नड़ आंदोलन – एक जापानी की दृष्टि में 228
डॉ० नोरिहिको उचिदा

व्यंग्य : इंडियन-जैपनीज़ भाई-भाई (एक काल्पनिक वार्तालाप) 233
आकिरा ताकाहाशि

हिंदी कहानी में आधुनिकता का प्रतीक 241
योशिअकि सुज़ुकि

आपके पत्र 245

छह अगस्त 1983 हिरोशिमा में 247
आकिओ ताकामुरा

समीक्षा 249
योशिअकि सुज़ुकि

इस अंक के लेखक 252
विशेष सहयोगी 252

अनुक्रम-1985

संपादकीय 255
योशिअकि सुज़ुकि

भारतीय साहित्य की खोज में एक यात्रा 257
योशिअकि सुज़ुकि

कहानी 'वापसी' 262
तोमिओ मिज़ोकामि

आपके पत्र 269

चाय पी लो, मिठाई ले लो 273
योशिको ओगावा

जापानी साहित्य की प्रवृत्तियाँ (3) 274
शिगेओ अराकि

परिशिष्ट
(1) तोक्यो में एशियाई कवि सम्मेलन 280
(2) सद्भावना का फल-
जापानी भाषा में आधुनिक हिंदी कथा साहित्य की परिचयात्मक पुस्तक प्रकाशित 281
इस अंक के लेखक 284
विशेष सहयोगी 284

अनुक्रम-1986

संपादकीय 287
योशिअकि सुज़ुकि

जापानी साहित्य की प्रवृत्तियाँ (4) 289
शिगेओ अराकि

द्वितीय महायुद्धोत्तर जापानी साहित्य 295
हिदेहिसा हिरानो

और एक जापानी कवि : ताकुबोकु इशिकावा 305
योशिअकि सुज़ुकि

जापानी कविताएँ-

रोज़ 309
श्री आकितो सुगितानि

दर्द 310
सुश्री फुमिको इतागुचि

M भाई 311
श्री नोबुओ आयुकावा

वसंत के लिए 313
श्री माकोतो ओओओका

एक बाँसुरी वाला 315
सुश्री एरिको किशिदा

स्त्री 317
सुश्री रिन् इशिगाकि

सान्गात्सु दो (मार्च मंदिर) 318
श्री तारो कितामुरा

चिचिबु कोन्मिन्तो (चिचिबु जनवादी आंदोलन) 320
श्री युताका आकितानि

जापानी पौराणिक कथा : आठ सिर-धारी साँप 322
साइजी माकिनो

परिशिष्ट 324

ज्वालामुखी पत्रिका का ऐतिहासिक महत्त्व है

तोमिओ मिज़ोकामि
प्रोफ़ेसर एमेरिट्स
ओसाका यूनिवर्सिटी ऑफ फॉरेन स्टडीज़
अगस्त 13, 2022

'ज्वालामुखी' पत्रिका का प्रथम अंक सितंबर 1980 में संपादक श्री योशिअकि सुज़ुकि द्वारा प्रकाशित हुआ था। ज्वालामुखी जापान देश का एक प्रतीक है। सुज़कि जी ने एक और सुंदर प्रतीक फुजि पर्वत (यह भी एक मृत या सुषुप्त ज्वालामुखी है) का नाम न देकर, ज्वालामुखी का नाम देने का कारण यों लिखा था-- "फुजि पर्वत भव्यता का स्वरूप है। परंतु, मैंने इस पत्रिका को सुंदर बनाने के लिए यह नाम नहीं दिया। मैंने ज्वालामुखी नाम इसलिए दिया कि सक्रिय ज्वालामुखी की तरह हम भी सदैव क्रियाशील रहें।" उपशीर्षक, उन्होंने "जापानी लोगों द्वारा लिखित हिंदी पत्रिका" दिया है। उन्होंने इस पत्रिका में लेख लिखने वालों को क्यों जापानियों तक सीमित रखा है- इसके बारे में भी प्रथम अंक के संपादकीय में लिखा है कि, "आजकल जापान में हिंदी पढ़ने वालों की संख्या बढ़ रही है, हिंदी साहित्य और भाषा के अनुसंधानकर्ताओं की संख्या भी बढ़ रही हैं, परंतु उन कार्यों की अभिव्यक्ति ज़्यादातर जापानी भाषा में की जाती है। अभी भी अनुसंधानकर्ताओं की संख्या बहुत सीमित है, इसलिए अध्ययन का क्षेत्र भी सीमित है। ऐसी परिस्थिति में, जापानी में शोध-निबंध लिखने से क्या लाभ होगा? अगर अपने अध्ययन को हिंदी में लिखकर भारत के लोगों के सामने पेश किया जाए, तो व्यापक तौर से सुझाव भी मिल सकेंगे और हिंदी के माध्यम से जापानी साहित्य का परिचय, जापानी साहित्य का अनुवाद, जापानी साहित्य और हिंदी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, जापानी संस्कृति का परिचय आदि करने से भारत के लोगों को भी इसका लाभ मिलेगा। इसी आशय से इस पत्रिका का श्रीगणेश किया जा रहा है।"

सुज़ुकि जी ने केंद्रीय हिंदी संस्थान, दिल्ली में हिंदी का अध्ययन किया है, पर उनके लिए हिंदी रोज़ी-रोटी का साधन नहीं है। अर्थात् उनकी नौकरी किसी विश्वविद्यालय में नहीं है। वे हिंदी-प्रेमी साधारण जापानी नागरिक हैं। दुनिया भर के विश्वविद्यालयों में हिंदी से रोटी कमाने वाले लोगों के लिए यह बहुत ही प्रेरणादायक बात है। वे तोक्यो में रहते थे और मैं ओसाका के पास रहता था। इसलिए हमेशा तो मिलना असंभव था। आज से चालीस साल पहले उन दिनों इंटरनेट की सुविधा भी नहीं थी। हाँ, दूरभाष तो था, पर हम पत्र-व्यवहार अधिक करते थे। सुज़ुकि जी इस नई चुनौती (हिंदी में पत्रिका प्रकाशन) का सामना कैसे करते थे, इसको

भौगोलिक दूरी के बावजूद बहुत करीब से मैं देखता था। पत्रिका की छपाई भारत जाकर करने के सिवाए और कोई रास्ता नहीं था। आजकल कंप्यूटर की सुविधा से जापान में रहते आराम से देवनागरी का टंकन संभव है, पर छपाई के लिए वे हर साल अपने ख़र्चे से भारत जाते थे। उन्होंने भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय से सहायता माँगी थी, तो सुना है कि पाँच हज़ार रुपए की मदद मिलती थी। इस पत्रिका की सहयोग राशि तो भारत में 10 रुपए और जापान में 800 येन थी। पर मैंने इसे किसी को बेचते-खरीदते हुए कभी नहीं देखा।

22 मई सन् 1982 को अमरीका के न्यूयॉर्क स्टेट में स्थित सिराक्यूस विश्वविद्यालय में आयोजित साउथ एशिया लैंग्वेज राउंडटेबल सम्मेलन में प्रोफ़ेसर तेज कुमार भाटिया जी ने दिल्ली विश्वविद्यालय के भाषा विज्ञान विभाग के अध्यक्ष प्रोफ़ेसर श्री रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव जी की अनुशंसा पर सुज़ुकि जी और मुझे आमंत्रित किया था। मैंने 'Japanese Variety of Hindi' विषय पर अंग्रेज़ी में पेपर पढ़ा था। प्रोफ़ेसर श्री रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव जी मेरे भाषण को सुनने के लिए आए थे। तब अमरीका में भारतीय राजदूत स्वर्गीय श्री के०आर० नारायणन जी थे। वे मुख्य अतिथि के रूप में वाशिंगटन डी०सी० से सिराक्यूस विश्वविद्यालय पधारे थे। वे हिंदी के महत्त्व को अंग्रेज़ी में समझा रहे थे।

सुज़ुकि जी की निष्काम सेवा का दर्शन मुझे हर समय होता था। भारत के हिंदी प्रेमियों को इस पत्रिका का पता चलने में बहुत देर नहीं लगी थी। यत्र-तत्र इसकी चर्चा होने लगी थी। डॉक्टर जवाहर कर्णावट जी, भूतपूर्व महाप्रबंधक- बैंक ऑफ बड़ौदा, ने भारतेतर 26 देशों की 56 हिंदी पत्रिकाओं का संग्रह करके उन पर शोध कार्य किया है। सन् 2005 में उनको 'ज्वालामुखी' पत्रिका के बारे में प्रोफ़ेसर हिदेआकि इशिदा जी से जानकारी मिली थी। उनका ध्यान इस बात की ओर आकर्षित हुआ था कि यह केवल जापानियों द्वारा निकाली गई पत्रिका है। उन्होंने विभिन्न देशों से तरह-तरह की दुष्प्राप्य हिंदी की पत्रिकाओं का संग्रह किया था। उनमें लिखने वाले सभी व्यक्ति भारतीय मूल के थे। पर केवल अहिंदी भाषी जापानियों द्वारा लिखित हिंदी पत्रिका का अस्तित्व ही अनोखा है और हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में उल्लेखनीय है।

बहुत खेद की बात है कि सुज़ुकि जी के अथक प्रयास और हिंदी के प्रति प्रबल प्रेम के बावजूद यह पत्रिका 6 अंक तक प्रकाशित होने के बाद बंद हो गई। वे अपने हिसाब से जिंदगी जीने वाले व्यक्ति हैं। उनका हिंदी प्रेम बेजोड़ है। वे जीवन में एक ही रास्ते पर चलने वाले व्यक्ति नहीं हैं। इसलिए, उन्होंने कभी कोई स्थाई काम भी नहीं किया। वे हांगकांग में किसी सामान्य कंपनी में छोटी-सी नौकरी करते थे। लेकिन कुछ ही अंकों के बाद न जाने क्यों सुज़ुकि जी ने हिंदी की दुनिया से संन्यास ले लिया! इसका सही कारण मुझे समझ में नहीं आता। अभी कुछ दिन पहले काफ़ी प्रयास के बाद मुझे एक मित्र से उनके बारे में कुछ और बातें मालूम चलीं कि 2011 में फुकुशिमा में आए भयंकर भूकंप के बाद उनके जीवन की

धारा बदल गई। उस भूकंप में उनके परिवार और सगे-संबंधियों में से कुछ लोगों की मृत्यु हो गई। इसका उन्हें गहरा सदमा लगा। वे अपना काम छोड़कर 500 दिनों के लिए विश्व भ्रमण पर निकल गए। वे ऐसा पीड़ितों को श्रद्धांजलि देने की भावना से कर रहे थे। उनकी इसी यात्रा के सिलसिले में 2015 में उनसे मेरी आखिरी मुलाकात मुंबई में हुई थी। वे अलग-अलग प्रकार की रुचियाँ रखने वाले व्यक्ति हैं। उन्हें मैराथन में दौड़ने का भी शौक है। पति-पत्नी दोनों दौड़ते हैं। इस समय वे तोक्यो जैसे महानगर को छोड़ एक छोटे शहर अतामी में अकेले रहते हैं और चित्रकला में अपना समय बिताते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वे किसी बने-बनाए रास्ते पर चलते रहने वाले व्यक्ति नहीं हैं। जब उन्हें इस पत्रिका के किताब रूप में छपने की बात मालूम चली तो उन्हें बहुत खुशी हुई।

यह कहा जाता है कि पत्रिका प्रकाशित करना जितना आसान है, उसे चलाए रखना उतना ही कठिन है। मैं लगभग हरेक अंक में लेख या कहानी लिखता था, पर इस बात को सुनकर मेरे मन में कुछ अपराध-बोध उत्पन्न हो गया कि हम हिंदी की नौकरी करने वाले लोग इस पत्रिका को क्यों नहीं चला सके! यह सच है कि जापान में अस्सी के दशक की हिंदी की स्थिति और वर्तमान स्थिति में बड़ा अंतर है--यानी चालीस साल में हिंदी का स्तर बहुत ऊँचा हो गया है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि ज्वालामुखी के लेख अप्रासंगिक हैं, बल्कि अभी पढ़ने पर उनका महत्त्व और बढ़ जाता है। इसका ऐतिहासिक महत्त्व निर्विवाद है।

अस्सी का दशक ऐसा युग था कि जापान की अर्थव्यवस्था चरमोत्कर्ष पर थी और हिंदी के प्रति भी जोशीला माहौल था। सुज़ुकि जी का महान योगदान भुलाया नहीं जा सकता है।

मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है कि ओसाका-कोबे में भारत के प्रधान काउंसिल श्री निखिलेश गिरि जी की कृपा से 'ज्वालामुखी' के समस्त लेख पुनर्प्रकाशित होकर किताब रूप में हमारे-आपके सामने हैं।

शुभकामना संदेश

जापान में भारत के प्रधान काउंसिल
निखिलेश गिरि
ओसाका-कोबे
14 सितंबर, 2022
हिंदी दिवस

'ज्वालामुखी' पत्रिका भारत और जापान के सांस्कृतिक संबंध का एक मज़बूत धागा है। सदियों से भारत और जापान का संबंध अनेक रूपों में बना और बढ़ता रहा है। चाहे वह बौद्ध और हिंदू धर्म के कारण स्थापित होने वाला संबंध हो या टाटा बंधुओं का जापान के उद्योगपति शिबुसावा एइची से जुड़ा आर्थिक संबंध हो। विवेकानंद और रवीन्द्रनाथ टैगोर का जापान आना और जापान के बारे में उनके विचार भी हम इसी कड़ी में देखते हैं।

जापान में हिंदी का शिक्षण बीसवीं सदी के पहले दशक में शुरू हुआ। यह बहुत बड़े स्तर पर अभी भी चल रहा है। जापान में हिंदी प्रेमियों की संख्या भी काफ़ी है। इन्हीं में से एक हिंदी प्रेमी जापानी सज्जन योशिअकि सुज़ुकि जी ने सन् 1980 से 86 तक 'ज्वालामुखी' पत्रिका निकाली। इस पत्रिका की विशेषता यह थी है कि संसार में किसी ग़ैर-भारतीय और अहिंदी भाषी व्यक्ति के प्रयास से निकलने वाली संभवतः यह पहली पत्रिका थी। इस पत्रिका में संपादक और सभी लेखक जापानी थे। अपने ख़र्चे और व्यक्तिगत प्रयासों से इसे वे छह साल तक प्रकाशित करते रहे, जिसमें भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने भी कुछ आर्थिक सहायता की थी।

यह पत्रिका न केवल जापान और भारत, बल्कि पूरी दुनिया में हिंदी से जुड़े लोगों के लिए एक प्रेरणा है। हिंदी में लिखे ये सभी लेख भारतीय और जापानी समाज और साहित्य को जानने में हमारी मदद करते हैं। आज से लगभग चालीस साल पहले निकली यह पत्रिका हिंदी की एक दुर्लभ सामग्री है। इसे पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का सुझाव पद्मश्री से सम्मानित आदरणीय प्रोफ़ेसर एमिरेट्स तोमिओ मिज़ोकामि जी ने दिया। इस तरह से यह पत्रिका लंबे समय तक के लिए सुरक्षित होने के साथ-साथ दुनिया भर के हिंदी प्रेमियों के पास पहुँच सकती है।

मिज़ोकामि जी ने मेल भेजकर श्री योशिअकि सुज़ुकि जी से संपर्क करने की कोशिश की। उन्होंने अपनी तस्वीर और एक पत्र भेजकर कृपा की है।

इस पत्रिका को किताब रूप में सामने लाने में ओसाका विश्वविद्यालय में विशेष रूप से नियुक्त असिस्टेंट प्रोफ़ेसर डॉ० वेदप्रकाश सिंह और 'पोथी संस्था' ने हमारी मदद की। इसके लिए उनका आभार।

हिंदी की अनोखी पत्रिका : 'ज्वालामुखी'

वेदप्रकाश सिंह
असिस्टेंट प्रोफ़ेसर
ओसाका विश्वविद्यालय
11 अगस्त, 2022
रक्षाबंधन का दिन

जापान में एक ऐसी पत्रिका पढ़ना जिसे एक जापानी विद्वान ने संपादित किया, जापानी विद्वानों ने उसमें लेख लिखे, यह मेरे लिए एक अभूतपूर्व बात थी। जापान में विद्यार्थियों को हिंदी पढ़ाते हुए यह बात बार-बार मेरे मन में आती है कि काश ये सभी विद्यार्थी चौथे वर्ष या उसके बाद लिखे जाने वाले अपने शोध-आलेखों को जापानी में न लिखकर हिंदी में ही लिखते! इससे इनके ज्ञान को हिंदी समाज भी पढ़-जान पाता! लेकिन जब मैंने 'ज्वालामुखी' पत्रिका के पुराने अंक पढ़े तो मुझे विश्वास ही नहीं हुआ कि इस दिशा में काम करने वाले और लोग भी हैं। श्री योशिअकि सुज़ुकि जी ने अपने पहले संपादकीय में साफ़-साफ़ लिखा था कि "अगर अपने अध्ययन को हिंदी में लिख कर भारत के लोगों के सामने पेश किया जाए, तो व्यापक तौर से सुझाव भी मिल सकेंगे और हिंदी के माध्यम से जापानी साहित्य का परिचय, जापानी साहित्य का अनुवाद, जापानी और हिंदी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, जापानी संस्कृति का परिचय आदि करने से भारत के लोगों को भी इसका लाभ मिलेगा। इसी ज़रूरत को पूरा करने के लिए 'ज्वालामुखी' पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ, जिसे अकेले अपने दम पर छह साल तक श्री योशिअकि सुज़ुकि जी ने संभव बनाया। 1980 से 1986 तक इस पत्रिका के छह अंक निकले। 1984 में किसी कारणवश 'ज्वालामुखी' का अंक नहीं आ सका था।

यह पत्रिका अपनी तरह की अकेली पत्रिका है, जिसमें संपादक और सभी लेखक ग़ैर-भारतीय और अहिंदी भाषी हैं। विश्व की पत्रिकाओं पर काम करने वाले विद्वान श्री जवाहर कर्णावट जी से मिली जानकारी के अनुसार 'ज्वालामुखी' जैसा दूसरा उदाहरण कहीं नहीं मिलता है।

'ज्वालामुखी' के छह अंकों की सामग्री आपके सामने है। इसमें शामिल लेखों को पढ़कर आप समझ सकेंगे कि हिंदी की किसी भी शानदार शोध और साहित्यिक पत्रिका से 'ज्वालामुखी' किसी भी प्रकार से कम नहीं है। इसमें जिन विद्वानों ने लिखा है, इन लेखों को पढ़कर उनके भारत संबंधी ज्ञान से आप अवश्य ही प्रभावित और चकित होंगे। साथ ही

प्रत्येक जापानी को यह किताब देखकर गर्व की अनुभूति होगी कि किसी भी हिंदी भाषी भारतीय की ही तरह वे भी उत्कृष्ट हिंदी में बेहतरीन शोधपरक लेख लिख सकते हैं। मैं हिंदी फ़िल्मों के बारे में लिखा एक लेख पढ़कर ही दंग रह गया कि उन्होंने कितने अच्छे तरीके से हिंदी और दक्षिण भारतीय भाषाओं में बनने वाली फ़िल्मों की तुलना की है।

इस पत्रिका में आप कहानियाँ और व्यंग्य भी पढ़ सकते हैं। पद्मश्री से सम्मानित विद्वान प्रोफ़ेसर एमिरेट्स श्री तोमिओ मिज़ोकामि जी की तीन कहानियाँ और तीन शोधपूर्ण लेख भी पढ़ सकेंगे। कहानी कला और कथानक की दृष्टि से ये कहानियाँ बहुत अच्छी हैं। हिंदी और मराठी के प्रकांड विद्वान ओसाका विश्वविद्यालय के पूर्व प्रोफ़ेसर श्री आकिरा ताकाहाशि जी का व्यंग्य लेख 'इंडियन--जैपनीज़ भाई-भाई' बड़े ही हास्यपूर्ण और मारक तरीके से हिंदी समाज की अंग्रेज़ीयत पर चोट करता है।

इस पत्रिका में भारतीय संस्कृति के ऐसे पहलू भी आप पढ़ सकेंगे, जिनके बारे में संभवतः अनेक भारतीयों को भी इतनी जानकारी नहीं है। जैसे, दक्षिण भारत में 'सतमाहे की प्रथा' पर एक लेख यहाँ है, जिसमें न केवल दक्षिण बल्कि भारत भर में बच्चे के पैदा होने के पहले किए जाने वाले एक उत्सव के बारे में विस्तार से लिखा है। दक्षिण भारत में इस अवसर पर गाए जाने वाले गीतों को भी इस लेख में आप देवनागरी में पढ़ सकते हैं।

हिंदी साहित्य पर उत्कृष्ट लेखों के साथ-साथ जापानी साहित्य पर भी उम्दा लेख और रचनाओं का अनुवाद आप यहाँ पढ़ सकेंगे।

जापान आने के बाद जापान के बारे में हिंदी में प्रकाशित सामग्री को खोजते हुए 'ज्वालामुखी' पत्रिका से मेरा परिचय हुआ। श्री तोमिओ मिज़ोकामि जी ने इसके कुछ अंक भी उपलब्ध करवाए। उन्होंने ही सुझाव दिया कि यह किताब रूप में आ जाए तो भारत और जापान में हिंदी के शोधार्थी इन लेखों को पढ़ सकेंगे। जापान में भारत के प्रधान काउंसिल श्री निखिलेश गिरि जी से जब इस संबंध में बात की तो उन्होंने सहर्ष इस कार्य में सहयोग करने के लिए हामी भरी। उन्हीं के प्रयास से 'ज्वालामुखी' पत्रिका किताब रूप में आपके सामने है। यह किताब भविष्य में ऐसी ही किसी पत्रिका की प्रेरणा ज़रूर बनेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

इस किताब में प्रस्तुतिकर्ता के रूप में मेरी इच्छा थी कि इस पत्रिका के संपादक श्री योशिअकि सुज़ुकि जी 'ज्वालामुखी' या अपने बारे में कुछ लिखते! मिज़ोकामि जी के प्रयास से उन्होंने एक पत्र अपने हाथ से लिखकर हमारे लिए भेजा है। इसे भी आप पढ़ सकेंगे। जब श्री योशिअकि सुज़ुकि जी इस किताब को देखेंगे, तो उन्हें बहुत प्रसन्नता होगी।

'ज्वालामुखी' पत्रिका को किताब रूप में लाने में प्रस्तुतिकर्ता ने संपादक की शैली और भाषा को यथावत रखने की कोशिश की है। कहीं-कहीं मूल शब्दों की वर्तनियों को ठीक कर दिया है। टाइपिंग की कमियों को भरसक दूर करने की कोशिश की गई है, फिर भी अगर इस किताब को पढ़ने पर आपको कुछ भी कमी नज़र आती है तो उसका दोष प्रस्तुतिकर्ता का है।

संपादकीय : पत्रिका का उद्देश्य

योशिअकि सुज़ुकि
रक्षाबंधन का दिन
नई दिल्ली
26 अगस्त 1980

आजकल जापान में भारत से संबंधित अध्ययनकर्ताओं की संख्या जितनी बढ़ रही है, उतनी ही भारतीय भाषाओं की आवश्यकता महसूस की जा रही है। परिणामतः भारतीय भाषाओं को पढ़ने वालों की संख्या भी बढ़ रही है। भारतीय भाषाओं में से हिंदी पढ़ने वालों की संख्या सर्वाधिक है। पहले जापान में केवल दो विश्वविद्यालयों में ही हिंदी शिक्षण हो रहा था, अब इनकी संख्या बढ़कर दस-पंद्रह हो गई है और हिंदी भाषा एवं हिंदी साहित्य के अध्ययन के लिए भारत जाने वालों की संख्या भी बढ़ती जा रही है। हिंदी भाषा एवं हिंदी साहित्य का अनुसंधान कार्य भी हो रहा है, परंतु उसकी अभिव्यक्ति ज़्यादातर जापानी भाषा में की जाती है (देखिए परिशिष्ट 1)। जापानी लोगों को हिंदी अथवा हिंदी साहित्य का परिचय देने के लिए निबंध लिखना एवं कहानियों का अनुवाद करना एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। परंतु अनुसंधान के निष्कर्ष को जापानी भाषा में लिखने से कोई लाभ होगा? मैं लिख चुका हूँ कि जापान में भारत संबंधी अनुसंधानकर्ताओं की संख्या बढ़ रही है। परंतु, फिर भी यह संख्या पर्याप्त नहीं है। इसीलिए अध्ययन का क्षेत्र भी सीमित है। ऐसी परिस्थिति में, जापानी भाषा में शोध निबंध लिखने से क्या लाभ होगा? अगर अपने अध्ययन को हिंदी में लिखकर भारत के लोगों के सामने पेश किया जाए, तो व्यापक तौर से सुझाव भी मिल सकेंगे और हिंदी के माध्यम से जापानी साहित्य का परिचय, जापानी साहित्य का अनुवाद, जापानी और हिंदी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, जापानी संस्कृति का परिचय आदि करने से भारत के लोगों को भी इसका लाभ मिलेगा। इसी आशय से इस पत्रिका का श्रीगणेश किया जा रहा है। इसके लिए मैंने जापानी हिंदी प्रेमियों से लेख लिखने का अनुरोध किया था। इस अंक के लेखकों से तथा अन्य लोगों से मुझे उपयोगी सुझाव मिले हैं।

प्रस्तुत पत्रिका जापानी लोगों द्वारा लिखित प्रथम निबंध संग्रह है। इस अंक के लेखक साधारण हिंदी प्रेमियों से लेकर भाषा विज्ञान के विशेषज्ञ तक हैं। इस अंक के लेखक व्यापक तौर पर पाठकों के सुझावों का स्वागत करते हैं।

दो शब्द पत्रिका के नामकरण के बारे में भी लिखना आवश्यक समझता हूँ। मैंने इस पत्रिका को “ज्वालामुखी” नाम दिया है। हमारा देश ज्वालामुखी का देश है। हमारे देश का

प्रतीक फुजि पर्वत भी एक ज्वालामुखी है। फुजि पर्वत भव्यता का स्वरूप है। परंतु मैंने इस पत्रिका को सुंदर बनाने के लिए यह नाम नहीं दिया। मैंने ज्वालामुखी नाम इसलिए दिया कि सक्रिय ज्वालामुखी की तरह हम भी सदैव क्रियाशील रहें। यह पत्रिका किसी संस्थान या गुट से जुड़ी हुई नहीं है, बल्कि पूरी तौर पर स्वतंत्र है। इसलिए जो लोग हिंदी में अपने विचार प्रकट करना चाहते हैं उनका इसमें स्वागत है। ऐसे व्यक्तियों के लिए इस पत्रिका का दरवाजा हमेशा खुला है और खुला रहेगा और विश्व के सभी पाठकों से उन के विचार, सुझाव तथा प्रतिक्रियाएँ आमंत्रित हैं।

इस पत्रिका को व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण मासिक, त्रैमासिक अथवा अर्ध-वार्षिक बनाना संभव नहीं है, अतएव पत्रिका के प्रेमियों को वार्षिक रूप से ही संतोष करना होगा।

मैं जापानी हिंदी प्रेमियों से अगले अंक के लिए भी निबंध लिखने का अनुरोध करता है। लेख निम्नलिखित विषयों पर होंगे।

1. हिंदी भाषा एवं हिंदी साहित्य संबंधी शोध
2. हिंदी भाषा एवं जापानी भाषा का तुलनात्मक अध्ययन
3. भारतीय साहित्य और जापानी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन
4. जापानी संस्कृति का परिचय
5. जापानी साहित्य का हिंदी अनुवाद
6. हिंदी निबंध, कहानी, कविता आदि।

लेख भेजने की अंतिम तिथि हर साल अप्रैल के अंत तक है और अगला अंक अगस्त अथवा सितंबर, 1981 में प्रकाशित किया जाएगा।

इस पत्रिका के प्रकाशन की योजना बनाने में काफ़ी कठिनाइयाँ आईं, परंतु उनको हल करने के लिए मुझे कई व्यक्तियों से सहायता प्राप्त हुई। उन सभी के नामों का उल्लेख करना संभव नहीं है। उनके प्रति मैं हृदय से धन्यवाद व्यक्त करता हूँ और जिन लोगों ने मुझे सहयोग तथा प्रेरणा दी उन लोगों के लिए इस पत्रिका को आगे बढ़ाना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

धन्यवाद

उत्तरी भारत के नगरों में भाषा समस्या पर कुछ टिप्पणियाँ

तोमिओ मिज़ोकामि

[प्रायः भारत की भाषा समस्याएँ उसकी बहुभाषिकता और भारतीय भाषाओं में द्वन्द्व का स्मरण कराती हैं। दक्षिण भारत में गड़बड़ फैलाने वाले हिंदी विरोधी आंदोलनों के विषय में हम सब जानते हैं। परंतु हिंदी की भी अपनी निजी समस्याएँ हैं, जो यद्यपि भाषा वैज्ञानिक तथा सामाजिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं, भाषा वैज्ञानिकों का ध्यान उतना आकर्षित नहीं करतीं जितना भाषाओं की बहुलता। भाषागत विविधता हिंदी में भी है। हिंदी विरोधी आंदोलन तथा 'अंग्रेज़ी हटाओ' अभियान जैसे विषय प्राय: राजनीतिक हैं।

मेरा यह लेख उत्तर भारत के नगरों की द्विभाषिकता अथवा बहुभाषिकता से संबद्ध है। अनिवार्यतः हिंदी की समस्याएँ उससे जुड़ी हुई हैं और उसमें विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों के अनुरूप कुछ सामाजिक विश्लेषणों पर पहुँचने का प्रयास भी किया गया है।]

जब हम उत्तरी भारत के बुद्धिजीवियों से हिंदी में बात करते हैं तो प्रायः हम इस प्रकार प्रशंसित होते हैं—"आपकी हिंदी मुझसे काफ़ी अच्छी है।" अथवा "आप मुझसे अच्छी हिंदी जानते हैं।" मनुष्य का स्वभाव है कि यदि कोई विदेशी किसी व्यक्ति की मूल भाषा में दक्ष है, तो वह व्यक्ति उस विदेशी की प्रशंसा करने में संकोच नहीं करेगा। परंतु, उदाहरण के लिए, जर्मन बुद्धिजीवी किसी विदेशी की प्रशंसा करते हुए यह कभी नहीं कहेंगे—"Thr Deutsch ist besser als mein Deutsch." या "Sie sprechen Deutsch besser als ich." इसी प्रकार फ्रांसीसी बुद्धिजीवी भी कभी किसी विदेशी को यह नहीं कहेंगे—"Vous parlez francais mieux que moi." कोई जापानी बुद्धिजीवी भी किसी विदेशी को, चाहे वह विदेशी जापानी भाषा में कितना ही प्रवीण क्यों न हो, यह नहीं कहेगा—"Anata wa watashi yorimo nihongo ga ojozu desune."

भारत के अन्य भागों में भी, जैसे बंगाल में, बुद्धिजीवी किसी ग़ैर-बंगाली से कभी नहीं कहेंगे कि—"आपनार बंगला आमार चेये भालो।" हालाँकि, यदि विदेशी बंगला भाषा बोलता है, तो इससे बंगाली लोग बहुत प्रसन्न होंगे। यदि ग़ैर-तमिल भाषी तमिल ध्वनियों का शुद्ध उच्चारण नहीं करते, तो तमिल भाषी लोग इससे प्रसन्न नहीं होते।[1] तब केवल हिंदी-भाषी "आप मुझसे अच्छी हिंदी जानते हैं।" सरीखा वाक्य क्यों बोलते हैं? इसका अभिप्राय क्या यह है कि वे केवल हमारी झूठी प्रशंसा कर रहे हैं? मैं मानता हूँ कि उत्तर भारतीय खुले दिल के हैं, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उत्तर भारत के हिंदी-भाषी संसार के श्रेष्ठतम झूठे प्रशंसक हैं। यह देखा जा सकता है कि हिंदी भाषा का एक विशेष स्तर या शैली

(साहित्यिक भाषा) उन लोगों के लिए भी उतनी ही 'विदेशी' अथवा प्राय: उतनी ही अबूझ है जितनी कि किसी हिंदी सीखने वाले के लिए। अतः उनका विदेशियों की प्रशंसा करना अनिवार्यतः शत-प्रतिशत केवल प्रशंसा भाव ही नहीं होता अपितु इसमें कुछ सत्य भी होता है। संस्कृतनिष्ठ शब्दावली से कम लोग परिचित हैं।[2]

हिंदी के बोलचाल के रूप को प्राय: 'हिन्दुस्तानी' के नाम से पुकारा जाता है। इस नाम का प्रचलन अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में हुआ था। इस भाषा-रूप की कई परिभाषाएँ दी जा सकती हैं, किंतु प्राय: इस बात पर सहमति है कि यह उत्तरी भारत में हिंदुओं और मुसलमानों के द्वारा समान रूप से बोली जाने वाली भाषा रही है। उच्च हिंदी तथा उर्दू हिन्दुस्तानी की साहित्यिक अथवा सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के दो भिन्न माध्यम मात्र हैं। साहित्यिक हिंदी (उच्च हिंदी) की अधिकांश शब्दावली संस्कृत से है तो उर्दू की अरबी-फ़ारसी से। बोलचाल के स्तर पर दोनों भाषाओं में बहुत कम अंतर है। सुनीति कुमार चटर्जी ने हिन्दुस्तानी (उनकी वर्तनी में 'हिन्दुस्थानी') की परिभाषा देते हुए उसे "हर रोज़ के प्रत्यक्ष जीवन के व्यवहार की हिंदी जो अत्यंत संस्कृतपूर्ण नहीं है" कहा है।[3]

चूँकि हिन्दुस्तानी के विकास एवं प्रचार में मुसलमानों का देन अधिक रहा है, इसकी पूर्ण शब्दावली में अरबी-फ़ारसी की ओर झुकाव स्वाभाविक है। कह सकते हैं कि उच्च हिंदी इसके शुद्धिवादियों (स्वभावत: हिंदू ही) की कृत्रिम उपज है जिन्होंने संस्कृत के बहुसंख्यक शब्दों को अपना लिया है। यही कारण है कि उच्च हिंदी बोलचाल के हिंदी-रूप से काफ़ी भिन्न है।

यद्यपि हिंदी-उर्दू की समस्या को केवल धार्मिक-सांप्रदायिक दृष्टिकोण से देखना उचित नहीं होगा (उदाहरण के लिए कई हिंदू विशेषत: कायस्थ उर्दू में सुशिक्षित हैं)। किंतु प्राय: यह एक ऐसा तथ्य है जिसे नकारा नहीं जा सकता कि हिंदी हिंदुओं की तथा उर्दू मुसलमानों की सांस्कृतिक भाषा मानी जाती है। हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिक झगड़ों से बचने के लिए तथा उसके अखिल भारतीय स्तर पर प्रचलन के कारण महात्मा गाँधी ने हिन्दुस्तानी का एक समान भाषा के रूप में समर्थन किया था। परंतु हिन्दुस्तानी उच्च स्तर की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का माध्यम न बन सकी, क्योंकि वह केवल आधारभूत संप्रेषण की एक भाषा थी। अतः सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उच्च हिंदी और उर्दू द्वारा भिन्न-भिन्न मार्गों का अपनाया जाना एक अनिवार्य प्रक्रिया थी। इसके अतिरिक्त भारत विभाजन (1947) ने भी हिंदी-उर्दू के विवाद पर एक निर्णयात्मक प्रभाव डाला, क्योंकि उसके बाद अब भारत ने राजभाषा के रूप में हिंदी को तथा पाकिस्तान ने उर्दू को स्वीकार कर लिया। भारत में अब भी उर्दू एक प्रयोजनीय भाषा है, किंतु पाकिस्तान में हिंदी का प्रयोजन नहीं है। इस मोड़ ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है कि भारत और पाकिस्तान दोनों देशों में 'हिन्दुस्तानी' शब्द अप्रचलित होने लगा है। "मैं घर जा रहा हूँ।" जैसा हिन्दुस्तानी का एक साधारण वाक्य

भी हिंदुओं द्वारा हिंदी का तथा भारतीय मुसलमानों और पाकिस्तानियों द्वारा उर्दू का वाक्य कहा जाता है।

अब, जबकि हिंदी (देवनागरी में लिखित) को भारतीय संविधान द्वारा स्वीकार किया गया है, साहित्यिक हिंदी क्रमश: संस्कृतनिष्ठता की ओर बढ़ रही है। यह शिक्षा तथा जनसंप्रेषण का माध्यम है। किंतु जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, अधिकांश हिंदी भाषी अब भी उस साहित्यिक हिंदी में पूर्ण दक्ष नहीं हैं। इससे ज्ञात होता है कि भाषा शिक्षण कितना समयसाध्य है। संस्कृतनिष्ठता वाला अतिवादी प्रचार भाषा की प्रकृति को हानि ही पहुँचाता है। भाषा के बोलचाल वाले तथा लिखित रूप के अंतर को मिटाने की दिशा में सदा ही सक्रिय कदम उठाने चाहिए।

शुद्ध हिंदी प्रायः बोलने में उपहासास्पद मानी जाती है तथा हिंदी को सरल बनाने के सुझाव अधिकतर उन वक्ताओं द्वारा दिए जाते हैं जो अपनी ओर से इस दिशा में कोई प्रयास नहीं करते।

प्रो० वारान्निकोव; रूस के प्रख्यात हिंदी विद्वान ने हिंदी को सरल बनाने के इस विचार की आलोचना करते हुए निरंतर प्रयोग द्वारा उच्च हिंदी से परिचित होने का सुझाव दिया है।[4] हिंदी के विदेशी छात्रों को यह समझने में समय लगेगा कि 'परिचय', 'प्रश्न', 'सुविधा' आदि जैसे मूलभूत शब्द भी दैनिक बोलचाल में यदा-कदा ही प्रयुक्त होते हैं। अधिकांश विदेशी व्याकरण के माध्यम से हिंदी सीखते हैं। किसी भी विदेशी भाषा को सीखने का यह सुगम मार्ग है। अतः वे बोलचाल की अपेक्षा लिखित भाषा से अधिक परिचित होते हैं। तब, यह अपरिहार्य है कि आरंभ में उनकी हिंदी पुस्तकीय हो। चेकोस्लोवाकियन भारतीय भाषा विद्वान प्रो० ओडोलेन स्मेयकल ने कहा है कि वे चेकोस्लोवाकिया में पढ़ाई गई शुद्ध संस्कृतनिष्ठ भाषा में अधिक पारंगत हैं।[5] मूल हिंदी भाषियों को हिंदी सीखने वाले उत्साही विदेशी छात्रों के साथ खिचड़ी भाषा की अपेक्षा उच्च स्तर की हिंदी में अधिक निष्ठा के साथ बातचीत करनी चाहिए।

भाषा संस्कृति के साथ गहराई से संबद्ध होती है। अतः भाषा की व्यक्तिगत शैली स्वयं व्यक्ति की ही संस्कृति की द्योतक होती है। इसलिए जहाँ सांस्कृतिक स्थिति का प्रश्न हो वहाँ शुद्ध हिंदी की, चाहे औपचारिक ही क्यों न हो, आवश्यकता होती है। मैं दिल्ली में एक भारतीय परिवार के यहाँ गया। बातचीत के बीच मुझे शौचालय जाने की आवश्यकता हुई। मैंने उच्चतर माध्यमिक पाठशाला में पढ़ने वाले उस परिवार के एक लड़के से कहा- "मैं लघुशंका करना चाहता हूँ।" मुझे शौचालय की ओर ले जाने के स्थान पर वह मेरे लिए पानी भरा एक गिलास ले आया, अर्थात् हिंदी माध्यम वाले स्कूल में पढ़ते हुए भी उसे 'लघुशंका' शब्द नहीं मालूम था। इससे ज्ञात होता है कि शिक्षण संस्थाओं में परिष्कृत भाषा पूरी तरह से पढ़ाने का अभाव है। एक और अनुभव को भी उद्धृत किया जाए। अपने एक पड़ोसी का

टेलीफ़ोन प्रयोग में लाने के पश्चात् मैंने फ़ोन करने का दाम चुकाना चाहा, परंतु पड़ोसी ने इसे लेना अस्वीकार कर दिया। फिर भी मैंने देना चाहा। मैं ऐसी सरल हिंदी में अपना कथन सुविधा से दोहरा सकता था- "लीजिये न, अच्छा नहीं लगता, लीजिए न।" किंतु केवल एक परिवर्तन लाने के लिए और अपने सांस्कृतिक स्तर के उपयुक्त कुछ प्रभावशाली अभिव्यक्ति लाने के लिए मैंने कहा- "मुझे अपनी सभ्यता का पालन करने दीजिए।" श्रोता मेरी इस हिंदी पर आश्चर्यचकित हो गए।

उच्च स्तर की हिंदी के प्रयोग में केवल निम्न स्तर की हिंदी ही एक बाधा नहीं है। उच्च स्तर की हिंदी के प्रयोग में सामान्य हिंदी सहित प्राय: अंग्रेज़ी भी बाधक बनती है। मैं अंग्रेज़ी पर अगले खंड में विचार करूँगा।

यह एक गलत धारणा है कि सभी 'शिक्षित' भारतीय अंग्रेज़ी जानते हैं। हमें 'शिक्षित' शब्द को पश्चिमी अर्थों तक सीमित नहीं करना चाहिए। यद्यपि अंग्रेज़ी शिक्षा, पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से भारत में आधुनिकीकरण लाई, फिर भी इस देश में पंडितों द्वारा उत्तराधिकार में प्राप्त और विकसित वेद तथा वेदांतों की एक पारंपरिक शिक्षा-पद्धति भी रही है। हम कह सकते हैं कि भारतीय संदर्भ में इस प्रकार के पंडित भी सुशिक्षित हैं। यह आवश्यक नहीं कि उन्हें आधुनिक पश्चिमी शिक्षा प्राप्त हो। उनकी ज्ञान निधि विदेशी भारतीय भाषा-विद्वानों के लिए अत्यंत सहायक है। साथ ही, हमें मौलवियों जैसे पारंपरिक इस्लामी शिक्षित व्यक्तियों के वर्ग को भी इसमें जोड़ना होगा। हमें विशिष्ट उद्देश्य की दृष्टि से शिक्षा के प्रकार को समझना होगा। इसके लिए सामान्य-सा उदाहरण दिया जाएगा--भारत में कई श्रेष्ठ संगीतकार हैं किंतु उनमें से कई व्यक्ति Beethoven (विख्यात जर्मन संगीतज्ञ) का नाम भी नहीं जानते होंगे। यद्यपि वे लोग पाश्चात्य संगीत से अनभिज्ञ हैं, फिर भी वे श्रेष्ठ संगीतकार तो हैं ही। 'शिक्षित' का अर्थ वे लोग नहीं जो अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे हों। पंडितों की अभिव्यक्ति में संस्कृत तथा उच्च हिंदी की महत्त्वपूर्ण भूमिका है तो अरबी, फ़ारसी और उर्दू इस्लामी अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। भारतीय लोग इस प्रकार की शिक्षा अंग्रेज़ी के ज्ञान के बिना प्राप्त कर सकते हैं, यद्यपि विदेशी विद्वानों के लिए असंभव है। अतः भारत में 'शिक्षित होने के लिए अंग्रेज़ी ही एकमात्र कसौटी नहीं है। उत्तरी भारत के नगरों के सांस्कृतिक और सामाजिक स्तरीकरण के संदर्भ में भाषाओं के विभाजन पर विचार करते समय यह तथ्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए गमपर्ज़ ने उचित ही संकेत किया है[6] कि जन-साधारण द्वारा बोली जाने वाली बोली तथा उसकी तुलना में अल्पसंख्यक शिक्षितों द्वारा प्रयुक्त साहित्यिक मुहावरे में सदा ही अंतर रहा है, किंतु हमारे मतानुसार शिक्षितों के बीच भी आपस में बहुत बड़ा अंतर होता है। उनके द्वारा प्राप्त शिक्षा के प्रकार तथा स्तर को भी ध्यान में रखना चाहिए। हिंदी भाषी क्षेत्र की एक विशेषता है कि 'शिक्षित' का अभिप्राय अनिवार्यतः उन लोगों से नहीं जो हिंदी अच्छी तरह लिखना-पढ़ना जानते हैं। अन्य क्षेत्रों में ऐसा नहीं है। उदाहरण के लिए बंगाल को लीजिए, यह पूर्ण विश्वास

के साथ कहा जा सकता है कि वहाँ शिक्षित वर्ग अंग्रेज़ी को चाहे कितना पसंद करे, बंगला भाषा में पूर्ण रूपेण दक्ष होता है। हिंदी-भाषी क्षेत्र में ऐसे अनेक बुद्धिजीवी हैं जो उच्च स्तर की हिंदी नहीं जानते। यहाँ तक कि कुछ लोग ऐसा कहने में भी संकोच नहीं करते कि मुझे हिंदी नहीं आती। स्वतंत्रता प्राप्ति के लगभग तीन दशकों के बाद भी कुछ शुद्धिवादियों के उत्साही आंदोलनों के बावजूद उत्तरी भारत में अब भी अधिकांश लोग अंग्रेज़ी को उच्च सम्मान की भाषा मानते हैं। पंडितों और मौलवियों का सम्मान केवल धर्म तथा विद्या के क्षेत्रों में सीमित होकर रह गया है। सामाजिक सम्मान तो प्रायः उन दूसरे संभ्रांतों (Elites) के हाथ में है जिनका शिक्षण अंग्रेज़ी द्वारा हुआ है। स्वभावत: इस प्रवृति का उद्गम इस तथ्य से खोजा जा सकता है कि ब्रिटिश साम्राज्य के लगभग दो सौ वर्षों में अंग्रेज़ी प्रशासन तथा उच्च शिक्षा की भाषा थी। अतः हिंदी की अपेक्षा अंग्रेज़ी का और स्थानीय बोलियों की अपेक्षा हिंदी का उच्च सम्मान है। किंतु यह जानकर आश्चर्य होता है कि कुछेक अंग्रेज़ी-शिक्षितों द्वारा इस बाद वाले तथ्य (यानी हिंदी की प्रतिष्ठा उसकी स्थानीय बोलियों से बड़ी है) की भी उपेक्षा की जाती है। उत्तरी भारत के नगरों (विशेषत: दिल्ली) में अग्रेजी कितनी प्रभुत्वशाली है और नगर वासियों के अवचेतन में कितनी गहराई से बसी हुई है, इसे सरलता से मात्र कुछ सामान्य उदाहरणों (कुछ अपने अनुभवों पर आधारित) द्वारा जाना जा सकता है :-

उदाहरण (1) : दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलपति तथा प्रोफ़ेसर--कुलपति के विषय में मुझे बताते हुए हिंदी के एक प्रोफ़ेसर ने कहा—"दोनों अच्छी हिंदी बोलते हैं। यह पहले ही विदित था कि वे दोनों हिंदी प्रदेश से आए हुए हैं। अतः इस प्रसंग में किन्हीं अन्य भारतीय भाषाओं की चर्चा नहीं थी तब भी मेरे आदरणीय प्रोफ़ेसर को यह बताने के लिए कि वे केवल अंग्रेज़ी-शिक्षित ही नहीं, अपितु अच्छी हिंदी भी जानते हैं; 'हिंदी' शब्द जोड़ना पड़ा था। मेरे एक भारतीय मित्र ने जो दिल्ली विश्वविद्यालय में हिंदी के विद्यार्थी थे, एक दिन मुझे यह कहते हुए एक भाषण प्रतियोगिता में आमंत्रित किया था कि "आज हिंदी की भाषण प्रतियोगिता है, चलो मेरे साथ।" वे भी 'हिंदी' का उल्लेख करना नहीं भूले, यद्यपि यह स्पष्ट था कि वहाँ भाषण प्रतियोगिता हिंदी के अतिरिक्त किसी दूसरी भाषा में नहीं थी। जापान में जब हम किसी को एक अच्छे वक्ता अथवा अच्छे लेखक के रूप में उल्लेख करते हैं तो हम केवल इतना कहते हैं—"Ano hito wa hanashijozu desu." अथवा "Ano hito wa bunsho ga umai." और अक्सर 'जापानी' का उल्लेख नहीं करते, क्योंकि यह स्वतः सिद्ध होता है कि वह जापानी में ही बोलता अथवा लिखता है। इसके अतिरिक्त हम अपनी भाषा को 'जापानी' नहीं, अपितु 'कोकुगो' (राष्ट्रीय भाषा) कहने के आदी हैं। हिंदी के लिए यह विडंबना है कि आपको हर स्थान पर 'हिंदी' शब्द प्रयुक्त करना पड़ता है। आकाशवाणी से नित्य सुनाई देता है- "हिंदी में समाचार सुनिये।" जबकि उद्घोषक हिंदी में हो बोल रहा होता है। तार देने का नया फ़ॉर्म केवल हिंदी में छपा है, जोकि अपने आप में एक बड़ा परिवर्तन है, किंतु यह और

भी मनोरंजक है कि खिड़की पर लगी तख्ती पर लिखा है: "तार देवनागरी में भी दिए जा सकते हैं" (रेखा प्रस्तुत लेखक की) और मैंने देखा कि वहाँ खड़े अधिकांश लोग हिंदी-फ़ॉर्म पर अंग्रेज़ी वाक्य लिख रहे थे। संस्कार से छुटकारा पाना कितना कठिन है।

उदाहरण (2) : यह एक मनोरंजक किंतु खेदजनक उदाहरण है कि एक अंग्रेज़ी वक्ता किस प्रकार इस भाषा से प्रदूषित है तथा एक पत्रकार, जोकि समान रूप से अंग्रेज़ी-शिक्षित है, किस प्रकार निष्क्रिय भाव से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। 'हवाई कंपनी की एक सहकारिणी' शीर्षक वाले एक लेख[7] में एअर इंडिया के नई दिल्ली दफ़्तर में काम करने वाली बारह युवा यातायात सहायिकाओं में से एक का परिचय उसमें दिया गया था। कुछ प्रश्नों के उत्तर देने के बाद वह कहती है- "और पहली बार नई दिल्ली आने वाले अथवा लंदन के लिए अपनी पहली यात्रा करने वाले कुछ सिख यात्री भी हैं। वे हवाई यात्रा के बारे में कुछ भी नहीं जानते और अंग्रेज़ी बहुत कम जानते हैं। मैं ऐसे आदमियों के साथ पंजाबी में बातचीत करती हूँ और उनकी चिंताओं और भय को दूर करने की कोशिश करती हूँ।" पत्रकारिता के दृष्टिकोण के लिए यह प्रथम पाठ (अर्थात् सामान्य बोध) होना चाहिए कि यदि एक कुत्ता किसी व्यक्ति का काटता है तो यह कोई समाचार नहीं है किंतु यदि एक व्यक्ति किसी कुत्ते को काटता है तो यह समाचार है। यहाँ एक पंजाबी लड़की का पंजाबी लोगों के साथ "उनकी चिंताओं और भय को दूर करने के लिए" पंजाबी में बातचीत करना एक समाचार था। मुझे आश्चर्य है कि इससे सिख भाई अपमानित अनुभव क्यों नहीं करते।

उदाहरण (3) हरियाणा प्रांत के (उस वक़्त के) मुख्यमंत्री श्री बनारसी दास नई दिल्ली में एक सभा में उपस्थित थे। अपने प्रति संबोधित अंग्रेज़ी के स्वागत भाषण को सुनने के बाद उन्होंने हिंदी में बोलना प्रारंभ किया, वह भी हिंदी में बोलने के लिए क्षमा याचना करने के बाद ही। और उन्होंने कहा "दुर्भाग्य है कि अपने ही देश में हिंदी में बोलने के लिए क्षमा माँगनी पड़ रही है।"[8] इस हिंदी प्रेमी मंत्री के उदाहरण से पता चलता है कि हिंदी उच्च राजनीतिक स्तरों की भाषा नहीं है। अंग्रेज़ी के इस प्रकार के उन्मुक्त प्रयोग से अवांछित परिणाम निकलते हैं। सर्वप्रथम, हिंदी पढ़ने वाले विदेशी छात्र यथेष्ठ हतोत्साहित हो जाते हैं। गमपर्ज़ ने भी लिखा है[9] कि जो विदेशी मूल निवासियों के साथ हिंदी में बातचीत करना चाहते हैं उन्हें बहुत कम अवसर मिलते हैं। आगे वे कहते हैं कि वे (हिंदी-भाषी) उसे (विदेशी) अपने अंत:वर्गीय संबंधों की आत्मीयता से बाहर रखने के लिए भाषागत सीमा का लाभ उठा रहे हों।[10] यहाँ एक अन्य दृष्टिकोण की ओर भी ध्यान देना चाहिए- कभी-कभी मूल निवासी वक्ता अपने साथियों के बीच अंग्रेज़ी में अपनी दक्षता का प्रदर्शन करना चाहता है, अतः यह दिखावे की भावना विदेशी का 'इस्तेमाल' करती है। प्रो० कात्सुरो कोगा को बहुत धक्का लगा था जब उन्होंने प्रथम बार एक भारतीय को हिंदी में संबोधित किया और उसका जवाब अंग्रेज़ी में पाया।[11] वे इस बात पर खेद प्रकट करते हैं कि अंग्रेज़ी भारत की प्रधान भाषा है

तथा भारतीय भाषाएँ, गौण भाषाएँ हैं। जनवरी, 1975 में नागपुर में हुए विश्व हिंदी सम्मेलन में प्रो० क्यूया दोई ने भारतीय दूतावासों में अंग्रेज़ी के बोल-बाले की निंदा की थी।[12] अनेक विदेशी प्रतिनिधियों ने भारत के सभी स्तरों पर हिंदी-प्रयोग की असहमति की शिकायत की थी। भारतीयों की ओर से इस पर प्रथम प्रतिक्रिया संसद में सुनाई दी। एक सदस्य ने कहा कि हाल ही में नागपुर विश्व हिंदी सम्मेलन में विदेशी प्रतिनिधियों के मुँह से यह सुनना कि स्वयं संपूर्ण भारत में ही सामान्यतः हिंदी नहीं बोली जाती, लज्जा की बात है।[13]

क्योंकि अंग्रेज़ी प्रतिष्ठा (prestige) के साथ घनिष्ठता से जुड़ी हुई है, लोगों के लिए समाज में उच्च स्तर पाने की चाह या ऐसी मनोवृति पर नियंत्रण पाना बहुत कठिन है। कभी-कभी हमें दो व्यक्ति आपस में भिन्न भाषाओं में झगड़ते हुए दिखाई देते हैं--एक हिंदी में और दूसरा अंग्रेज़ी में। अंग्रेज़ी वक्ता हिंदी वक्ता से प्राय: अच्छे वेश में होता है, किंतु यह झगड़ा हमारे लिए बड़ा अद्भुत लगता है।

हिंदी भाषी अपनी भाषा में सायास या अनायास ही अंग्रेज़ी के कई शब्द मिश्रित कर लेते हैं। यद्यपि सीमा के अंदर यह स्वीकार्य है, परंतु अन्य भाषाओं से आवश्यकता से अधिक शब्द लेने की प्रवृत्ति भाषा की प्रकृति के लिए हानिकारक है। फिर विदेशी छात्रों को कठिनाई हो सकती है। जब मैं हिंदी पढ़ने लगा था और मेरे दिमाग में हिंदी के शब्द नहीं आते थे, तब मुझे अंग्रेज़ी से सहायता लेनी पड़ती थी। तब "मेन (main) चीज़ तो यह है।" जैसी हिंदी मेरे मुँह से निकलती थी। किंतु उच्च हिंदी से परिचित होने के बाद "मुख्य बात तो यह है कि" जैसी हिंदी का प्रयोग करना मेरे लिए बहुत आसान हो गया था, परंतु भारत में काफ़ी समय तक रहने से अंग्रेज़ी शब्दावली मिश्रित बोलचाल की हिंदी ने मेरी बोलचाल की हिंदी को प्रभावित किया। अब मैं अपने घनिष्ठ मित्रों में यदि स्वाभाविक ढंग से बोलूँ तो "मेन (Main) चीज़ तो यह है" जैसी हिंदी मेरे मुँह से निकलेगी। संयोग से यह उच्च हिंदी से हिंदी सीखने की आरंभिक स्थिति में प्रत्यावर्तन' है। हिंदी के विदेशी छात्रों के लिए बोलचाल वाली हिंदी का वास्तविक रूप हिंदी शिक्षण को उच्च स्थिति की अपेक्षा इस आरंभिक स्थिति में पाया जाता है।

अब उत्तरी भारत के नगरों में लोगों की शिक्षा अथवा सांस्कृतिक परिवेश के आधार पर भाषा के विभिन्न रूपों को वर्गीकृत करने का प्रयास किया जाएगा। निम्नलिखित वर्गीकरण वक्ताओं के शैक्षणिक तथा सांस्कृतिक स्तरों के साथ भाषा के संबंध को स्थूलत: प्रदर्शित करता है। मैंने वक्ताओं को आठ वर्गों में विभक्त किया है। यह वर्गीकरण केवल वक्ताओं की शिक्षा अथवा संस्कृति अथवा भाषा के प्रति उनकी सचेतनता (अथवा अचेतनता) पर आधारित है और उनके सामाजिक स्तर के साथ सर्वदा मेल नहीं खाता। कुछ व्यक्तियों के लिए कई वर्ग एक दूसरे से मिल सकते हैं।

स्थिति अपने समान (वर्ग सहित)	वर्ग	क हिंदी	का हिंदी	ख उर्दू	'खा' उर्दू	'ग' हिंदी	'घ' अंग्रेज़ी	'ङ' हिंदी	'च' बाज़ारू हिंदी अथवा स्थानीय बोलियाँ
परिवार अथवा घनिष्ठ मित्रों में (अनौपचारिक)		हिंदी अथवा स्थानीय बोलियाँ	हिंदी अथवा स्थानीय बोलियाँ	उर्दू अथवा स्थानीय बोलियाँ	उर्दू अथवा स्थानीय बोलियाँ	हिंदी अथवा स्थानीय बोलियाँ	अंग्रेज़ी	हिंदी अथवा स्थानीय बोलियाँ	स्थानीय बोलियाँ
सामान्य वार्तालाप (बाज़ार की बातचीत)		हिंदी की ओर झुकी हुई हिंदुस्तानी	हिंदी की ओर झुकी हुई हिंदुस्तानी	हिंदी की ओर झुकी हुई हिंदुस्तानी	उर्दू की ओर झुकी हुई हिंदुस्तानी	हिंदुस्तानी	हिंदुस्तानी	बाज़ारू हिंदी	बाज़ारू हिंदी
व्यवसाय		हिंदी	हिंदी तथा अंग्रेज़ी	उर्दू	उर्दू तथा अंग्रेज़ी	हिंदी तथा अंग्रेज़ी	अंग्रेज़ी	हिंदी	हिंदी
बौद्धिक वार्तालाप		हिंदी	हिंदी तथा अंग्रेज़ी	उर्दू	उर्दू तथा अंग्रेज़ी	हिंदी तथा अंग्रेज़ी	अंग्रेज़ी	हिंदी	_
पढ़ना – लिखना		हिंदी	हिंदी तथा अंग्रेज़ी	उर्दू	उर्दू तथा अंग्रेज़ी	हिंदी तथा अंग्रेज़ी	अंग्रेज़ी	हिंदी	_
"प्रेमचंद अच्छे लेखक हैं" की विशिष्ट अभिव्यक्ति जो उपर्युक्त वर्गों के अनुकूल है।		"प्रेमचंद अच्छे लेखक हैं"।	"प्रेमचंद अच्छे लेखक हैं"।	"प्रेमचंद अच्छे मुसन्निफ़ हैं"।	"प्रेमचंद अच्छे मुसन्निफ़ हैं"।	"प्रेमचंद अच्छे राईटर हैं"।	"प्रेमचंद इज़ ए गुड राइटर"।	"प्रेमचंद अच्छा लिखता है"।	_

वर्ग 'क'.... हिंदी-विद्वान अथवा अध्यापक, हिंदी अथवा संस्कृत के स्नातक और स्नातकोत्तर छात्र, हिंदी लेखक, कवि, आलोचक, हिंदी-पत्रकार, आर्य समाज के नेता, और सनातन हिंदू धर्म के साथ संबंधित पंडित इत्यादि इसी वर्ग में आते हैं। ये उच्च हिंदी में बहुत दक्ष हैं। गमपर्ज़[14] के अनुसार हम इस वर्ग को 'संभ्रांत हिंदी वक्ता' कह सकते हैं। जब ये 'संभ्रांत हिंदी वक्ता' शुद्ध हिंदी के संकुचित प्रचारक बन जाते हैं, तो इन्हें 'हिंदी वाले' कहा जाता है, जो कि एक अपमानजनक शब्द है। इस प्रकार की मौजूदगी ही हिंदी क्षेत्र की अन्यतम विशेषता है।

वर्ग 'का'.... उन लोगों का है जो अंग्रेज़ी में उच्च शिक्षित होने के साथ-साथ हिंदी में भी समान रूप से अच्छे हैं। ये वास्तविक द्विभाषी हैं। ये स्थिति के अनुरूप एक भाषा को दूसरी भाषा में सहजता से बदल सकते हैं। ये संकीर्णतावादी नहीं होते। ये भारतीय बुद्धि का प्रतिनिधित्व करते हैं, किंतु आर्थिक दृष्टि से उनमें से अधिकांश मध्य वर्ग या उच्च मध्य वर्ग में आते हैं। 'क' तथा 'का' वर्ग ही ऐसे हैं जो किसी विदेशी से यह नहीं कहेंगे कि "आप मुझसे अच्छी हिंदी जानते हैं।" और जिनसे विदेशी लोग अच्छी हिंदी सीख सकते हैं।

वर्ग 'ख'...... वर्ग 'क' का ही यह उर्दू संस्करण है और वर्ग 'खा', वर्ग 'का' का। शिक्षित मुसलमान और कुछ शिक्षित हिंदू (जैसे कायस्थ लोग जो उर्दू में शिक्षित हैं) 'ख' वर्ग अथवा 'खा' वर्ग के अंतर्गत आते हैं। उनकी संख्या कम होती जा रही है।

वर्ग 'ग'....यह एक ऐसा वर्ग है जो भाषा नीति के प्रति उदार तथा उदासीन है। शिक्षित मध्य वर्ग का अधिकांश इसी वर्ग में आता है। ये वर्ग 'का' अथवा वर्ग 'खा' के निम्नतर स्तर के लोग हैं। 'क' का 'ख' और 'खा' वर्ग अपने भाषा प्रयोग के प्रति 'सजग' हैं किंतु 'ग' वर्ग उसके प्रति 'सुप्त' है। यद्यपि ये लोग भी द्विभाषी हैं, किंतु स्थिति के अनुरूप एक भाषा को दूसरी भाषा में नहीं बदल सकते। इन्हें 'भाषा के अवसरवादी' कह सकते हैं।

वर्ग 'घ'.... उन लोगों का वर्ग है जो शरीर से भारतीय और मन से अंग्रेज' हैं। ये अंग्रेज़ों के समान ही धाराप्रवाह अंग्रेज़ी बोलते हैं। इन्होंने पब्लिक स्कूलों में शिक्षा पाई है। अंग्रेज़ी को भारत में बनाए रखने के ये प्रबल समर्थक हैं। यद्यपि ये हिंदी समझ लेते हैं पर 'काम चलाऊ हिंदी' ही पर्याप्त समझते हैं। ये लोग अधिकांशतः सरकारी प्रशासक, बड़े व्यापारी, डॉक्टर, वकील, वैज्ञानिक, पत्रकार और विश्वविद्यालयों के वे प्रोफ़ेसर हैं जिनके विषय विज्ञान अथवा सामाजिक विज्ञान से संबंधित हैं। ये संभ्रांत अवश्य हैं किंतु भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व नहीं करते।

वर्ग 'ग' और 'घ' ही ऐसे हैं जो 'अंग्रेज़ीयत' से छुटकारा न पाने के कारण हिंदी के विदेशी छात्रों को (अंग्रेज़ी भाषी भी शामिल हैं) हतोत्साहित करते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो अंग्रेज़ी को अपनी मातृभाषा मानते हैं—जैसा कि एंग्लो-इंडियन लोगों में पाया जाता है, जो सुशिक्षित भी नहीं, 'संभ्रांत' भी नहीं, केवल अंग्रेज़ी में सोचते और जीते हैं, वे निम्नस्तर के 'घ' हैं।

वर्ग 'ङ'.... यह अर्द्ध-शिक्षितों का वर्ग है। ये लोग सरकारी स्कूलों में हिंदी माध्यम से शिक्षा पाते हैं। ये न तो साहित्यिक हिंदी में प्रवीण होते हैं और न ही अंग्रेज़ी में। किंतु उल्लेखनीय बात यह है कि वर्ग 'घ' की अपेक्षा वर्ग 'ङ' के लोग ही विदेशी छात्रों के लिए हिंदी सीखने में अधिक सहायक हैं। एक व्यक्ति, जिसने प्राईमरी स्कूल के केवल तीन वर्षों तक पढ़ाई की थी--को 'दिनमान' पढ़ते हुए देखना, जिसे वर्ग 'घ' या तो पढ़ नहीं सकता या पढ़ना ही नहीं चाहेगा, मेरे लिए एक उत्तेजक अनुभव था।

वर्ग 'च'.... यह वर्ग अशिक्षित समुदाय का है। ये हिंदी में भी अशिक्षित हैं। उनकी बोली में शिक्षितों अथवा अर्ध-शिक्षितों की बोली की अपेक्षा अधिक विविधता है।

अंततः हमें वर्ग 'छ' को भी देखना होगा।

वर्ग 'छ'.... यह तथाकथित उन प्रवासी लोगों का वर्ग है जिनकी मातृभाषा हिंदी से इतर है। भाषा की दृष्टि से अल्पसंख्यकों में से दिल्ली में सबसे बड़ा वर्ग पंजाबियों का है, परंतु केवल शिक्षित सिक्ख लोग ही पंजाबी भाषा में जुड़े हुए हैं। अन्य पंजाबियों ने स्वयं को हिंदी परिवेश के अनुकूल ढाल लिया है। जहाँ तक दिल्ली का प्रश्न है, पंजाबियों के बाद कश्मीरियों तथा सिंधियों ने हिंदी स्थिति के साथ पूर्ण मेल बना लिया है। दिल्ली में प्रायः सभी तमिल भाषी और बंगाली शिक्षित हैं। उनका भाषागत जीवन त्रिभुजीय है।

निष्कर्षतः हिंदी क्षेत्र की भाषा समस्या के लिए मुझे कुछ समाधान भी सुझाने चाहिए।

वर्ग 'ग' और 'घ' को वर्ग 'का' की ओर बढ़ना चाहिए। उसके लिए उन्हें अपने अंग्रेज़ी ज्ञान को नहीं छोड़ना चाहिए अपितु उन्हें भारत के साथ अपनी पहचान स्थापित करने के लिए केवल साहित्यिक हिंदी का पर्याप्त ज्ञान अर्जित करना होगा। वर्ग 'ङ' तथा वर्ग 'च' के लिए शिक्षा तथा संस्कृति के मान में वृद्धि के अवसर प्रदान करने चाहिए। उनका वर्ग 'क' अथवा 'ख' में स्थानांतरण वांछनीय है।

पाद टिप्पणियाँ

1. यह डॉ० नोरिहिको उचिदा का निजी अनुभव है।
2. देखिए, गमपर्ज़ : 'लैंग्वेज इन सोशल ग्रुप्स', (कैलिफॉर्निया 1971) पृष्ठ 145.
3. 'भारतीय आर्यभाषा और हिंदी', (दिल्ली, तृतीय संस्करण 1963) पृष्ठ 173.
4. 'नवभारत टाइम्स', (नई दिल्ली, जनवरी 30, 1975).
5. 'हिन्दुस्तान टाइम्स', (नई दिल्ली, फरवरी, 13, 1975).
6. 'लैंग्वेज इन सोशल ग्रुप्स', पृष्ठ 4.
7. 'हिन्दुस्तान टाइम्स' (अक्तूबर 26, 1975).
8. 'नवभारत टाइम्स' (अप्रैल 13, 1976).
9. 'लैंग्वेज इन सोशल ग्रुप्स, पृष्ठ 179.
10. वही.
11. 'प्रकाशित मन', (हिंदी सम्मेलन अंक, दिल्ली, जनवरी 1975).
12. वही.
13. 'नवभारत टाइम्स', (जनवरी 13, 1975).
14. हिन्दुस्तान टाइम्स', (फरवरी 19, 1975).

[इसका मूल लेख 'जापान क्वाटरली' (नई दिल्ली, अप्रैल 1976, खण्ड 2, अंक 3) में अंग्रेज़ी में छपा था। उसके आधार पर प्रस्तुत लेखक ने नए सिरे से हिंदी में लिखा है।]

दक्षिण भारत में सतमाहे की रस्म और गीत

डॉ० नोरिहिको उचिदा

[प्राय: सारे भारतवर्ष में गर्भावस्था के दौरान गर्भिणी के लिए कम से कम एक रस्म पूरी की जाती है। साधारणतः उस समय गाना भी गाया जाता है। इस लेख में दक्षिण भारत में प्रचलित रस्म का वर्णन है तथा तीन गीत अनुवाद सहित दिए हुए हैं। इस रस्म के लिए दक्षिण भारत में सीमंत, वळैक्काप्पु आदि नाम है। इस निबंध में इस रस्म को "सतमाहे की रस्म" नाम दिया गया है और गाने को "सतमाहे के गीत" नाम दिया गया है, हालाँकि "सतमाहे" का शब्द दक्षिण भारत में प्रचलित नहीं है।

सतमाहे की रस्म का वर्णन लोकवार्ता संबंधी पुस्तकों और निबंधों में बहुत कम मिलता है। रस्म का वर्णन न मिलने का एक कारण यह भी है कि प्रजनन संबंधी कार्यों पर चर्चा अश्लील मानी जाती है। दूसरे, बचपन से देखते रहने के कारण भारतीयों के लिए इस रस्म में विशेष आकर्षण नहीं रह जाता। गीतों का संग्रहण न किए जाने का कारण यह भी होगा कि इन गीतों में कलात्मक सौंदर्य कम है। लेकिन मैंने गीतों को इकट्ठा करने की कोशिश की है कि ये गीत भारत की गर्भावस्था संबंधी प्रथाओं, परंपराओं, रस्मों, लोक-चिकित्सा, तथा मान्यताओं आदि पर प्रकाश डालते हैं।

तमिल और तेलुगु गीतों की व्याख्या के लिए मैं श्री टी० जानकिरामन, श्री श्रीपति (आकाशवाणी श्री ए०पी० दशरथन् नई दिल्ली में द्राविड भाषा शास्त्र संस्थान के प्रतिनिधि और प्राध्यापक इन्द्रा पार्थसारथी (दिल्ली विश्वविद्यालय) का आभारी हूँ। हिंदी भाषांतर और संशोधन के लिए जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक सत्यभूषण वर्मा तथा विद्यार्थी श्री सुशील डोवल, श्री नवाब अली वारसी, कुमारी नीरा कोंगारी, कुमारी मंजूश्री चौहान की सहायता के लिए भी आभार प्रकट करना चाहूँगा।]

1.0 सतमाहे की रस्म

1.1 रस्म और प्रसव होने की जगह

दक्षिण भारत में प्रसव मायके में होता है और उत्तर भारत में अधिकतर ससुराल में। तदनुसार उत्तर भारत में सतमाहे की रस्म ससुराल में पूरी की जाती है और दक्षिण भारत में प्रायः मायके में पूरी की जाती है। लेकिन कर्नाटक में सतमाहे की रस्म पूरी करने के बाद गर्भिणी मायके भेजी जाती है। इन दोनों परंपराओं का समझौता माना जा सकता है। यह आर्यों और द्राविडों की पुरानी समाज व्यवस्था के अंतर का द्योतक है।

1.2 रस्म पूरी करने का समय

सारे भारत में यह रस्म 7वें महीने में या 9वें महीने में, यदि संभव न हो तो 5वें महीने में पूरी की जाती है। शुभकार्यों के लिए समसंख्या पसंद नहीं की जाती है। यह कहने की ज़रूरत नहीं होगी कि भारत की परंपरा के अनुसार यह रस्म शुभ दिन और शुभ मुहूर्त देखकर पूरी की जाती है।

1.3 इस रस्म का नाम

वैदिक संस्कार के रूप में इस रस्म को सीमंत कहते हैं। दक्षिण भारत में भी यह नाम किसी हद तक प्रचलित है। लेकिन इस से अधिक लोकप्रिय नाम प्रत्येक प्रदेश में सुनने में आता है। तमिल ब्राह्मण वैदिक संस्कार को सीमंतम् और लोक रस्म को वळैक्काप्पु (चूड़ियों की रस्म) कहते हैं तथा ये दोनों रस्म पूरी की जाती हैं। ग़ैर-ब्राह्मण लोग इसको वळैक्काप्पु कहते हैं और कभी-कभी सीमंतम् भी कहते हैं। लेकिन दोनों एक ही रस्म के दो नाम हैं। उत्तर प्रदेश में इसको "सतमासा पूजन" कहते हैं और "गोद भराई" भी कहते हैं। सीमंत नाम प्रचलित नहीं है। पंजाब में इसको 'रीताँ दी रस्म" कहते हैं। बंगाल में इस को "शाध" कहते हैं और महाराष्ट्र में "ओटी भरण"। आंध्र प्रदेश में "गाजुलु तोडिगिचुट" (चूड़ियाँ पहनाना) और "सूडियलु" (उपहार) नाम प्रचलित है। "सीमंतम्" और अति-संस्कृत रूप "श्रीमंतम्" भी प्रचलित हैं, लेकिन वैदिक नाम अधिक उपयोग में नहीं आता। कर्नाटक में वैदिक नाम "सीमंत" या "श्रीमंत" शहरों में अधिक प्रचलित है और गाँव में इसे "बसिरु होसगे" यानी गर्भ का उत्सव कहते हैं। इन नामों से मालूम होता है कि इस रस्म के लिए तमिलनाडु में और आंध्र प्रदेश में चूड़ियाँ पहनाने को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है और उत्तर प्रदेश में गोद भरने को। कर्नाटक में किसी एक को एकांतिक रूप से महत्त्व नहीं दिया जाता। इसलिए इस रस्म को "बसिरु होसगे" कहते हैं।

1.4 चूड़ियाँ पहनाना

तमिलनाडु में और आंध्र प्रदेश में चूड़ियाँ पहनाना इस उत्सव का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग समझा जाता है। जहाँ तक मुझे मालूम है, उत्तर प्रदेश और पंजाब में चूड़ियाँ पहनाने की रस्म प्रचलित नहीं है। तमिल ब्राह्मणों में सबसे पहले माता नीम की टहनी की बनी हुई चूड़ी पहनती है। माना जाता है कि नीम की टहनी संक्रामक रोगों को रोकती है। कर्नाटक और महाराष्ट्र में हरे रंग की चूड़ियाँ पहनाई जाती हैं। चूड़ियाँ क्यों पहनाई जाती हैं, यह किसी को ठीक पता नहीं है। श्रीमती जे० राजलक्ष्मी (2.1) के अनुसार चूड़ियों की आवाज़ सुनकर बच्चा संतोष अनुभव करता है, लेकिन यह शायद आधुनिक व्याख्या होगी। सिर्फ़ इतना ही कहा जा सकता है कि

चूड़ियाँ सुहाग की प्रतीक समझी जाती हैं। मैसूर के लिंगायत समुदाय की एक महिला ने मुझे बताया कि पुराने जमाने में प्रत्येक महीने में एक रस्म होती थी। अब ख़र्च कम करने के लिए चूड़ियाँ सीमंत के समय पहनाई जाती हैं। इससे यह मालूम होता है कि लिंगायतों में वैदिक संस्कार में सीमंत के साथ-साथ चूड़ियाँ पहनाने की लोक रस्म भी होती थी।

1.5 गाना गाने की प्रथा

हर एक रस्म के लिए महिलाओं का गाना गाना भारत की परंपरा है। तमिल ईसाई श्रीमती बारबरा (2.2) के अनुसार वेळाळ-ईसाई लोग सतमाहे की रस्म के लिए गाना नहीं गाते। कारण दो हो सकते हैं। एक तो ईसाई लोग हिंदू रस्मों को संक्षिप्त रूप में ही पूरा करते हैं। दूसरे, तमिलनाडु में हर रस्म के लिए स्त्रियों का गाना गाना उतना प्रचलित नहीं है, जितना कर्नाटक और आंध्र प्रदेश में (2.3)।

1.6 वैदिक और ग़ैर-वैदिक परंपराएँ

सीमंत की रस्म वैदिक-संस्कारों में से एक है। वैदिक सीमंत-संस्कार का वर्णन 'Hindu Sanskars' (Raj Bali Pandey: 1969, p. 64-69) में मिलता है। यह वैदिक संस्कार संभवतः पूर्व आर्यकालिक उत्तर भारत में प्रचलित रस्मों पर आधारित है।

दक्षिण भारत में वैदिक सतमाहे की रस्म और ग़ैर-वैदिक रस्म में नीचे दिए हुए भेद देखने में आते हैं :-

1. वैदिक रस्म में पुरोहित का भाग लेना ज़रूरी है, जबकि ग़ैर-वैदिक रस्म में पुरोहित को नहीं बुलाया जाता; सुहागिनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।
2. वैदिक रस्म एक धार्मिक रस्म है, जबकि ग़ैर-वैदिक रस्म ग़ैर-धार्मिक है।
3. वैदिक रस्म में होम होता है, जबकि ग़ैर-वैदिक रस्म में नहीं।

वैदिक रस्म शास्त्र द्वारा निर्धारित होने के कारण वैदिक सीमंत को तमिल ब्राह्मण पूरा करते हैं। लेकिन किसी जाति में भी सीमंत का वैदिक संस्कार ग़ैर-वैदिक रस्म का स्थान नहीं ले सका है। फलत: दोनों का संबंध निम्नलिखित प्रकारों का हो सकता है।

1. दोनों रस्में पूरी की जाती हैं (जैसे तमिल ब्राह्मणों में)।
2. पुरोहित को बुलाकर होम या पूजा करवाते हैं, लेकिन उसमें लोक रस्मों का मिश्रण दिखाई देता है (कर्नाटक)।
3. लोक रस्म ही पूरी की जाती है (तमिलनाडु के ग़ैर-ब्राह्मणों में और आंध्र प्रदेश में)।
4. वैदिक संस्कार ही पूरा किया जाता है (केरल के नम्बूदिरी ब्राह्मणों में)।

2.0 सतमाहे की रस्म का वर्णन

नीचे दो तमिल सूचिकाओं (2.1, 2.2.) द्वारा किए गए रस्मों तथा रिवाज़ों का वर्णन प्रस्तुत है। दक्षिण भारत और उत्तर भारत के रस्म रिवाज़ों में कहीं समानता और कहीं असमानता भी पायी जाती है। समानताओं और असमानताओं के संदर्भ में उत्तर प्रदेश की वैश्य (गुप्ता) जाति की एक रस्म को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है (2.4.)।

इसके अतिरिक्त रस्म की जानकारी के लिए 'Folklore of Tamil Nadu' (Lakshmanan : 1973, P. 76) तथा 'Caste and Tribes of South India' (Thurston: 1909) आदि पुस्तकें देखी जा सकती हैं।

2.1 तमिल ब्राह्मणों में मनायी जाने वाली सतमाहे की रस्म

(श्रीमती राजलक्ष्मी (49), कोण्डपुरम्, तञ्जावूर जिला में जन्मी हुई स्मार्त्त ब्राह्मण के अनुसार)

गर्भवती होने के बाद पाँचवें या सातवें महीने की पंचमी को स्त्री को ससुराल से मायके भेज दिया जाता है। साधारणतः ससुराल से मायके भेजने की ज़िम्मेदारी स्त्री की ननद के ऊपर होती है, लेकिन ननद के न होने पर पति की चचेरी बहन आदि इस रस्म को पूरा करती हैं। इन स्त्रियों के साथ ससुर, पति का बड़ा भाई आदि भी जा सकते हैं। यह कार्य शुभ मुहर्त पर ही किया जाता है। उपहार के रूप में कोई चीज़ ले जाने की प्रथा नहीं है।

यह धार्मिक संस्कार न होने के कारण इसमें पुरोहित आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती। लकड़ी से बने हुए आसन को अल्पना से सजाकर गर्भवती स्त्री को पूर्व दिशा की ओर मुँह करके उस पर बिठाया जाता है। स्त्री को काले रंग की साड़ी पहनाई जाती है (यों तो काली साड़ी पहनने की अनुमति नहीं होती)। इसको मसक्कै करुप्पू (दोहद कालिमा) कहते हैं। स्त्री के सामने का फ़र्श एक बड़ी अल्पना से सजाया जाता है। उस पर टोकरी या दूसरे बरतन रखे जाते हैं जिनमें पचभक्षणंगळ् (पाँच प्रकार के खाद्य) रखे जाते हैं। उदाहरणतः

1. मुरुक्कु (एक प्रकार का नमकीन)
2. तेनकुषल् (एक प्रकार का नमकीन)
3. परुप्पू-तेङगाय् (चने, नारियल और गुड़ का मिश्रण)
4. लड्डू
5. कोई दूसरी चीज़

इस रस्म के लिए पहले मनिहार को बुलाया जाता है। हल्दी के चूर्ण को पानी में मिलाकर शंकु बनाया जाता है, विनायक (गणेश) पूजा से कार्य शुरू होता है। एक थाली में नीम की टहनी से बनाई हुई चूड़ी को रखा जाता है आर्थिक क्षमतानुसार सोने या चाँदी की चूड़ी भी रखी जाती है। थाली में पान, सुपारी, रोली आदि भी रखी जाती हैं। (नीम की चूड़ी रखने का रिवाज़ इसलिए है कि इससे संक्रामक रोगों का निवारण होता है)।

इस कार्य में सुहागिन स्त्रियाँ ही भाग लेती हैं। इनकी संख्या 5 होती है। पहले गर्भवती स्त्री की माता नीम की टहनी की चूड़ी गर्भवती स्त्री को पहनाती है जो कि सबसे महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। इसके बाद स्त्री की सास उसको सोने या चाँदी की चूड़ी पहनाती है। इसके पश्चात् पाँच सुहागिन मिलकर अक्षत और चंदन की लेई को स्त्री की कमर के मेरुदंड पर लगाकर थपकी देती हैं। इसके बाद स्त्री स्वजनों को प्रणाम करती है। मनिहार स्त्री के बायें हाथ में रोग़न की चूड़ी पहनाता है। इसके बाद मनिहार और अन्य स्त्रियाँ स्त्री को दूसरी किस्मों की चूड़ियाँ पहनाती हैं। चूड़ियाँ इतनी सावधानी से पहनाई जाती हैं कि वे टूटें नहीं। चूड़ियों का टूटना अपशकुन समझा जाता है। चूड़ियाँ पहनाने के बारे में लोगों के तरह-तरह के मत हैं, लेकिन इनमें से एक भी प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। श्रीमती राजलक्ष्मी के अनुसार बच्चा चूड़ियों की आवाज़ सुन कर खुश होता है।

“सीमंतम्” होने के बाद शाम को औरतें मसक्कै-प्पाट्टु (दोहद-गीत) गाकर गर्भिणी स्त्री का मनोरंजन करती हैं। यह रस्म ब्राह्मण जाति में अधिक आडंबर से मनायी जाती है। इकट्ठा हुए लोगों को जो खाना दिया जाता है, उसमें पोंगल (एक प्रकार की खिचड़ी) सबसे ज़रूरी चीज़ समझी जाती है। “सीमंत” समाप्त होने पर आम तौर पर लोग उसी दिन शाम को वापस जाते हैं। सुविधानुसार कुछ दिन बाद भी जा सकते हैं।

प्रसव के 22 वें दिन स्त्री ससुराल जा सकती है। सुविधानुसार 40 दिन के बाद या कभी दो-तीन महीने के बाद भी ससुराल जा सकती है।

दूसरा प्रसव अधिकतर ससुराल में होता है। इसलिए साधारणतः यह रस्म नहीं मनायी जाती।

2.2 तमिल वेळाळ ईसाइयों में मनायी जानेवाली सतमाहे की रस्म (5-4-1980)

(श्रीमती F बारबरा (50), ऊटी में जन्मी तिरुच्चिरपळ्ळि, तमिलनाडु की वेळाळर-रोमन कैथोलिक जाति के अनुसार)

तमिलनाडु की प्रथा के अनुसार, आम तौर पर, गर्भवती स्त्री को सातवें महीने में मायके बुलाया जाता है। एक दिन निश्चत करके स्त्री के माता-पिता दही-भात (तयिर्-सादम्), इमली का भात (पुळि सादम), नींबू का भात (ऍलुमिच्चम् सादम्), टमाटर का भात (तक्काळि सादम्), नारियल का भात (तेंगाय् सादम्), पकी हुई सूखी सब्जी, भुना हुआ गोश्त या सब्जी, लड्डू, मैसूर पाक, अतिरसम् (एक किस्म की मिठाई), वड़ा, खीर आदि लेकर उसकी ससुराल आते हैं। माँ अपने साथ लाई हुई नई साड़ी और काँच की चूड़ियाँ गर्भवती को पहनाती है। बालों में फूल गूँथकर बदन में चंदन लगाती है। इसके बाद, एक सुहागिन स्त्री (माता आदि) अपने साथ लाया हुआ नारियल, फल, पान, सुपारी, फूल, कुमकुम, हल्दी वग़ैरह उसकी साड़ी के पल्ले में डालती है। इसे “मडि कट्टुदल्” (गोद भरना) कहते हैं। इस

रस्म में रिश्तेदार भी भाग लेते हैं। यदि किसी कारणवश स्त्री को मायके न लाया जा सके, तो उसे गिरजे में अथवा घर के बाहर ले जाया जाता है।

2.3 उत्तर प्रदेश के वैश्यों में मनायी जाने वाली सतमाहे की रस्म (20-1-1979)

(श्रीमती कमला गुप्ता (25) इलाहाबाद निवासी के 16 जुलाई 1980 को दी हुई जानकारी के अनुसार)

सात महीने पूरे होने के पश्चात् आठवां शुरू होने पर ससुराल में "सतमासा पूजन" नाम की पूजा होती है। नाइन या ससुराल की महिलाएँ आटे से आँगन में चौक पूर कर पटला बिछाकर पति-पत्नी को बिठाती हैं। दोनों का मुँह पूर्व की ओर होना चाहिए। इस पूजा के लिए पंडित बुलाया जाता है।

पंडित द्वारा हवन आदि होता है। इस पूजा के लिए बहू जो कपड़े पहनती है, वो सब मायके से आते हैं। इसके अतिरिक्त सभी रिश्तेदार बहू को कपड़ा देते हैं।

पूजा के बाद पंडित बहू की गोद मायके से आए हुए नारियल, फल, मेवा, मिठाई आदि से भरते हैं। पूजा के बाद सुहागिनें गाना गाती हैं। उस समय सोहर के गाने गाये जाते हैं। उसके बाद भोज होता है। इस अवसर पर गाया जाने वाला सोहर का गीत नीचे दिया हुआ है। (16-1-1980)

"ननदिया आज छम-छम नाचे
ये राजा मेरे माथे की बिंदिया भारी
ननदिया आज उसको माँगे

जो बहना मेरी माँगे मना मत करना
समय ऐसा न रोज़ आए

ननदिया आज छम-छम नाचे
ये राजा मेरे कानों के कुंडल भारी
ननदिया आज इसको माँगे

जो बहना मेरी माँगे मना मत करना
समय ऐसा न रोज़ आए

ननदिया आज छम-छम नाचे
ये राजा मेरे गले का हरवा भारी
ननदिया आज उसको माँगे

जो बहना मेरी माँगे मना मत करना
समय ऐसा न रोज़ आए

ननदिया आज छम-छम नाचे
ये राजा मेरे हाथों के कंगन भारी
ननदिया आज उसको माँगे

जो बहना मेरी माँगे मना मत करना
समय ऐसा न रोज़ आए

ननदिया आज छम-छम नाचे
ये राजा मेरे पैरों के पायल भारी
ननदिया आज उसको माँगे

जो बहना मेरी माँगे मना मत करना
समय ऐसा न रोज़ आए

ननदिया आज छम-छम नाचे

3.0 सतमाहे के गीत

3.1 गीतों के विषय

दक्षिण भारत में प्रचलित सतमाहे के गीतों के विषय निम्नलिखित हैं :-

(क) गर्भावस्था का वर्णन

गर्भावस्था के वर्णन में प्रत्येक पंक्ति "पहले महीने में.... दूसरे महीने में...." ऐसे शब्दों से आरंभ होती है। सतमाहे की रस्म में उपस्थित स्त्रियाँ इस प्रकार के गीत गाकर खुशियाँ मनाती है। ऐसे अवसर पर गीत गाने का कार्य सिर्फ़ खुशियाँ मनाना नहीं है। आधुनिक युग में "गर्भधारण से प्रसव तक" आदि शीर्षक को अनेक पुस्तक छप चुकी हैं और ऐसी पुस्तकों के द्वारा गर्भवती स्त्रियाँ स्वयं ही सभी आवश्यक बातों से भली-भाँति परिचित हो जाती हैं। पुराने समय में स्त्रियाँ, जो अधिकतर निरक्षर होती थीं, गीतों के माध्यम से गर्भावस्था संबंधी रस्मों और उपचार आदि का ज्ञान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाती थी।

(ख) गर्भिणी की आवश्यकताओं का वर्णन

इस प्रकार के गीतों में हर पंक्ति के अंत में "चाहिए" शब्द आता है। इस प्रकार के गीतों में गर्भिणी बताती है कि उसकी क्या-क्या आवश्यकताएँ हैं। इस प्रकार के गीत गाने का कार्य भी

खुशियाँ मनाने के साथ-साथ स्त्रियों को यह अवगत कराना है कि गर्भिणी को किन-किन चीज़ों की आवश्यकता होती है और उसका उपचार कैसे करना चाहिये। कलात्मक दृष्टि से इस श्रेणी के गीतों में कोई आकर्षण नहीं होता।

(ग) खुशी के गीत

इस प्रकार के गीत आंध्र प्रदेश में अधिक प्रचलित हैं। इन गीतों में गर्भवती स्त्री के सगे-संबंधियों में से कुछ सुहागिन मिलकर एक दूसरे से ये कहती हैं कि "चलो गर्भवती स्त्री के पास चलें" और साथ ही इसमें गर्भवती स्त्री के रंग-रूप को प्रशंसा करती हैं और "लायक लड़का पैदा हो" इस प्रकार का आशीर्वाद भी देती हैं। इस श्रेणी के गीतों में कलात्मक सौंदर्य की संभावना अधिक रहती है।

(घ) भक्ति

दक्षिण भारत में लोकगीतों को भक्ति गीतों का रूप देने की प्रवृत्ति मिलती है। उदाहरणतः लोरी गीत में बच्चे को भगवान कृष्ण समझकर उसके गुणों का वर्णन किया जाता है। इस रीति के अनुसार गीत (4.2.) में दंपति ने अच्युत से पुत्र के लिए प्रार्थना की और भगवान ने उनकी कामना पूरी की। गीत (4.3) में गर्भिणी को सीता समझकर उसका वर्णन किया गया है।

दक्षिण भारत में उपर्युक्त विषयों में से एक या दो को लेकर सतमाहे का गीत गाया जाता है।

3.2 दक्षिण भारत में सतमाहे के गीतों की परंपरा

महिलाओं का हर एक रस्म में गीत गाना भारत में व्यापक रूप से प्रचलित है। ऐसे गीत गाने वाली स्त्रियाँ आंध्र प्रदेश और कर्नाटक में अधिकतर मिलती है। तमिलनाडु और केरल में स्थिति कुछ और है। ग़ैर-ब्राह्मण जातियों में रस्म के लिए गीत गाने वाली स्त्रियाँ मुश्किल से मिलती हैं। कारण यह हो सकता है कि अंग्रेज़ों का राज दक्षिण भारत में सबसे पहले तमिलनाडु से शुरू हुआ था और केरल शिक्षा में सबसे आगे है। इन कारणों से इन दोनों प्रदेशों में पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा है। फलत: गाने की रीति समाप्त हो गई है। लेकिन यह सिद्धांत गलत लगता है, क्योंकि विदेशी संस्कृति का प्रभाव सबसे ज़्यादा शिक्षित वर्ग पर पड़ना चाहिये। लेकिन तमिलनाडु और केरल दूसरी जातियों को अपेक्षा ब्राह्मणों में सबसे अधिक रस्मों के गीत गाये जाते हैं। इसलिए मालूम होता है कि हर एक रस्म के लिए गीत गाने की रस्म, जो भारतीय लोक संस्कृति की मुख्य धारा है, तमिलनाडु में ग़ैर-ब्राह्मण जातियों में जड़ नहीं पकड़ सकी है।

4.0 सतमाहे के तीन गीत

41. दोहद गीत (तिरुनेलवेलि जिला तमिलनाडु से)

श्रीमती जे० सरस्वती, ब्राह्मण जातीय ग्राम शिवगिरि की स्तलिखित पुस्तिका से आभार :-

मचक्कैप् पाट्टु

कोवैप्पष-निरत्तारे
कुयिल मोषियाळे-एन्दन्
अन्न मो षि याळे-उन्दन्
अडि वयिरिल तान् एन्न?

वेण वेण बाग्गियगळ्
विद विदमाय नान् तरुवेन्ज
उरुक उरुक को रु को प्पारै
वेन्नीरुम् वेणुम्
आरिन पिरॅ पाडु अरै त्तवलै वेणुम् -

तवले रोम्प चादम्वे णुम्मा
ताकम् तण्णीर वेणुम्
एट्टोड तयिर् वेणुम्
इञ्जि ऊरुंकाय वेणुम्

इन्बमान चादत्तुक्कोर्
ऐलुमिच्चंकाय वेणुम्
नयमान चात्तुको रु
नार्तङ काय वेणुम्
पुळिक्काद चात्तुक्को रु
पच्चै माङ गाय् वेणुम्म्

ऐण्णे यप् पषयदुक्कु
मोळकायप्पो डि वेणुम्
चुडच् चुडत् तोचै वेणुम्
चुण्डेक्काय वेणुम्

चुक्कु मिळकु पोट्ट
इट्टलियुम् वेणुम्
अरुवरुत्त नाक्कुक्को रु
अळ्ळु चीडै वेणुम्

विरु विरुत्त नाक्कुक्को रु
वेल्लच् चीडै वेणुम्
पोक वरत् तिङ ग
पो रिकडले वेणुम्
पोरिच्चच करि वेणुम्
वाषै क्कायप् पो रित्तूवल्[1]
वकै वकयाय वेणुम्
पोरि विळङ गाय् वेणुम्
वेळ्ळरिक्कायप् पोडित्तूवल्
विदमाक वेणुम्
करुणैक् किषङ गिले ओरु वीचै वेणुम्।
पाळ् रोम्बच् चेतदो रु
पायचम् वेणुम्मा
परुप्परुचि पोङ्गल वेणुम्
पच्चैप पुळि वेणुम्
इलैयिले चादिक्क तेङगायुम् वेणुम्
ऐडुत्तुच चादिक्क ओ रु एत्त तङगै वेणुम्
नालु नाळ नाळेक को रु
एण्णेय मुरै वेणुम्
नयमाकत तेयत्तु विड नात्तनार वेणमा
एटु नाळ नाळेक को रु
एण्णे य् मुरै वेणुम
इन्बमायत तेयत्तु विडत् तायारुम् वेणुम्
पिचुक्कुत् तलै तेयत्तु विड
चिरु तायार् वेणुम्
मञ्जळ अरैस्तु वैनक
मदिनि ओं रुचि वेणुम्

इत्तनैयुम् चें यदु तर
एत्त तङगै वेणुम्
200 पवुन् तारेन्
वेण्डियदैच् चे यदु कोळळ
एलेलो....... एलेलो......... एलेलो

1. मूल में - हंस जैसी बोलने वाली।

दोहद-गीत

कुंदरू जैसे रंग वाली
कोकिल जैसी बोलने वाली
हंस जैसी चलने वाली
तेरे पेट में क्या है?

जितनी भी चीजें चाहे तू
दूंगा वो सब तरह तरह की
मेरे को हंडा भर गरम गरम पानी चाहिये
ठंडा होने पर आधा घड़ा और चाहिये।

मूल में-हंस जैसी बोलने वाली
मेरे को घड़ा भर भात चाहिये
और पीने का पानी भी
मेरे को ठोस दही चाहिये
और अदरक का अचार भी

मीठे भात के साथ
नीबू का अचार चाहिये
अच्छे पके भात के साथ
गलगल का अचार चाहिये
ताजे पके भात के साथ
कच्चे आम का अचार चाहिए

और गरम दोसे के साथ
पिसी लाल मिर्च चाहिये
बासी भात, तिल के तेल के साथ
सुडाइ[1] फल चाहिये

सोंठ और काली मिर्च के साथ
मेरे को इडली भी चाहिये
स्वाद माँगती जीभ को
चुल्लू भर सीडाइ[2] चाहिये।

स्वाद चाहती जीभ को
गुड़ की भी सीडाइ[2] चाहिये
कभी कभी खाने को
लाई और चना चाहिये।

भुना हुआ माँस चाहिये
और तले केले भी
तरह-तरह के चाहिये
खीरे की भाजी भी
तरह-तरह की चाहिये

पसेरी भर जिमीकन्द चाहिये
खूब दूध वाली खीर चाहिये
दाल और चावल की खिचड़ी चाहिये
कच्ची इमली चाहिए।

पत्ते पर परोसने को नारियल चाहिये
परोसने के लिए छोटी बहन चाहिये
हर चौथे दिन में मालिश चाहिये।
अच्छी तरह रगड़ दे, ऐसी ननद चाहिये

हर आठवें दिन तेल से नहलाना चाहिये
और प्यार से रगड़ दे वह माँ भी चाहिये
तेल से चिकने माथे को
रगड़ने को छोटी मौसी चाहिये।

हल्दी पीस के रखने को
मेरे को भाभी चाहिये
ये सब करने के लिए
एक लायक छोटी बहन चाहिये

दो सौ तोला सोना दूंगा
इसी में तू जो चाहे कर ले
एलेलो एलेलो एलेलो......[3]

1. एक छोटा फल जिसे सुखा कर, तलकर खाते हैं।
2. पिसे हुए चावल से बना हुआ छोटा गोल नमकीन।
3. गाना खत्म होने के बाद एक तरह का आलाप।

4.2. सीमंत गीत (तंजावूर जिला, तमिलनाडु से)

श्रीमती ज्ञानसुंदरी, ब्राह्मण जातीय, ग्राम इञ्जिक्कोल्ले के मेरे लिए टेप हुए गीतों के सौजन्य से :-

चीमंत-पाट्टु

पार् पुकष म् चिम्माचनपतियै नाडिनार्
रामदारै मादवरै तीत माडिनार्
अर्चनैगळ् अन्नपाकम् चे यदु मकिष न्दार्
अच्चुतन् तिरुवडियै पणिन्दु पुकष न्दार्
शमला दम्पत्तिगळ इरुपेरुम चन्नदि चे यदु
नळळ चन्तति अरुळुम्एन्हें वेण्डिये निन्र्
अर्चकर् मूलमाय् नरचिम्मनुम् अप्पो
पदलवन् अरित्तेन् एन्रु तिरुवाक्कुरत्तार
अन्रु मूदळ गब्ब माकि अषकुमेनियाळ
मादम् मून्हें चेन्लॅदुमे मचक्कैयु मानाळ

लडड लाड पेनि काजा कचक्किर देन्बळ
ओटट माङगनि कटिट वेल्लम पळिकरदे बळ
अन्नवाडे आडैत्तयिर् आकादु एन्बळ्
मिा मिन्नल का डि पाल् तुवण्डु मान वळुत्ताळनान्गु मादम्
आन वुडन् मचक्कै तेळिन्दु नलमान वटचणङ गळ नाडि पूचित्ताळ
तन्दै आत्तिळ् विन्दैयाक व काप्पु चे याळ
अञ्जु वकै बट्चमुम् चीरुम् एडुत्तार
मल्लिकै मो टु पुडवै मामियार् वाङि ग
वेल्लियै मणैयिल् वैत्त पूवुम चूट्टिनाळ
ऐन्दाम् मादम् अत्तै पाट्टि आत्त क्कर्ष त्तु
को जि आबरणम् पूट्टि चूल विरुन्दिट्टार्
ऐट्टाम् मादम् पिरन्दवुडन् चीमंतम् चेयदार
वेण पेरुक्कु वेण्डिय दानंगळ् चेय्दार
ईरैन्दु मादङ ळुम् पूर्णमा किए।
पारोर पुकष नल्ल बालन् पिदान्
वारि एडुत्त म् अबाळ मार्बु डन् अणैत्तु
मदिमुकत्तै मुत्तमि? मकिष च्चि यानार्कळ्
आरिरारो........... आरिरारो.......

1. नामदारि?
2. वेण-वेण्डिय।

सीमंत-गीत

जाकर जग-पूजित सिंहासन पति में
दंपत्ति ने त्रिपुंडधारी माधव अभिषेक किया।
अर्चना नैवेद्य चढ़ा सुख से
अच्युत के पाँव पखार लिए।

दोनों ने तब विष्णु से
करी सुपुत्र की एक कामना
कहलाया विप्र से नरसिंह ने
होगी पूरी तेरी कामना
हुआ गर्भ उसी दिन सुंदरी को।

होते ही पूरा तीसरा महीना, उसका जी मिचलाया
लड्डू, फेनी, खाजे को भी कड़वा पाया
कलमी आम और गुड़ को भी खट्टा पाया
दही, भात भी उसको बिल्कुल रास न आया
चंचल, कोमल बदन पे उसके पीलापन था छाया

चौथा महीना शुरू हुआ, और जी भी उसका ठीक हुआ।
तब अच्छे पकवान उसने माँग-माँग कर खाए
और मायके वालों ने फिर उसकी गोद भराई।
मिले पकवान पाँच तरह के, साथ मिले उपहार

बिठाया सास ने चौकी पर,
पहनाई साड़ी मल्लिका के अंकुर की
और सजाया फूलों से फिर बालों को

हुआ शुरू फिर पाँचवा महीना,
दादी, चाची ने बुलवाया घर को
प्यार से पहनाने को गहने
और खाना खिलवाने को।
आठवें माह हवन कराया
और खुले हाथ से दान दिया

हुए जब पूरे महीने दस
सर्वगुण संपन्न बालक जन्मा
सबने उसे सीने से लगाया
चंदा-मुख को चूम लिया
आरिरारो.... आरिरारो.....[1]

1. गाना खत्म होने के बाद एक तरह का आलाप।

4.3 सीमंत-गीत (पश्चिम गोदावरी जिला आँध्र प्रदेश से)

श्रीमती मद्दारि वेंकट रमणम्मा (76), नियोगी ब्राह्मण जातीय, ग्राम ताडिमळ्ळ, जिला पश्चिम गोदावरी ने इस गीत को अपनी पुत्री अ० छायादेवी, उप-ग्रन्थालयाध्यक्ष, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के माध्यम से अप्रैल, 1980 में मुझे पहुँचाया :-

श्रीमंतम् पाट

श्री जानकी देवि श्रीमन्तनरे
महालक्ष्मी सुंदर बदनमु गनरे
पन्नीरु गन्धमु चेलि पैन चिलकिञ्च
कानुकलु कट्नालु चदिविञ्चरम्मा
मल्ले मोल्ला सरुल सति जडलो सवरञ्चि
शाग येल्ला वेडकलन चेयिञ्चरम्मा ॥ श्री ॥

कुलुकुचुन्न कलिकोनि तिलकिञ्चि।
अलुक चेन्दनीक अत्तरिञ्चरम्मा
कुलमेंल्ल दीपिञ्च को मरूनि कनुमनुचु
ये ल्ला मुत्त दूलु दीविञ्चरम्मा
श्री जानकी देवि श्रीमन्त वनरे ॥

सीमंत-गीत

आओ मिलकर गाएँ, जानकी देवी का सीमंत-गीत
आओ मिलकर देखें मुखड़ा, सुंदर महालक्ष्मी का
सर पर छिड़कें उसके, पानी गुलाब और चंदन का
बहनों आओ, करवाएँ घोषणा उपहारों की

आओ सजाएँ उसके बालों को, मल्लिका के फूलों से
और करें फिर उसके संग, हम सब छेड़-छाड़
इठलाती हुई स्त्री को-
इच्छा पूरा करक प्रसन्न करो

ये कह कर आशीष दो बहनो
जन्मो ऐसे बालक को
जो करे नाम ऊँचा इस कुल का
आओ मिलकर गाएँ सीमंत जानकी देवी का।

संदर्भ पुस्तकें

1. Lakshmanan Chettiar, S.M.L.: Folklore of Tamil Nadu, National Book Trust, New Delhi 1973, p. 76 (xi+208 pp.).
2. Pandey, Raj Bali: Hindu Samskāras Motilal Banarsidass, Delhi 1969, p. 64-69 (xxvi+237 pp.).
3. Thurston: Castes and Tribes of South India, 7, vols. Madras 1909.
4. यादव, शंकरलाल : 'हरियाणा प्रदेश का लोक साहित्य', हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद सं० 2017, p. 127-128 (499 pp.).

हजारीप्रसाद द्विवेदी का उपन्यास "बाणभट्ट की आत्मकथा" एक विवेचन

यूसुके ओहिरा

[सूचना : प्रस्तुत निबंध के वाक्यों के नीचे कोष्ठक में जो पृष्ठ संख्या दी गई है वह पाठ्य पुस्तक के लिए मैंने 'राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1974 दसवीं आवृत्ति' का प्रयोग किया है।]

जापान के जिस वातावरण में मेरा जन्म और संस्कार हुआ था, उसमें मैं अभाव भाव का अनुभव कर रहा था– 'किसी का अभाव है'। उसे 'एबसर्डिटी ऑफ़ लाइफ' कहें या अनास्था कहें, मैं सचमुच निराश और निरुत्साहित होकर इधर-उधर की किताबें पढ़ता रहता था। जिन दिनों मैं हिंदी बी०ए० के तीसरे वर्ष में पढ़ रहा था, उन दिनों मुझे 'बाणभट्ट की आत्मकथा' पढ़ने का अवसर मिला। पढ़कर आश्चर्य हुआ कि इसमें ऐसी कोई चीज़ है जिसे आजकल हमने खो दिया है। मैंने उस समय तक इस प्रकार कहने वाले बुड्ढे को कभी नहीं देखा था कि 'सौ बात क्यों जानता फिरता है? एक को समझ और उसी को कर।' मैं द्विवेदी जी की रचनाओं को एक-एक करके पढ़ने लगा। पहले ललित निबंध, फिर उपन्यास और डेढ़ साल पहले यहाँ आने के बाद मैंने उनके शोध कार्यों को भी पढ़ना शुरू किया। उनके प्रकांड पांडित्य में कवित्व का आभास है। फक्कड़पन में आत्मीयता का भाव है। और स्वभाव कितना भोला है! जैसा, ज्ञानी तपस्वी 'रैक्व' भी अपनी पीठ में सनसनाहट महसूस करता है और वह प्राय: खुजलाता रहता है वैसे मेरे मन में जो अभाव का भाव था उसकी पूर्ति उन्हीं की रचनाओं से मिल गई। इसलिए मैं बड़ी प्रसन्नता के साथ इसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना चाहूँगा कि मुझे केंद्रीय हिंदी संस्थान, दिल्ली में पढ़ने का सौभाग्य मिला और इस विषय पर लिखने की अनुमति दी गई।

मैं डॉ० कृष्ण कुमार गोस्वामी का आभारी हूँ, जिन्होंने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' संबंधी विषय पर अनेक बहुमूल्य सुझाव दिए और मेरी पांडुलिपि में आदि से अंत तक मनोयोग पूर्वक पढ़कर सुधार किए।

अंत में, पिछले साल 19 मई को द्विवेदी जी का निधन इसी दिल्ली में हुआ। श्रद्धांजलि।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' का स्वरूप

'बाणभट्ट की आत्मकथा' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रथम उपन्यास है। यह प्रारंभ में 'विशाल भारत' के जनवरी अंक, 1943 ई० से छपना शुरू हुआ था।[1] बाद में, 1946 ई० में इसे पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया।

इस कृति के बारे में उन्होंने स्वयं कहा है कि जब वे शांतिनिकेतन में प्राचीन भारत के कला-विनोद रस का अध्ययन कर रहे थे, तब वे इस प्रकार के शोधकार्य से ऊब गए थे। इसलिए उन्होंने सोचा कि इसी विषय पर अब एक गप बनायी जाए। उनकी यह गप ‘बाणभट्ट की आत्मकथा’ के नाम से आई। उनके लिए अपने उपन्यास ‘शुद्ध गप’ है और ज्ञान को अधिक उपभोग्य बनाना साहित्य है।[2]

जिन दिनों द्विवेदी जी यह उपन्यास लिख रहे थे, उन दिनों द्वितीय महायुद्ध हो रहा था। इसका संकेत उपन्यास के कथामुख में ‘दीदी’ के पत्र से स्पष्ट मिलता है। वैसे तो उनके प्रति कभी-कभी ऐसी आलोचना सुनने को मिलती है कि वे प्राचीन काल के इतिहास में डूबे हुए हैं। यह उनकी एक तरह की पलायनवादी प्रवृत्ति है। इस तरह की आलोचना छायावादी कवियों के संबंध में भी कभी-कभी सुनाई देती है। वास्तव में ऐसा नहीं है। कुछ आलोचक अभिव्यक्ति की कठिनता, विषय की प्राचीनता आदि को देखते हैं, लेकिन वे अभिव्यक्ति की प्रासंगिकता अर्थात् उपयुक्त स्थान पर शब्दों का सही प्रयोग और विषय की नई दृष्टि की ओर ध्यान नहीं देते। अतः इस प्रकार का वक़्तव्य देने से पहले द्विवेदी जी की ‘आत्मा की पुकार’ सुननी चाहिए, जैसे ‘जाहा घटे ताहो सब सत्य नहे!’[3]

इस उपन्यास के लिए ‘आत्मकथा’ शब्द का जो प्रयोग किया गया है उससे कई ग़लतफ़हमियाँ हुई हैं। ‘बाणभट्ट की आत्मकथा’ वास्तव में बाण द्वारा स्वयं लिखी गई ‘ऑटोबायग्राफ़ी’ नहीं है। ‘आत्मकथा’ शब्द से दो अर्थ निकलते हैं। एक ‘ऑटोबायोग्राफ़ी’ अर्थात् अपने जीवन पर, अपने आप लिखी गई जीवनी। इसे एक औपन्यासिक कला या शैली के रूप में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। किसी रचना का वर्णन प्रथम पुरुष के रूप में करना इस शैली की पहचान है। दूसरी, आत्मा की कथा, अर्थात् किसी व्यक्ति के मन में किसी विषय पर कुछ अभिव्यक्ति करने को प्रबल इच्छा हो उसी को आध्यात्मिक या मानसिक रूप देकर अभिव्यक्त करना। जिस काल में और जिस स्थान पर यह उपन्यास लिखा जा रहा था उसके थथार्थ से चाहे उपन्यास के यथार्थ का संबंध अधिक दिखाई नहीं देता हो, परंतु उसकी कोई परवाह नहीं है, लेखक का उद्देश्य तो पाठक तक ठीक पहुँच जाता है। यह पद्धति काव्य के क्षेत्र में कहीं नहीं है। यह यह पद्धति ज़रा ‘पूर्वदीप्ति पद्धति से मिलती है, लेकिन उद्देश्य अलग है।[4] उक्त बातों की पुष्टि ‘प्रूस्त’[5] की ‘चेतना की धारा’ (Stream of consciousness) में मिल जाती है। प्रूस्त के मतानुसार यथार्थता केवल प्रत्यक्ष यथार्थ का बिंब नहीं है। जब आदमी मन ही मन सोचता है या जब किसी वस्तु का अनुभव करता है तब वह न तो व्याकरणिक ढंग से, न तार्किक ढंग से सोचता है और न ही पूर्ण वाक्य के रूप में अनुभव करता है। आदमी किन्हीं यादों के साहचर्य (association) के द्वारा सोचता है और व्यक्ति विशेष के रूप में हो अनुभव करता है। दूसरे शब्दों में ऐसा कहा जा सकता है कि साहित्यकार जब यथार्थ को अपने आप में समेटता है और उस यथार्थ को अपनी ओर से अभिव्यक्ति देने का प्रयास करता

है, तब वह अपने अंतर में समाहित यथार्थ को विषय के केंद्र बिंदु के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करता है।

इस प्रकार के यथार्थ का संकेत इस उपन्यास में मिल जाता है। इसमें यथार्थ का जो चित्रण किया गया है। ऐसा लगता है कि उसका 1943 ई० के महायुद्धकालीन यथार्थ से कोई संबंध नहीं है। शायद कुछ आलोचकों ने ऐसा सोचा भी कि द्विवेदी जी इस संकट के समय कैसी इधर-उधर की कथा सुना रहे हैं या क्या यह सचमुच बाणभट्ट की आत्मकथा है? और कुछ आलोचकों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि यह एकदम बेकार गप है। अगर हम इस उपन्यास को ध्यान से पढ़ें, तो द्विवेदी जी का जो विचार था और विचारने की जो प्रक्रिया थी, उसका अनुमान हम आसानी से लगा सकते हैं। हमारे विचार में शायद द्विवेदी जी ने ऐसा सोचा हो कि समाज में क्या हो रहा है, सो मैं क्या देख रहा हूँ? ततः किम्?[6] हाय हाय रे, ये सारे वीभत्स दृश्य मुझसे नहीं देखे जाते। मुझे अनेक गुरुजनों की आत्माओं की पुकार सुनाई दे रही है। हम उनसे बहुत सीख सकते हैं। बाणभट्ट उस संक्रांति काल में कवि की दूरदर्शिता से संसार को देख रहे थे। उन्होंने क्या-क्या देखा होगा, कैसा अनुभव किया होगा और क्या-क्या सोचा होगा? इन प्रश्नों पर मैं क्या कहता, अगर मैं उस समय के समाज में रह रहा होता? क्योंकि मुझे इस महायुद्धकालीन समाज से बहुत कुछ कहना है...। यही कारण है कि द्विवेदी जी ने तत्कालीन समाज का अप्रत्यक्ष रूप से चित्रण करने के लिए बाण के नाम की 'गप' मारी।

उन्होंने 'आत्मकथा' के अभिनय प्रयोग के साथ इस उपन्यास का अद्भुत ढाँचा खड़ा किया है। उपन्यास के कथामुख में व्योमकेश शास्त्री उर्फ़ द्विवेदी जी ऐसा लिखते हैं जैसे 'दीदी' एक दिन शोणनद की यात्रा करके एक सामग्री लिए यहाँ (शायद शांतिनिकेतन हो) लौट आयीं। यही सामग्री 'बाणभट्ट की आत्मकथा' थी। दीदी ने उसका हिंदी में अनुवाद किया और व्योमकेश शास्त्री ने फ़ुटनोट में पुस्तकों के हवाले दिए। केवल यही नहीं, अगर हम इस उपन्यास का 'उपसंहार' पढ़ें तो हमें ऐसा लगता है कि मानो 'दीदी' ने इस कथा की रचना की हो। इस प्रकार इस उपन्यास में कई प्रकार के कल्पनापूर्ण ढाँचे दिखाई देते हैं। (1) बाणभट्ट ने इस आत्मकथा की रचना की और दीदी ने उसका अनुवाद किया। (2) दीदी ने बाणभट्ट की आत्मा की पुकार सुनकर इस कथा की रचना की। (3) व्योमकेश शास्त्री और दीदी मानो उस समय के वास्तविक व्यक्ति हों।

यह उपन्यास उत्तम पुरुष में लिखा गया है। ऐसा लगता है मानो जैसे-जैसे घटनाएँ आगे बढ़ती जाती हैं, वैसे-वैसे 'बाणभट्ट' उन्हें लिपिबद्ध करता जा रहा हो। जब भी 'बाण' के मन में किसी वस्तु के साहचर्य के द्वारा कोई याद आती है, वह उन सबको लिख लेता है। द्विवेदी जी ने जानबूझ कर बाण की कथा आख्यायिका शैली में लिखी है, ताकि पाठकों को ऐसा लगे कि 'आत्मकथा' बाणभट्ट ने सचमुच स्वयं लिखी हो। फलस्वरूप इस उपन्यास में तत्सम शब्दों का प्राधान्य, समास का बाहुल्य, बाण के चाक्षुष्य वस्तु संबंधी चित्रण के आधिक्य के

समान प्रकृति, मुखाकृति और वस्त्रालंकार आदि का सविस्तार चित्रण आदि शैलीगत विशेषताएँ आ गई हैं। इसके अतिरिक्त तत्कालीन धार्मिक अनुष्ठानों और कई त्यौहारों का वर्णन भी सविस्तार किया गया है। कुछ आलोचकों का आरोप है कि उपर्युक्त शैली कथा के प्रवाह और शब्दार्थ की बोधगम्यता के लिए बाधक हो गई है। लेकिन प्रकृति चित्रण आदि के लिए संस्कृतनिष्ठ समास प्रधान शैली; अघोर भैरव के संवाद के लिए फक्कड़ानो शैली; महामाया, लोरिकदेव और विग्रह वर्मा के संवाद के लिए ओजस्विनी शैली आदि उपन्यास में विषयानुकूल शैलियाँ मिलती हैं। वास्तव में, हर्षकालीन वातावरण का पुनर्निर्माण करने और इस रचना को बाणभट्ट की बायोग्राफ़ी का रूप देने के लिए इस प्रकार की शैली की आवश्यकता थी। इसलिए उपर्युक्त आरोप चाहे किसी हद तक सही भी हो, किंतु उनसे पूर्ण रूप से सहमत नहीं हुआ जा सकता।

इस उपन्यास में मुख्यकथा के बीच कई यादें, कई प्रासंगिक कथाएँ और प्रकृति के काव्यात्मक वर्णन कई जगहों पर सविस्तार दिए गए हैं। लेकिन ये याद रूपी कथाएँ 'बाण' के चेतना-पट पर सुव्यवस्थित रूप में पिरोयी हुई हैं। बाण के चेतना-पट पर जो भी बातें उभरीं, उनके द्वारा हम इस उपन्यास के मेरुदंड को देख सकते हैं।

इस उपन्यास में पात्रों की मनोवृत्ति भावुक के रूप में दिखाई देती है। पात्र यथार्थ की व्याख्या अपनी ओर से अपने आप करने का प्रयास कर रहे हैं और वे निरंतर बदली जाने वाली व्यवस्थाओं के प्रति ऐसे तत्वों एवं मूल्यों की खोज कर रहे हैं, जो कम से कम हों लेकिन अत्यावश्यक हो। इनको निश्चित करना पाठकों का कार्य है। लेखक अपनी ओर से कोई निश्चित प्रस्ताव नहीं रखता। दूसरे शब्दों में, ऐसा कहा जा सकता है कि लेखक ने इस पर अधिक बल नहीं दिया है कि पात्रों ने किस प्रकार व्यवहार किया? लेकिन लेखक का ध्यान इसी बात पर हमेशा केंद्रित रहा है कि एक व्यक्ति यथार्थ की ओर किस प्रकार आकर्षित हुआ? उसने किस प्रकार सोचा? किस प्रकार दूसरे लोगों के विचारों को अपनाया? लेखक के द्वारा चित्रित पात्रों का चारित्रिक विकास आंतरिक उपकरणमूलक है अर्थात् लेखक ने अपने पात्रों के चरित्र का विकास पात्र के भीतर के स्वाभाविक अंकुर के विशेष गुण को नियमित्त बनाकर किया है।[7] इसलिए हम पात्रों के व्यक्तित्व या विचार की स्थापन प्रक्रिया को स्पष्ट देख सकते हैं।

लेखक ने जिन पात्रों का निर्माण किया है, उनमें से निपुणिका, महामाया और अघोर भैरव का चरित्र-चित्रण सबसे अधिक चित्ताकर्षक प्रतीत होता है। निपुणिका और उसके प्रेम की आध्यात्मिकता की ओर ऊँचा उठाने के प्रयास में काव्यात्मक सत्य का बोध होता है। उसका मृत्यु पर्यंत चारित्रिक विकास स्वाभाविक रूप से हुआ है। इसलिए, पाठक उससे आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकता।

महामाया की मनोव्यथा स्वयं शक्ति स्वरूपा है। अपनी लंबी तपस्या-साधना के बावजूद वह माया से मुक्त नहीं है और अपने अतीत से भी मुक्त नहीं है। लेकिन जो उसने जनता के

समीप जाकर जन शक्ति के संगठन की अपील की है, वह उसकी मनोव्यथा का प्रतिफल है। जब वह अपनी मनोव्यथा के है साथ अपने आपको जनता-रूपी नर-देवता के चरणों पर समर्पित किया, तब वह महामाया स्वरूपा दिखाई देती है।

अघोर भैरव के चरित्र-चित्रण में चारित्रिक विकास अधिक नहीं दिखाया गया लेकिन अपने विशिष्ट व्यक्तिव्व के कारण उसका चित्र पाठकों के सामने उभर कर आता है। उपर्युक्त तीनों पात्रों की तुलना में बाणभट्ट का चरित्र-चित्रण इतना सशक्त नहीं हुआ है। अगर निष्पक्ष भाव से देखा जाए तो उसकी भूमिका एक नाटक के सूत्रधार के रूप में रह गई है।

प्रश्न उठता है कि इस उपन्यास को किस प्रकार का उपन्यास माना जाए? इस उपन्यास की कथा का समय हर्ष के शासनकाल का है तथा इस उपन्यास के पात्रों का अधिकतर संबंध ऐतिहासिक परिस्थितियों से है। इसलिए इस उपन्यास को ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है। लेकिन इस उपन्यास में इतिहास सम्मत पात्रों और ऐतिहासिक तथ्यों की अपेक्षा लेखक की कल्पना अधिक दिखाई देती है। लेखक ने ऐतिहासिकता के आँचल में कल्पना को उड़ेल कर उसे मनोहर रूप प्रदान किया है।

कल्पना के प्राबल्य के कारण इस उपन्यास को रोमांस भी कहा जा सकता है।[8] अत: 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को एक 'ऐतिहासिक रोमांस' कहा जा सकता है।

इस प्रकार इतिहास एवं मिथक, यथार्थ एवं कल्पना, पांडित्य एवं कवित्व और शब्द एवं अर्थ का सुंदर संयोजन इस उपन्यास में दिखाई देता है। इस उपन्यास में द्विवेदी जी ने साहचर्य द्वारा प्रतिपादित स्मरणों का अंतर्ग्रथन कर मूल्यों का जो संघर्ष दिखाया है, वह कल्पना को नई स्फूर्ति और शक्ति देने में समर्थ है। उन्होंने बिखरे हुए सूत्रों का ताल-मेल जिस कुशलता से बिठाया है, वह उनके सुप्त कवित्व के भावतंत्र का अंग बना है, न कि कलाकार का सतर्क चमत्कार है।

ऐतिहासिक प्रमाणिकता

उपन्यास में देश-काल का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। विशेषकर जब किसी उपन्यास का काल आधुनिक काल से अन्य कालों में लिया गया हो तब उस उपन्यास में लिए गए काल-स्थापन का उचित मूल्यांकन की एक कसौटी बन जाता है। लेकिन जहाँ तक 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में देश-काल का सवाल है, वहाँ अपने रोमांस तत्त्व के आधिक्य के कारण यह उपन्यास शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास की लीक से बाहर आ गया है। पात्रों का चरित्र-चित्रण, उनकी बातचीत, उनके वस्त्रालंकार, धार्मिक-सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियाँ आदि सभी देखकर हमें ऐसा लगता है मानो बाण ने आत्मकथा की रचना स्वयं की हो। इसे द्विवेदी जी के पांडित्य और सृजन शक्ति का चमत्कार ही कहा जा सकता है।

वैसे तो उपन्यास में कथा का मूल ढाँचा इतिहास-सिद्ध होते हुए भी कल्पनात्मकता के लिए विशिष्ट स्थान रखता है, नहीं तो उपन्यास इतिहास-शास्त्र का एक अंग ही बन जाएगा।

लेकिन अगर उपन्यास के लिए कोई भी ऐसी बात लिखे जो उस जमाने में संभव नहीं थी, तो बात खटक जाएगी और सहृदय पाठक के रसास्वादन में बाधा खड़ी होगी।[9] इसलिए यह कहा जा सकता है कि उपन्यास को उतनी ही ऐतिहासिकता चाहिए जिससे पाठकों के मन में वास्तविकता का बोध कराया जा सके। इस उपन्यास में सिद्ध व्यक्तियों की भविष्यवाणी, सम्मोहन के द्वारा भविष्य को दिखाना आदि कई चमत्कारों का वर्णन भी किया गया है। ये बातें आधुनिक युग के पाठकों के लिए अलौकिक एवं अविश्वसनीय हैं। लेकिन इनका वर्णन हर्ष युग के वातावरण को पैदा करने के लिए एक तरह का आवश्यक दोष है जिसे कवि-समय या कवि-प्रसिद्धि कहते हैं।

(क) कथा-काल का विश्लेषण

इस उपन्यास में कथा-काल महाकवि बाणभट्ट के जीवन काल में लिया गया है। बाणभट्ट राजा हर्ष वर्धन का राजकवि था। उसने 'हर्ष चरित' में हर्ष वर्धन के चरित्र का वर्णन करने के साथ अपना परिचय भी दिया है।[10] इतिहास-शास्त्र की दृष्टि में जो तथ्य प्रमाणित माने गए हैं उनमें से इस उपन्यास से संबंधित तथ्य निम्नलिखित हैं।

(1) हर्ष का जन्म 590 ई० में हुआ।

(2) हर्ष के एक भाई और एक बहन थे। जब उसकी बहन राज्यश्री का जन्म हुआ, तब हर्ष की उम्र मुश्किल से दो साल और हर्ष के बड़े भाई राज्यवर्धन की उम्र छह साल की थी।[11]

(3) 605 ई०--हर्ष के पिता प्रभाकर वर्धन की मृत्यु हुई। थोड़े समय के बाद राज्यश्री के पति ग्रहवर्मन का मालवराज के द्वारा वध हो गया।[12] इसके बाद कान्यकुब्ज में राज्यश्री को बंदी किया गया।[13]

(4) 606 ई०--राज्यवर्धन ने मालवराज की सेना को हराया, लेकिन गौड़ाधिपति[14] के द्वारा उसका वध हुआ। इतने में 'गुप्त' नाम के किसी व्यक्ति ने कुरास्थव (कान्यकुब्ज) को अपने अधिकार में कर लिया।[15] अवसर पाकर राज्य श्री विन्ध्याचल की ओर भाग गई।[16] शीघ्रतः हर्ष ने उसका उद्धार किया।[17]

(5) 612 ई०--हर्ष को महाराजाधिराज की उपाधि मिली।[18] इससे पता चलता है कि इस समय तक हर्ष ने दोआब के सारे क्षेत्र को अपने वश में कर लिया था।

(6) 619 ई० तक शशांक का राज्य बंगाल में समृद्ध था।[19]

इस उपन्यास में जो काल संबंधी वर्णन किए गए हैं, उनमें से इस उपन्यास के मेरुदंड से संबंधित उल्लेखों में निम्नलिखित बातें महत्त्वपूर्ण हैं।

(1) ‘कान्यकुब्जेश्वर का पूर्वी दुर्ग इसी समय का है। इस के बाद के देशों में अराजकता है।’ (पृ० 131)। इससे पता चलता है कि यह कथा हर्ष के बंगाल को अपनाने से पहले की बात है।

(2) इस उपन्यास में किसी साल के ज्येष्ठ मास में एक पात्र के द्वारा यह बताया गया है कि उससे 15 साल पहले तक राज्यश्री का विवाह ग्रहवर्मन से नहीं हुआ था (पृ० 286)।

(3) उपर्युक्त ‘15 साल पहले’ की बात में योगी के मुँह से यह सुनाया जाता है कि ग्रहवर्मन शीघ्र ही दूसरी शादी करेगा और उसका जीवन अब लंबे समय तक नहीं रहेगा (पृ० 292)। दूसरी जगह इस भविष्यवाणी के सिद्ध हो जाने का संकेत है।

उपन्यास में वर्तमान

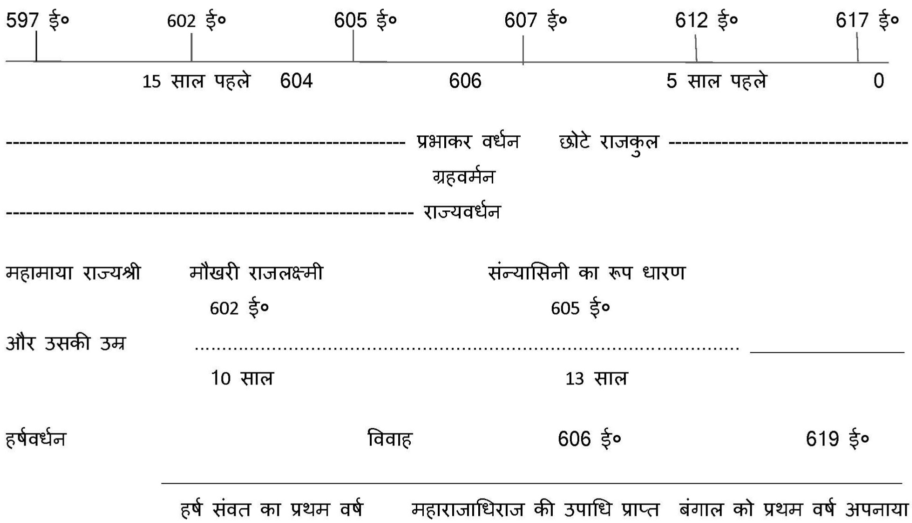

इतिहास-शास्त्र के क्षेत्र में राज्यश्री के विवाह की तिथि स्पष्ट नहीं है। लेकिन ‘हर्ष चरित’ में वर्णन मिलते हैं कि यह विवाह अपने पिता प्रभाकर वर्धन की मृत्यु से पहले हुआ था और उस समय उसको यौवन प्राप्त हो चुका था।[20] इसलिए राज्यश्री का विवाह प्राय: 602 ई० से 605 ई० के बीच में हुआ होना चाहिये। इस उपन्यास का ढाँचा हमारे इस अनुमान से भी नहीं टकराता। उपन्यास में छोटे राजकुल के 5 साल पहले बने होने का संकेत मिलता है। अगर 617 ई० को इस उपन्यास का कथाकाल माना जाए, तो यह 612 ई० में हर्ष के दोआब में अपनी पक्की सत्ता रखने के तथ्य के प्रति भी वास्तविकता का बोध देता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के द्वारा हमें यह जान पड़ता है कि इस उपन्यास ढाँचा कथाकाल के संदर्भ में बिल्कुल इतिहास-सम्मत कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के अतिरिक्त इस उपन्यास में जिन त्योहारों का वर्णन किया गया है, उनके आधार पर इस उपन्यास का कथा-काल संबंधी अधिकतर विश्लेषण किया जा सकता है।

फाल्गुन :

शुक्ल त्रयोदशी--बाण का स्थाण्वीश्वर में पहुँचना। मध्यरात्रि भट्टिनी का उद्धार। मदन-पूजा वर्णन। दूसरे सबेरे तक निपुणिका के घर जाकर, सामान लेकर चंडी मंदिर में शरणार्थ घुस बैठना।

चतुर्दशी--सुबह बाण की सुगत भद्र से भेंट और कुमार से भेंट। शाम को अघोर भैरव से भेंट।

पूर्णिमा-- मदनोत्सव या होलिकोत्सव का वर्णन। कुमार से फिर बाण की भेंट। यमुना पार कर गंगा की ओर प्रस्थान।

कृष्ण द्वितीया--शाम को बाण, भट्टिनी और निपुणिका गंगा तट पर।

चैत्र :

शुक्ल अष्टमी--श्विर सेन द्वारा बाण की नाव पर आक्रमण|

नवमी--नवरात्रि दुर्गा पूजन। वज्रतीर्थ पर बाण का अघोर घंट द्वारा सम्मोहन।

वैशाख :

शुक्ल तृतीया—इस दिन के आस पास बाण ने भर्वुशर्मा का पत्र पढ़ा (अक्षय तृतीया के बारे में यहाँ कुछ उल्लेख नहीं किया गया है।))।

पंचमी--बाण का भद्रेश्वर दुर्ग से स्थाण्वीश्वर को प्रस्थान।

पूर्णिमा--बुद्ध जयंती। बाण का स्थाण्वीश्वर में पहुँचना।

ज्येष्ठ :

शुक्ल द्वितीया--इस दिन के आस पास बाण का भद्रेश्वर में लौट आना।

दशमी--गंगा दशहरा। बाण, भट्टिनी और निपुणिका का लारिक देव के मल्लों के साथ स्थाण्वीश्वर को प्रस्थान।

इस ज्येष्ठ दशमी के वर्णन के बाद कथा-काल के बारे में स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। बाण को स्त्रियों को लेकर दस हजार मल्लों के साथ भद्रेश्वर से स्थाण्वीश्वर तक जाने में काफ़ी समय लगा होगा, क्योंकि बाण ने जब अकेले इस रास्ते को यात्रा की तब उसे 10 दिन लगे हैं। उन लोगों के स्थाण्वोश्वर पहुँचने के कई दिन बाद उड्डुपति भट्ट आ जाता है और निपुणिका की मृत्यु के बाद श्राद्ध[21] के अंतिम दिन तक का वर्णन इस उपन्यास में मिलता है। अतः इस उपन्यास की अंतिम तिथि प्राय: आषाढ़ के अंत के कुछ दिनों तक मानी जा सकती है।

कथा-काल के संबंध में इस उपन्यास में दो स्थानों पर अनुचित वर्णन किए गए हैं। एक, जिस दिन बाण की तबीयत ठीक हो गई वह रात हमारे विश्लेषण के अनुसार वैशाख शुल्क तृतीया के आस-पास होनी चाहिए। लेकिन इस उपन्यास में लेखक ने अँधेरी रात के वर्णन के विपरीत ऐसा वर्णन किया मानो उस रात को पूर्णिमा का चंद्र निकला हो (पृ० 165)। दूसरी बात यह है कि शुल्क नवमी की जिस रात बाण को अघोर घंट के द्वारा सम्मोहन लगाया गया, उस रात से वैशाख पंचमी तक के लगभग 24 दिनों का वर्णन स्पष्ट नहीं है। इस अवधि के लिए सिर्फ़ "तीन दिन और तीन रात तक मैं संज्ञाहीन पड़ा रहा" (पृ० 152) और "तीन दिन बाद मैं पूर्ण स्वस्थ हो गया" (पृ० 157) के दो विवरण ही मिलते हैं। इन दो जगहों को छोड़कर बाक़ी वर्णन त्योहार आदि के सशक्त वर्णनों के द्वारा स्पष्ट किए गए हैं और कथा का प्रवाह भी स्पष्ट है।

अतः उपर्युक्त दो विश्लेषणों के द्वारा यह निष्कर्ष निकलता है कि इस उपन्यास का जो कथा-काल है वह 617 ई० के फाल्गुन तृतीया से लेकर आषाढ़ तक लगभग साढ़े चार महीने का है।

(ख) कथा-भूमि विचार :

इस उपन्यास में जिन स्थानों का उल्लेख है, उनमें से स्थाण्वीश्वर (थानेसर) और भद्रेश्वर दुर्ग को विशेष महत्त्व दिया गया है।

स्थाण्वीश्वर : यहाँ निम्नलिखित कथा-कल्प परिस्थितियाँ खड़ी कर दी गई हैं। (1) श्री हर्ष और कुमार कृष्ण के महल, सौगतों का विहार, चंडी मंदिर और छोटे राजकुल (मौखरियों का अन्तःपुर) आदि यहाँ मौजूद हैं। (2) यहाँ ऐसी घटनाएँ हुईं--(क) छह साल के बाद निपुणिका और बाण का पुनर्मिलन (ख) भट्टिनी का उद्धार (ग) महामाया की जनता के प्रति अपील (घ) अनेक धर्मों का प्रचार (च) उड्डपति भट्ट और वसुभूति के बीच शास्त्रार्थ (छ) रत्नावली का रंगभूमि पर उतरना (ज) बाण की हर्षवर्धन से भेंट।

भद्रेश्वर : भद्रेश्वर आभीर सामंत लोरिक देव का निवास स्थान है। यहीं बाण और दो स्त्रियों को लोरिक देव की शरण मिलती है। इस उपन्यास में भद्रेश्वर दुर्ग और उस के आस-पास के सौरभह्रद आदि स्थानों की महत्त्वपूर्ण भूमिका दी गई है, हालाँकि इन स्थानों की कथा-कल्प घटनाएँ ऐतिहासिक दृष्टि में प्रमाणिक नहीं है।

इन दो स्थानों के अतिरिक्त अनेक स्थानों का नाम मात्र का उल्लेख मिलता है— (1) अस्त्रिय वर्ष, जहाँ भट्टिनी का जन्म स्थान होने का संकेत दिया गया है (2) तक्षशिला (3) नगर हार (4) जालंधर (5) पुरुषपुर, जहाँ देवपुत्र तुवर मिलिन्द का निवास स्थान होने का संकेत दिया गया है (6) कुलूतराज (कांगड़ा, पंजाब) घाटी का पहाड़ी स्थान (7) प्रयाग (8) चरणाद्रि दुर्ग (9) चित्रकूट (10) धूम्रगिरि[22] (11) महासरयू (घाघरा) नदी (12) गंगा नदी (13) तमसा नदी (14) श्री पर्वत (नागरजुनीकोंड)[23] (15) कान्यकुब्ज।

इस उपन्यास की कथाभूमि के संदर्भ में कुछ बातों पर सोचना आवश्यक प्रतीत होता है। इस उपन्यास में स्थाण्वीश्वर की अपेक्षा कान्यकुब्ज का महत्त्व कम जान पड़ता है। इतिहास की दृष्टि से यह थोड़ा-सा विचित्र लगता है। शायद लेखक ने ऐतिहासिक प्रामाणिकता की उलझनों से बचने के लिए ऐसी कथा-कल्प परिस्थितियाँ बनायी हों या लेखक ने जिन पुस्तकों का सहारा लिया, उनमें स्थाण्वीश्वर का वर्णन अधिक मिला हो। इस उपन्यास में भद्रेश्वर दुर्ग की महत्त्वपूर्ण भूमिका दी गई है। हालाँकि इतिहास की दृष्टि से इसका इतना महत्त्व नहीं है। लेखक ने उपसंहार में ऐसा संकेत पहेली की तरह दिया है कि ‘भद्रेश्वर-दुर्ग और उसके समीपवर्ती स्थानों का अधिक वर्णन है, जो काफ़ी संकेतपूर्ण है।’ भद्रेश्वर नामक स्थान कलकत्ता के हावड़ा स्टेशन से लगभग 29 कि०मी० की दूरी पर है। लेकिन इस उपन्यास में बंगाल का कोई उल्लेख नहीं मिला। इस बारे में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भद्रेश्वर दुर्ग छपरा के पास होना चाहिए। इसकी युक्ति निम्नलिखित है। (1) बाण और उसके साथियों पर तमसा नदी को छोड़ने के बाद ईश्वर सेन का आक्रमण हुआ और जिस स्थान पर बाण और भट्टिनी पहुँचे, उस स्थान के नज़दीक ही वज्रतीर्थ है (पृ० 134)। (2) उपन्यास के अनुसार वज्रतीर्थ गंगा और महासरयू (घाघरा) नदी के संगम पर है (पृ० 146)। (3) भद्रेश्वर वज्रतीर्थ के प्रति महासरयू के उस पार है (वही.)।

अगर लेखक साधारण ऐतिहासिक उपन्यासकार होता तो जिस स्थान पर बाण शरण पाने के लिए गया था, उस स्थान के लिए लेखक ने बाण की जन्मभूमि प्रीतिकूट को ही चुना होता। प्रीतिकूट वर्तमान पटना या शाहबाद के पास स्थित है। लेकिन ‘बाणभट्ट की आत्मकथा’ के लेखक ने क्यों कथा में महत्त्वपूर्ण स्थान के लिए भद्रेश्वर दुर्ग को ही चुना?

हमें इस बात को याद करना होगा कि लेखक हजारीप्रसाद द्विवेदी का जन्म उपर्युक्त क्षेत्र में ही हुआ था। तमसा नदी उनकी जन्मभूमि ‘ओझवलिया’ के पास गंगा में मिल जाती है। द्विवेदी जी ने अपने निबंध में ऐसा लिखा है--मेरा विचार यह है कि इतिहास का साहित्य कुछ बड़े-बड़े व्यक्तियों के उद्भव और विलय के लेखे-जोखे का नाम नहीं है। वह जीवन- मनुष्य के धारावाहिक जीवन के सारभूत रस का प्रवाह है। मेरे गाँव में जो जातियाँ बसी हैं वे किसी उजड़े महल या गाड़ी हुई ईंटों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, बल्कि अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मेरे इस छोटे-से गाँव में भारतवर्ष का बहुत बड़ा सांस्कृतिक इतिहास पढ़ा जा सकता है।[24]

हमारे विचार में लेखक ने अपने ऐतिहासिक उपन्यास में एक ऐसे गाँव का उल्लेख किया है, जिसमें इतिहास का जीवंत दर्शन किया जा सके। वास्तव में लेखक ने उपन्यास में अपने गाँव का चित्रण किया है। इस चित्रण में उसकी विनोद-प्रियता के दर्शन होते हैं।

(ग) वातावरण

(1) राजनीतिक परिस्थितियाँ :- लेखक ने राजनीतिक परिस्थितियों का उल्लेख ब्यौरे से नहीं किया है। यद्यपि लेखक ने राजनीतिक परिस्थितियों का सीधा वर्णन नहीं किया है, तथापि उसने पत्र, लोक-श्रुति और कुछ राजाओं के स्तुति वर्णन आदि के द्वारा राजनीतिक परिस्थितियों का संकेत अच्छी तरह दिया है।

गुप्त वंश के राजाओं की अवनति के साथ-साथ उत्तर भारत की राजनीतिक व्यवस्था विश्रंखल हो गई थी। छोटे-मोटे राजा आपस में लड़ते रहे। इस समय आर्यावर्त पर पश्चिमी ओर से हूणों का लगातार आक्रमण होता रहा। गुप्तों की अवनति का कारण भी हूणों का अक्रमण ही कहा जाता है।

लगभग छठी शताब्दी के अंतिम दशकों से 7वीं शताब्दी के प्रथम दशक तक आर्यावर्त में मुख्य चार राज्य थे। मगध में छोटा गुप्त राजवंश था, जो बाद में मालवा भूभाग तक फैल गया और ऐसा कहा जाता कि उस वंश के मालव राज ने ग्रहवर्मन का वध किया। कन्नौज में मौखरि वंश था।

थानेसर में पुष्पभूति वंश या जिसे हर्ष वंश भी कहते हैं। एक अन्य मैत्रेक वंश भी था जिसकी राजधानी वलभी में थी।

इस उपन्यास में मौखरि वंश और कान्यकुब्जेश्वर अर्थात् हर्षवर्धन के राज्य का अधिक उल्लेख है। 'हर्ष चरित' के वर्णन के अनुसार निम्नलिखित घटनाओं का अनुमान होता है। (1) हर्ष की छोटी बहन राज्यश्री का विवाह मौखरि नरेश ग्रहवर्मन से हुआ था। (2) मालवराज ने ग्रहवर्मन का वध करके रानी राज्यश्री को कैद किया। (3) हर्ष के बड़े भाई राज्यवर्धन ने मालव राज की सेना को हराया, लेकिन गौड़ाधिपति के छल से उसका वध किया गया। (4) इतने में किसी गुप्त नाम के व्यक्ति ने कुशस्थल (कान्यकुब्ज) पर अधिकार कर लिया और अवसर पाकर रानी राज्यश्री बंधन से छूट कर अपने परिवार के साथ विन्ध्याचल के जंगल में चली गई। (5) हर्ष ने शीघ्रतया उस का उद्धार किया।

लेकिन इस उपन्यास में उपर्युक्त घटनाओं का उल्लेख नहीं है। इसके प्रति लेखक ने छोटे महाराज का काल्पनिक निर्माण किया। 'जब से महाराजाधिराज हर्षवर्धन ने अपने बहनोई (ग्रहवर्मन) का राज्य भी अपनी ही छात्र-छाया में ले लिया है, तब से उक्त बहनोई के एक दूर के संबंधी को--जो मौखरि सिंहासन का उत्तराधिकारी हो सकता था- इस नगर (स्थाण्वीश्वर) में आश्रय मिला है। इधर की जनता में अब भी मौखरि वंश के प्रति प्रबल सम्मान भाव

विद्यमान है (पृ० 28)। "इन मौखरियों को कोई अधिकार नहीं दिया गया था, पर संपत्ति दी गई थी। इसलिए उसमें अनुत्तरदायी भोग-लिप्सा बढ़ गई है, जो अब अत्यंत निकृष्ट अचार का रूप धारण कर चुकी है। महाराजधिराज को यह बात मालूम है, पर जनता में अब भी मौखरि वंश का मान है, इसलिए साहसपूर्वक वे इस छोटे महाराज को हटा नहीं सकते" (पृ० 28)।

इस उपन्यास में इन मौखरियों के अतिरिक्त आर्यावर्त में दो और प्रभावशाली राजवंश की कल्पना लेखक ने की है। एक तो देव पुत्र तुवर मिलिन्द है और दूसरा लोरिक देव है। मिलिन्द एक यवन राजा है, जो कि उसका मूल राज्य रोमक पत्तन के उत्तरावर्त में स्थित अस्त्रियवर्ष में था। वह भट्टिनी का पिता है। इस उपन्यास में उसे पुरुषपुर में रहने वाले आर्यावर्त के प्रहरी को भूमिका दी गई है, जो सबसे शक्तिशाली राजा है। जब उसकी कन्या चंद्रदीधित गुम हो गई, तो वह उस के शोक के कारण निरुत्साहित हो गया है।

लोरिक देव एक आभीर सामंत है। हमारा अनुमान है कि लेखक ने लोरिकदेव का नाम शायद सुप्रसिद्ध लोक-गाथा लोरिकायन[25] के नायक के नाम से लिया हो।[26] इस उपन्यास में लेखक ने लोरिकदेव के सहज स्वभाव और उसके राज्य के जाति-भेद रहित समाज को लेकर इस आभीर सामंत लोरिकदेव और राज्य को महत्त्व दिया है।

इस उपन्यास में लिए गए युग के आर्यावर्त में कोई राजनीतिक एकता नहीं थी। इस समय तक हर्ष का शासन भी अभी स्थिर नहीं हुआ था। इन स्थितियों में लेखक हूणों के आतंक का वातावरण लाया है, जबकि यह घटना इतिहास शास्त्र की दृष्टि में इतनी प्रामाणिक नहीं है।[27] लेकिन इस प्रकार की घटनाओं की संभावना तो अवश्य थी। लेखक ने अत्यंत घृणित म्लेच्छ जाति' या 'प्रत्यंत दस्यु' आदि शब्दों को 'रघुवंश'[28] से उद्धृत करके आतंक का अतिरंजन किया है, जिससे लेखक वातावरण का तनाव उपन्यास में लाने में सफल हुआ है। केवल यही नहीं, लेखक भट्टिनी के द्वारा दिए गए संदेश 'रागात्मक हृदय' का महत्त्व बढ़ाने में भी सफल हुआ है।

(2) सामाजिक-धार्मिक स्थितियाँ :- हर्ष काल एक ऐसा काल था जब समाज के सभी तत्वों में परिवर्तन हो रहा था। एक ओर अनेक तत्वों का मिश्रण हो रहा था, तो दूसरी ओर एक तत्त्व अनेक रूपों में बंटता जा रहा था। भारत के सांस्कृतिक इतिहास के संदर्भ में यह काल द्विवेदी जी की दष्टि में विशेष अर्थ रखता है। उनका कहना यह है कि भारत एक बहुजातीय देश है। वर्तमान भारत की जो भी मौलिक जातियाँ हैं वे सब इस युग तक यहाँ आ बसी थीं। इसलिए भारत को निरंतर भिन्न-भिन्न संस्कृतियों और भिन्न-भिन्न विचारों के संघर्ष में आना पड़ा। राजनीति में विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया चल रही थी। जबकि हर्ष ने साम्राज्य बनाने का अंतिम प्रयास किया था। एक ओर धर्म के क्षेत्र में वेद लोक-चिंतन पर अधिक प्रभाव अभी नहीं डाल सके थे। दूसरी ओर गाँव-गाँव की असभ्य धर्म-चेतना वेद के देवताओं के संपर्क में अपना

अभिव्यक्त रूप धारण करने लगी थी। इस प्रक्रिया में बौद्ध-तंत्र का योगदान माना जा सकता है। बाद में इस धर्म-चेतना का रूप अपने आप लोक-चिंतन में मिलकर अप्रत्यक्ष हो गया। समाज छोटी-छोटी इकाइयों में, टुकड़े-टुकड़े होता जा रहा था। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि उस समय जो अनेक नवागंतुक जातियों के बीच में पारस्परिक संघर्ष या घिस्सा था, जो विभिन्न धार्मिक मान्यताएँ विशृंखल रूप में थीं, जो देशी या विदेशी तत्त्व थे, वे सभी भारतवर्ष के संश्लेषण की ओर, नए मूल्यों के आधार पर नई व्यवस्था की ओर बढ़ते जा रहे थे। हालाँकि, उनकी गति मंद ही थी, मानो लोग अंधेरे में कुछ टटोल रहे हों और आपस में टकराते-झगड़ते हों।

इस युग में राजाओं को ऐसी प्रवृत्तियाँ थीं कि वे निजी तत्त्व खोजने का कोई प्रयास किए बिना गुप्तकालीन वैभव और मान्यताओं का अनुसरण करना चाहते थे। जहाँ वैभव की यादें हैं और उनका सपना देखते रहने को इच्छा प्रबल है, जहाँ ऐसी मान्यताओं को स्थिर बनाने की वृथा चेष्टा है जो मान्यता तत्कालीन समाज में उचित नहीं है और जहाँ सुगठित रूप में पक्की व्यवस्था स्थापित नहीं है, वहाँ लोगों के चरित्रों में विभिन्नता, विशृंखलता और अतिवादिता की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। लेखक ने इस प्रकार के वातावरण का चित्रण सशक्त शब्दों में किया है। लेखक ने विदेशी कन्या भट्टिनी के मुँह से यह सुनवाया है... “आर्यावर्त जैसी विचित्र व्यवस्था मैंने कहीं नहीं देखी है। यहाँ इतना स्तर भेद है कि मुझे आश्चर्य है कि यहाँ के लोग कैसे जीते हैं। फिर यहाँ एक से बढ़ कर एक ऐसे सत्पुरूष और सती स्त्रियाँ देखी हैं कि मुझे कभी-कभी यह भी आश्चर्य होता है कि ये देवता के समान लोग क्यों मर जाते हैं? यहाँ का जीवन और मृत्यु दोनों ही मेरे लिए पहेली हैं!”

लेखक ने इस प्रकार के समाज की दयनीय अवस्था को दिखाने के लिए प्रतीकात्मक ढंग से नारी की दुर्दशा को सामने रखा है। “इस उत्तरापथ में लाख-लाख निरीह बहुओं और बेटियों के अपहरण और विक्रय का व्यवसाय” चल रहा था। इस उपन्यास की मुख्य नायिका भट्टिनी और महामाया भी अपहृता हैं। विधवा का अपमान उस समय तक निष्ठुर रूप धारण करने लगा था। इसका आभास सूचार और निपुणिका के संबंध में मिलता है। महामाया को अपने प्रेम और सत्य की सिद्धि के लिए संन्यासी का रूप धारण करना पड़ा था। उसे समाज से त्याग करने पर ही जीने का अस्तित्व मिला था, यद्यपि साधारण स्थिति में समाज ही आदमी का शरणदाता होता है। सुचरिता भी इस टाइप की नायिकाओं में से है। सारांश यह है उस युग में संन्यासिनी, नर्तकी, गणिका जैसी स्त्रियाँ ही स्वतंत्र रूप में जी सकती थीं और पतित स्त्री होने का कलंक पाकर ही या समाज से त्याग करके ही मनुष्य युक्त स्वतंत्र जीवन बिता सकती थीं।

उपर्युक्त सामाजिक परिस्थितियों के अतिरिक्त इस उपन्यास में विभिन्न धर्मों और दार्शनिक मतों का परिचय दिया गया है। लेखक ने अपने गंभीर तथा विशाल पांडित्य का जो उपयोग किया है वह अच्छा बन पड़ा है।

इस उपन्यास में जिस मत पर सबसे अधिक बल दिया गया है, वह अघोर भैरव का है। अघोर भैरव एक कौलाचार्य है अर्थात् वाममार्गी तांत्रिक। वह कई जगहों पर अवधूतपाद के नाम से संबोधित किया जाता है। अघोर भैरव की धर्म-साधना को नाथ संप्रदाय का आदि रूप माना जा सकता है। दूसरा, सुगत भद्र के बौद्ध धर्म का परिचय भी अधिक दिया गया है। उसका मत बौद्ध दर्शन के 'माध्यमिक' या 'शून्यवाद' से तुलनीय है। लेकिन उस मत को पुष्टि के लिए लेखक ने असंघ और मिलिन्द प्रश्न से कुछ उद्धरण दिए हैं। असंघ विज्ञानवादी है और मिलिन्द प्रश्न की रचना लगभग ई० पू० दूसरी शताब्दी की है, जो यवन राजा 'मेनान्द्रोस' और आचार्य 'नागसेन' के प्रश्नोत्तर का संग्रह है।

उपर्युक्त दो मतों के अतिरिक्त कई धर्मों का उल्लेख किया गया है। वसुभूति का धर्म उत्तरकालीन 'विज्ञानवाद' से तुलनीय है जिसमें तर्क की प्रधानता थी। अघोर घंट का नाम भवभूति कृत 'मालती माधव' में भी दिखाई देता है। उसका धर्म अघोर पंथ या कापालिक कहलाता है। कापालिक अति वाममार्गी शैव तांत्रिक था, जो नर-बलि भी किया करता था और श्मशान में रहकर वीभत्स रीति से शैवतंत्र की उपासना करता था। वेंकटेश भट्ट का धर्म वैष्णव मत और चंडमुंडना इस मत की साधिका है, जो शैवतंत्र का मिश्रित रूप है। उसकी शिष्या सुचरिता के घर में वासुदेव की जो मूर्ति है, उसके अंतिम यंत्र पर काम-गायत्री भी लिखी हुई है। भट्टिनी और निपुणिका महावराह की भक्त हैं। यह भक्ति-साधना और वेंकटेश भट्ट की धर्म-साधना, बाद की 16वीं शताब्दी की भक्ति-साधना का आदि रूप जान पड़ती है। इसमें सनातन धर्म के बारे में अधिक विवेचन नहीं मिलता।

औपन्यासिक संरचना का विश्लेषण

जैसा पहले कहा जा चुका है कि यह रचना न तो बाणभट्ट की स्वयं लिखित जीवनी है और न ही लेखक का उद्देश्य बाणभट्ट के जन्म से मृत्यु तक की जीवनी प्रस्तुत करना है। यह बाणभट्ट की आत्मा की कथा है, जो वास्तव में द्विवेदी जी की आत्मा की पुकार है।

लेखक ने 'आत्मकथा' का अभिनव प्रयोग करके एक ऐसी वर्णन पद्धति की स्थापना की है, जिससे लेखक पात्रों के मानसिक परिवर्तन और विकास का सशक्त चित्रण कर सका है और इतिहास, समाज, तथा व्यक्तिगत जीवन संबंधी अनेक समस्याओं को भी अच्छी तरह पाठकों के सामने प्रस्तुत कर सका है। लेकिन यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और व्यक्तिगत जीवन संबंधी सभी समस्याओं को लेखक ने एक व्यक्ति के वीरतापूर्ण चरित्र या रोचक घटनाओं के द्वारा प्रस्तुत नहीं किया है। लेखक ने पात्रों के अंतःसंघर्ष में से इन समस्याओं की एक झलक देने का प्रयास किया है। वैसे तो लेखक ने अन्य आधुनिक उपन्यासों के समान राज्य-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था और मान्यताओं को अपरिवर्तनीय नहीं समझा है। इसलिए, लेखक ने न तो आदर्श पुरुष का प्रदर्शन किया है, न

चिरंजीवी व्यवस्था का संकेत दिया है। इसका परिणाम एक तो लेखक के दृष्टिकोण की विशेषता के रूप में प्रकट हुआ है। लेखक का प्रश्न यह है--इतिहास का निर्माता कौन है? मनुष्य के अपने अस्तित्व का आधार क्या है? समाज-व्यवस्था मानवता से कहाँ टकरा रही है? दूसरा परिणाम कथावस्तु के संयोजन में प्रकट हुआ है। मुख्य कथा के साथ अनेक प्रासंगिक कथाएँ सुनियोजित ढंग से जुड़ी हुई हैं। ये प्रासंगिक कथाएँ किसी हद तक अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी रखती है। इसलिए इस रचना का विश्लेषण दो दिशाओं से किया जा सकता है। एक तो प्रासंगिक कथाओं के परस्पर संबंधों को व्याख्या करना है और उन्हीं के संदर्भ में मुख्य कथावस्तु का भी विश्लेषण करना है। दूसरा, लेखक ने जो प्रश्न प्रस्तुत किए है और जिन समस्याओं को प्रस्तुत करना चाहा है, उनके प्रति किए गए विचारों तथा समाधानों को लेखक ने हमारे सामने प्रस्तुत किया है। इनका विश्लेषण अलग-अलग विषयों के अनुसार किया जाता है।

[पृष्ठ संख्या के कारण पत्रिका ‘ज्वालामुखी’ में ‘मुख्य कथावस्तु की संरचना और प्रासंगिक कथाओं का प्रकार्य भाग ही प्रस्तुत किया जाता है।]

मुख्य कथावस्तु की संरचना और प्रासंगिक कथाओं का प्रकार्य :-

(1) कथा का आरंभ भट्टिनी के उद्धार की घटना से होता है। इससे पहले बाण अपनी पुरानी सखी से स्थाण्वीश्वम के नगर में अकस्मात् मिल जाता है। जब निपुणिका से बाण भट्टिनी के उद्धार की योजना को सुनता है, तब बाण के चरित्र का तर्क केवल यह है कि बाण के लिए स्त्री देह देव-मंदिर की तरह पवित्र है। इसलिए जो स्त्री संकट में है उसका उद्धार करना बाण अपना कर्त्तव्य समझता है।

(2) जब बाण और निपुणिका ने भट्टिनी का उद्धार कर लिया है, तब से इस घटना की समस्या केवल एक बाण की नैतिकता की समस्या नहीं रह जाती, क्योंकि एक स्त्री को राजा के अंतःपुर से भगाना राज्य के कानून के विरुद्ध है। इसलिए अब तीनों को दूसरे राज्य में भाग कर जाना पड़ता है।

(3) इस प्रकार की परिस्थितयों में बाण अघोर भैरव और महामाया से मिल जाता है। बाण को अघोर भैरव से अभय का मंत्र दिया जाता है और महामाया से वात्सल्य रस का आस्वादन करने का अवसर मिलता है।

(4) तीनों को भद्रेश्वर दुर्ग के सामंत लोरिक देव की शरण मिलती है। लेकिन इसी समय हूणों के आतंक की स्थिति सामने आती है। अब समस्या एक राज्य के स्तर की न होकर अंतर्रराज्यीय स्तर की हो जाती है। इस परिस्थिति में भट्टिनी तुवरमिलिन्द की राजकुमारी होने की भूमिका निभाती हुई सामने आती है, जो राजाओं का सेना संघठन करवाने का प्रतीक है।

(5) हूणों के आतंक के कारण देश में जो तनाव हुआ था, उसके अतिरिक्त स्थाण्वीश्वर में एक अन्य घटना होती है। वह यह थी कि विरतिवत्र ने अपने मत को बौद्ध विज्ञानवाद से तांत्रिक मत में बदल लिया। इसलिए जो बौद्ध लोग राजसत्ता के नज़दीक थे उन्होंने विरति और उसके संबंधियों को कैद कर लिया। अब स्थाण्वीश्वर की सामाजिक अस्थिरता और तनाव शिखर तक पहुँच गए।

(6) महामाया अब तक अपने अतीत से जूझ रही थी और उसकी सिद्धि भी अभी तक नहीं हुई थी। उसकी सुप्त 'शक्ति' समाज को संकट में देखकर जाग उठती है। वह एकता के लिए जनता से अपील करती है और उन्हें समाज के लिए मर मिटने का पाठ सिखाती है। लेकिन अघोर भैरव ने महामाया का बताया कि उसने जनता को न्याय, सत्य और धर्म के लिए अपने को मिटाना तो सिखाया, अगर वह स्वयं भी जनहित के लिए मर मिटे तो वह बहुत बड़ी बात है।

(7) भट्टिनी कहती है महामाया का सत्य भी अधूरा है। महामाया हूण को म्लेच्छ कहकर घृणित समझती है, लेकिन हूण भी मनुष्य हैं जिसके मन में मनुष्यता है। 'सर्वव्याप्त रागात्मक हृदय' का संचार करने का कार्य कवि बाण को सौंपा जाता है।

इस प्रकार इस कथावस्तु में घटना के चार सोपान और तीन महत्त्वपूर्ण वक्तव्य दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त लेखक ने इस रचना के आधार पर प्रेम का विषय रखा और मनुष्य को नैतिकता तथा जीवन के अस्तित्व पर प्रकाश डालते हुए नए मूल्यों को खोजने का प्रयास किया है। उपर्युक्त मुख्य कथावस्तु और विषय के सहायक के रूप में जो प्रासंगिक कथाएँ दी गई हैं वे उसे और अधिक स्पष्ट एवं पुष्ट करती हैं।

मुख्य कथा में बाण, भट्टिनी और निपुणिका के प्रेम का त्रिकोणात्मक संबंध मिलता है। इसके सहायक रूप में अघोर भैरव और महामाया का प्रसंग, विरतिवज्र और सुचरिता का जोड़ा और 'रत्नावली' की कथावस्तु आते हैं। एपिसोड के तौर पर गणिका मदनश्री, जटिलवटु की कहानियाँ आती हैं। जीवन दर्शन के संदर्भ में अघोर भैरव और भट्टिनी का विचार मुख्य है। इसके प्रति सहायक के रूप में वाव्य की सहज आस्था, सुचरिता की आह्लादपूर्ण आस्था के प्रसंग आते हैं। एपिसोड के तौर पर सुचरिता की माँ की कहानी आती है। राजनीति के प्रसंग में महामाया का चरित्र मुख्य है। इसके सहायक के रूप में लोरिक देव का विचार है और प्रतिवस्तु के रूप में कुमार कृष्णवर्धन का चरित्र है। इन सबके आधार में बाण होता है हैं। बाण का स्वभाव बहुत भोला है। बाण जो भी बात सुनता है, वह विस्मय एवं कौतूहल के साथ सुनता है। बाण ने जो सुना है और देखा है उसी के अनुसार यह कथा आगे बढ़ती जाती है। बाण के कवित्व अर्थात् उसके भोलेपन एवं आत्मसुचिता को इस रचना का महत्त्वपूर्ण विषय नहीं माना जा सकता। वास्तव में बाण के इस व्यक्तित्व का निर्माण 'आत्मकथा' की वर्णन पद्धति की स्थापना के निमित्त किया गया था, हालाँकि अवश्य ही इस पात्र का व्यक्तित्व चित्ताकर्षक है।

पात्र-चित्रण

जैसा पहले कहा जा चुका है कि लेखक का ध्यान व्यक्ति विशेष के व्यक्तित्व या मानसिक विश्लेषण की अपेक्षा जीवन-दर्शन एवं नए मूल्यों की स्थापन प्रक्रिया में अधिक रहा है तथा लेखक ने विचारणीय समस्याओं की झलक पात्रों के अंतःसंघर्ष में से देने का प्रयास किया है। इसलिए, इस उपन्यास की समीक्षा के संदर्भ में पात्रों के व्यक्तिगत विश्लेषण अधिक महत्त्वपूर्ण है। अस्तु, यहाँ केवल पात्रों की प्रामाणिकता और कथा में उनकी प्रासंगिकता के संदर्भ में पात्रों का अति संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। (क) में ऐसे पुरुष पात्रों का परिचय दिया गया है जिन्हें कथा में महत्त्वपूर्ण भूमिका दी गई है या उनका सविस्तार वर्णन मिलता है। इसी प्रकार (ख) में प्रमुख नारी पात्रों का परिचय दिया गया है। (ग) में अन्य उल्लिखित पात्रों के नाम दिए गए हैं। जो पात्र इतिहासानुमोदित हैं, उनके लिए * चिह्न लगाया गया है।

(क) प्रमुख पुरुष पात्र

* बाणभट्ट : मुख्य नायक! वह हर्ष का राजकवि था। उसने ‘कादम्बरी’, ‘हर्ष चरित’ और ‘चंडी शतक’ की रचना की। उसके प्रथम पुरुष के रूप में यह उपन्यास लिखा गया है। इस उपन्यास में बाण निष्कपट प्रेम करने वाले भोले मानस के रूप में आता है। वह दूसरों की बातों को सहज भाव से सुनता जाता है। इसी गुण को लेकर लेखक ने इस रचना के अद्भुत वर्णन का निर्माण किया।

अघोर भैरव : कौलाचार्य, अवधूत पाद और महामाया का वाग्दत्त पति। इस पात्र की विचारधारा में शैव तंत्र से भी अधिक बाद के नाथ संप्रदाय का समीप संबंध दिखाई देता है। इसका व्यक्तित्व कबीर जैसा है। इस उपन्यास में बाण की आस्था इस पात्र में अधिक दिखाई देती है।

कुमार कृष्णवर्धन : हर्ष का भाई (चचेरा भाई), महासंधिविग्रह। ‘हर्ष चरित’ में उसका उल्लेख द्वितीय परिच्छेद में मिलता है। लेकिन इस उपन्यास में जो कुमार कृष्ण का चरित्र-चित्रण है, उसकी ‘हर्ष चरित’ के ‘भंडि’ से की जा सकती है जो हर्ष का ममेरा भाई तुलना लगता है।

लोरिक देव : आभीर सामंत। पहले वह गुप्तों का एक सैनिक था, अब स्वतंत्र राज्य का सामंत है। भद्रेश्वर-दुर्ग उसका निवास स्थान है। इस पात्र के द्वारा जाति-भेद रहित व्यवस्था का महत्त्व बताया जाता है।

हर्षवर्धन : कान्यकुब्जेश्वर महाराजाधिराज। वह कवियों का आश्रयदाता ही नहीं था, अपितु वह कवि भी था। उसने ‘रत्नावली’ ‘नागानन्द’ और ‘प्रियदर्शिका’ जैसे ग्रंथों की जो रचना की है। वे सभी संस्कृत साहित्य की उच्चतम रचनाओं में गिनी जाती हैं। इस उपन्यास में उसका चरित्र चित्रण इतना अधिक नहीं किया गया।

देवपुत्र तुवरमिलिन्द : यवन राजा, भट्टिनी का पिता। उसका राज्य रोमकपत्तन के अस्त्रियवर्ष में था। बाद में वह पुरुषपुर में आ गथा। इस उपन्यास में यह पात्र केवल लोगों में चर्चा के रूप में आता है, पर उसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

सुगतभद्र वाभ्रव्य : सौगताचार्य, भिक्षु। उनकी विचारधारा बौद्ध दर्शन के ‘माध्यमिक’ या ‘शून्यवाद’ से तुलनीय है।

वाभ्रव्य : मौखरि वंश के अंतःपुर का वृद्ध कंचुकी। इस पात्र के द्वारा महामाया का रहस्य पाठकों को बताया जाता है। उसकी सहज आस्था से लेखक के व्यक्तित्व का आभास मिलता है। ‘वाभ्रव्य कंचुकी’ का नाम ‘रत्नावली’ में भी इसी भूमिका में आता है।

*धावक : हर्ष का एक राजकवि। ‘बना-बनाया विदूषक’ (पृ० 298)। इस पात्र के चरित्र-चित्रण में लेखक आधुनिक साहित्यकार के प्रति व्यंग्य का आभास मिलता है।

विरतिवज्र : सुचरिता का पति। पहले वह अमोघवत्र के साथ बौद्ध-साधना कर रहा था। फिर अघोर भैरव की सलाह लेकर वेंकटेश भट्ट के यहाँ चला गया। इस व्यवहार के कारण स्थाण्वीश्वर में धार्मिक विरोध उत्पन्न हो जाता है।

वेंकटेश भट्ट : वैष्णव और शव तंत्र के मिश्रित धर्म का संचारक। सुचरिता और विरतिवज्र का गुरु।

विग्रहवर्मा : मौखरि वंश का एक वीर जो पहले यशोवर्मा का सेवक था।

पुजारी : स्थाण्वीश्वर के एक चंडी मंदिर का पुजारी। लेखक ने इस पात्र का निर्माण ‘कादम्बरी’ के ‘जरद्द्रविड धार्मिक’ के सहारे किया है।[29]

इन पात्रों के अतिरिक्त ‘कालिदास’ नाम का चाहे उल्लेख मात्र हो, लेकिन उसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण है। कालिदास पात्र के रूप में नहीं आते, लेकिन उनकी लालित्य योजना इस उपन्यास में सर्वांग रूप से मिलती है। वास्तव में लेखक ने कालिदास की कविता का उद्धरण कई जगहों पर दिया है।

(ख) प्रमुख नारी पात्र

भट्टिनी : मुख्य नायिका, तुवर मिलिन्द की कन्या चंद्रदीधिति। यदि महामाया त्रिपुरसुंदरी की रौद्ररूपा है तो भट्टिनी त्रिपुरसुंदरी का दक्षिण मुख है। इसके मुँह से ‘सर्वव्याप्त रागात्मक हृदय’ का संदेश दिया जाता है।

निपुणिका : मुख्य नायिका। बाण उसे 'निपुणिका' के प्राकृत रूप 'निउनिया' से संबोधित करता है। निउनिया ने चंद्रदीधिति को भट्टिनी का नाम दिया। 'भट्टिनी' अंत:पुर में रानी को कहते हैं। लेकिन निपुणिका के लिए 'भट्टिनी' का विशेष अभिप्राय छिपा हुआ था, अर्थात् 'भट्टिनी' निपुणिका के लिए देवतुल्य पुरुष बाण 'भट्ट' के समान पवित्र बाला--भट्ट स्वरूपा 'भट्टिनी' थी। निपुणिका बाण और भट्टिनी के प्रेम का सूत्र जोड़ने का सपना देखते हुए मर जाती है।

महामाया : गैरिक वस्त्र धारिणी भैरवी, अघोर भैरव की सहचारिणी। उसका जन्म किसी संपन्न परिवार में हुआ था। उसका वाग्दान अघोर भैरव के साथ हुआ था, लेकिन धूर्तों ने उसे 'कुलूत राज' की राजकुमारी के रूप में मौखरि वंश के अंत:पुर में भेज दिया। वह मौखरि राजलक्ष्मी भी बन सकती थी, लेकिन अपने सत्य के लिए उसने साधना-मार्ग को चुना।

सुचरिता : विरतिवज्त्र की पत्नी, वेंकटेश भट्ट की शिष्या। इस पात्र की आह्लादपूर्ण आस्था, सहज भक्ति-भावना द्रष्टव्य है।

चारुस्मिता : इतनी कुशल और सुंदर नर्तकी कि जिसे देखकर ही भरतमुनि ने नर्तकी के गुणों के बारे में लिखा हो।

मदनश्री : एक गणिका। उसने बाण को अपनी सुंदरता के जाल में फाँस लेने की कोशिश की, लेकिन इसका नतीजा बाण की निष्कपटता के प्रदर्शन में हुआ। उसका वर्णन निपुणिका के संस्मरण के रूप में किया गया है।

सुचरिता की सास : उसने अपने पुत्र विरतिवज्त्र को मातृत्व की सच्चाई के द्वारा सहज भाव का महत्त्व बताया।

(ग) अन्य गौण पात्र

जिनका नाम केवल उल्लेख के रूप में किया गया है उनमें से इतिहासानुमोदित व्यक्तित्व निम्नलिखित हैं :-

राज्यश्री (हर्ष की छोटी बहन, मौखरि राजलक्ष्मी), चंद्रगुप्त (गुप्तवंश का प्रथम सम्राट), स्कन्दगुप्त (गुप्तवंश का षष्ठ सम्राट), भरतमुनि (नाट्यशास्त्र का लेखक), ग्रहवर्मा (मौखरि नरेश ग्रहवर्मन), शूद्रक ('मृच्छकटिक' का रचयिता), यशोवर्मा (छठी शताब्दी का एक राजा जिसने हूणों को भगा दिया), हूण जाति (एक मंगोलियन जिसने भारत के पश्चिमोत्तर से बार-बार आर्यावर्त पर चढ़ाई की) और भर्वुशर्मा (बाणभट्ट का गुरु)।

(घ) काल्पनिक पात्र :

उपन्यास में कल्पना से उद्भूत पात्र निम्नलिखित हैं :

गोविन्द गुप्त,[30] ईश्वरसेन (आभीर सामंत), वसुभूति (विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिक), उड्डपति (बाणभट्ट का चचेरा भाई)[31], अमोघ बज्र (बौद्ध आचार्य), जटिलबटु (एक मूर्ख व्यक्ति), अघोर घंट (अति वाममार्गी शैव तांत्रिक) और चंडमुंडना (अघोर पंथ की साधिका)।

टिप्पणी

1. विशाल भारत उस समय कलकत्ता की सबसे लोकप्रिय मासिक पत्रिका थी. जब द्विवेदी जी इस उपन्यास को छपवाते थे, उस समय विशाल भारत के संपादक मोहन सिंह सेंगर थे.
2. ‘साप्ताहिक हिन्दुस्तान’, 17 से 23 जून- 1979, अंक पृ०, 22.
3. ‘विचार और वितर्क’ : गतिशील चिंतन, पृ० 148 गतिशील चिंतन
4. पूर्व दीप्ति का प्रयोग कथा विकास में किसी पूर्व प्रसंग का स्मरण कर वर्तमान कथा-सूत्र के साथ विगत घटना का संबंध जोड़ने के लिए होता है.
5. Marcel Proust, (1871-1922), French Author.
6. ‘ततः किम्’, द्विवेदी जी का एक तकियाकलाम था.
7. देखें, ‘हिंदी साहित्य सहचर’, पृ० 75.
8. ‘रोमांस में कल्पना का प्राबल्य होता है और उसमें एक ऐसे वातावरण का निर्माण किया जाता है, जो इस वास्तविक दुनिया की जटिलताओं से मुक्त रहता है पर जहाँ मनुष्य के मनोराग वैसे होते हैं, जो इस दुनिया के होते हैं’. – वही.
9. देखें, ‘हिंदी साहित्य सहचर’, पृ० 73.
10. देखें, ‘हर्ष चरित’ प्रथम, द्वितीय और तृतीय उच्छवास.
11. ‘हर्ष चरित’, पृ० 229.
12. वही - पृ० 322.
13. वही – पृ० 322.
14. गौड़ देश बंगाल का एक देश माना जाता है, जिसका राजा शशांक था.
15. ‘हर्ष चरित’, पृ० 404.
16. वही.
17. वही- अष्टम उच्छवास.
18. 612 ई०, इसी साल में 606 ई० से आरंभ होने वाले हर्ष संवत् का प्रवर्तन किया गया.
19. Dr. B.N. Srivastav, ‘Harsha and His Time’, p. 38.
20. ‘हर्ष चरित’, पृ० 240.

21. श्राद्ध– Sapind Ii karan University the Preta with the Pitaras takes either Cor the twelfth day after the Cremation, at the end of three fortnight or on the expiry of the year', p. 267 'Hindu Sānskārs', Rajbali Pandey.
22. धूम्रगिरि : इस स्थान के बारे में मालूम नहीं हो सका. जो भी हो, वहाँ विन्ध्यट वी में यह वाममार्गी योगियों का केंद्र था.
23. महायान बौद्ध धर्म का केंद्र. हर्ष युग में बौद्ध तंत्र का केंद्र.
24. 'अशोक के फूल', मेरी जन्मभूमि, पृ० 34.
25. लोरिकायन : यह लोक गाथा सारे उत्तर भारत में प्रचलित है. लोरिकायन लोरिक-चंदवा या लोरकाइन (मगही बोली में) आदि नाम से भी प्रचलित है. खासकर आभीर लोग आजकल भी शुभ अवसर पर इसे गाया करते हैं। देखें - 'मगही भाषा और साहित्य' पृ० 327 पृ० 337 डॉ० सम्पति अर्याणी.
26. द्विवेदी जी ने 'पुनर्नवा' में लोरिक को उपन्यास का नायक बनाया है.
27. इतिहास शास्त्र में राज्यवर्धन के हूण के प्रति अभियान के बाद हूणों का बड़े पैमाने का आक्रमण नहीं माना जाता है.
28. कालिदास की एक रचना.
29. M. R. Kale, 'Bāna's Kadambari', p.p. 337- 341.
30. गुप्तवंश में 'गोविन्द गुप्त' नाम का कोई राजा नहीं हैं. लेखक ने उसे जाति-भेद रहित समान के प्रवर्तक की भूमिका दी है. (देखें पृ० 249).
31. लेखक ने 'हर्ष चरित' में उल्लिखित 'तारापति' को बदल कर यह नाम रख दिया. उड्डपति का अर्थ तारा ही है.

क्या "रामचरितमानस" जनहितों के लिए लिखा गया था?

ताकाको सुगानुमा

भारतीय जनता में ही नहीं, अपितु विश्व में सर्वविख्यात "रामचरितमानस" में किस प्रकार धर्म के शासक वर्गों के स्वार्थों की छाप दिखाई पड़ती है और वह जन साहित्य का आवतरण लेकर किस प्रकार जनता को शक्तिहीन बनाने का षड़्यंत्र करता है, इस बात को साबित करने से पहले साहित्य और अन्य कलात्मक अभिव्यक्ति के संबंध में अपनी मूल मान्यता स्पष्ट करना उचित होगा।

साहित्यिक प्रक्रिया मनुष्य के जीवन की क्रिया-प्रतिक्रिया का एक अंग मात्र है। फिर भी निश्चित रूप से एक अंग होने के नाते उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। वह प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से समसामयिक सामाजिक परिवेश से आबद्ध है। लेकिन इसका अर्थ सीधे यह नहीं निकलता है कि किसी साहित्यिक रचना की सामग्रियाँ सवर्था समसामयिक समाज में से ही ली जानी चाहिए। सवाल है उस साहित्य के मूल भावों का स्वरूप।

आधुनिक हिंदी साहित्य में जनवादी साहित्य जिसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रेमचंद द्वारा स्थापित हुई है, एक ठोस धारा बनकर चल रही है। लेकिन मैं ग्रामीण जीवन का चित्रण, निम्न वर्ग की जनता के जीवन का चित्रण, जनभाषा का प्रयोग इत्यादि बाह्य रूपों को जनवादी साहित्य की कसौटी मानने वालों से सहमत नहीं हूँ। वैसे शासक वर्ग भी जनता को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए उसी तरह का प्रयास करता ही है। विषय के संबंध में भी मैं राजनैतिक नारे का अनुवाद-मात्र रूपी प्रगतिशील साहित्य को जन साहित्य मानने को भी तैयार नहीं हूँ। राजनैतिक या धार्मिक अत्याचारों का विरोध यथार्थ के स्तर पर यथार्थ रूप से होना चाहिए, न कि साहित्यिक माध्यम से। साहित्य समाज-सुधार आंदोलन का सीधे तौर पर अस्त्र बन सकता है--यह जनवादी से अलग, केवल बुद्धिजीवियों की कल्पना मात्र है। यथार्थ स्तर का यथार्थ प्रयास ही जनता में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास के लिए योगदान देगा, जनता के भीतर अचूक शक्ति प्रदान करेगा।

मुझे भारतवर्ष में साढ़े तीन साल रहकर हिंदी साहित्य तथा भारतीय संस्कृति के कुछ अंशों से परिचित होने का सुअवसर मिला था। भारत जाने से पूर्व मैं कई वर्षों से स्वतंत्र व्यक्ति का विचार किस प्रकार बन जाता है, विचारों का रूप किस प्रकार भाषिक रूप सीमा से आबद्ध है, इस विषय पर विचार करती थी। और मेरा अनुमान था कि किसी भी भाषा में सीमा अवश्य है, परंतु इस सीमा को तोड़ने का काम स्वयं भाषिक प्रक्रिया के रूप में प्रगतिशील

साहित्य ही कर सकेगा। हिंदी साहित्य अपने इस दायित्व को किस प्रकार निभा रहा है? यही जिज्ञासा थी जो मुझे भारतवर्ष तक लिवा ले गई थी।

परंतु हिंदी साहित्यि में उस प्रगतिशीलता से अधिक रूढ़िवादिता को देखकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। विश्वविद्यालय में जो-जो साहित्य का पठन-पाठन हो रहा है, उनमें आलोचनात्मक शक्ति बहुत कम दिखाई पड़ती थी। छात्र-छात्राएँ साहित्य में रस लेने में अत्यंत निपुण है, परंतु उनमें भी आलोचनात्मक शक्ति की कमी प्रतीत हुई। (मैं यह बात बहुसंख्यक प्रवृत्ति के बारे में बता रही हूँ।) इस हिंदी के साहित्यिक वातावरण की विशिष्टता का कारण सोचते-सोचते मेरा दिन बीत गया और अंत में एक उत्तर मुझे "रामचरितमानस" में मिला। दूसरे शब्दों में, भारतीय जनता की विशिष्ट प्रवृत्तियों की आधार भूमि को समझने के लिए और स्पष्ट करने के लिए उस शक्तिशाली साहित्यिक कृति के मूलभूत अध्ययन और विश्लेषण की आवश्यकता मैंने महसूस की। अतः आगे इस अध्ययन से जिस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ उसको संक्षिप्त में प्रस्तुत करना चाहती हूँ।

बाल्मीकि रामायण तथा तुलसी रचित रामरिचतमानस के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों की राम कथा में मौलिक अंतर है, जो हम लोगों को साहित्य की सामाजिकता, लेखक कवि की सोद्देश्यता की ओर नज़र डालने को मजबूर करता है। बाल्मीकि रामायण इक्ष्वाकु वंश नामक आर्य जाति की भारत के पूर्व निवासी अनार्य जाति के ऊपर विजय की गाथा है। अतः वह ऐतिहासिक भी है। परंतु तुलसी काल में अब आर्य जाति के शासक वर्ग की समस्या अनार्य जाति की न होकर आक्रमणकारी मुसलमानों की तथा उससे अधिक अपने अंतर्गत नीच कहे जाने वाली जातियों की वर्ण व्यवस्था की विरोधी शक्ति की थी। तुलसी काल में उन जातियों की शक्ति कितनी प्रबल थी, यह हम कबीर आदि मध्यकालीन संतों के साहित्य में देख सकते हैं। इतना ही नहीं, स्वयं मानस में भी उन विद्रोही शक्तियों के प्रति ब्राह्मण वर्गों का खटराग भाव स्पष्ट रूप से झलकता है।

"बाहि सूदा द्विजन-सन, हम तुम ते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रवर, आँखि देखावहिं डाँटि॥
(राम चरित मानस, उत्तर काण्ड-69ख)

महापंडित तुलसीदास जी कहते हैं कि आजकल शूद्र से नीची जाति के लोग भी ब्राह्मण जैसे उच्च लोगों के सामने आकर कह डालता है कि क्या हम तुमसे कुछ कम हैं, अर्थात् कुछ भी कम नहीं हैं। चाहे कोई ब्राह्मण जाति का हो, चाहे शूद्र जाति का; उसमें कोई स्थायी मूल्य नहीं हैं। जो निर्गुण ब्रह्म को जानता है वही श्रेष्ठ है, अन्यथा नहीं। यदि कोई जन्म से ब्राह्मण जाति का होकर भी ब्रह्म को नहीं जानता तो वह नीच है। इस प्रकार आँख दिखाकर ब्राह्मणों

को डाँटने का अधर्मपूर्ण काम कर बैठता है। यह बहुत सोचनीय दशा है। आह... कलियुग की दशा है।

इस परिस्थिति में, जन समूह में पनपने वाली उन भयंकर विद्रोही शक्तियों को तोड़कर, पुरानी ब्राह्मण प्रधान वर्ग व्यवस्था का पुनर्संगठन ही ब्राह्मण पुरोहितों की अपनी रक्षा के लिए परम आवश्यकता बनकर सामने उपस्थित थी।

ऐसे महत्त्वपूर्ण समय पर तुलसीदास संस्कृत में लिखे हुए आदर्शीय 'रामचरित' का जन भाषा में अनुवाद मात्र करने के लिए ही मंच पर नहीं आया, बल्कि वह रामकथा के माध्यम से जनता को शक्तिहीन बनाकर अपनी धर्म सत्ता की सीमा में बाँधे रखने चाहने वाले ब्राह्मणों, पुरोहितों की जनविरोधी प्रक्रिया का सहचारी बनकर आया था। तुलसी स्वयं पंडित था और ब्राह्मणों तथा राजाओं की छत्र-छाया में जीता था, तो उसकी साहित्यिक प्रक्रिया में इस परिणाम का क्या आश्चर्य? भारतवर्ष में वैष्णव, ब्राह्मणों का यह प्रयास काफ़ी सफल भी हुआ और चार सौ वर्ष बीतने पर भी जनता 'मानस' गा-गाकर; भगवान की प्रशंसा करते-करते भूखी-नंगी और भटकते हुए दिखाई पड़ती है। 'गोदान' के होरी की भाँति। क्यों जनता इतनी शक्तिहीन है? स्पष्ट है कि यह भक्ति आंदोलन का सफल परिणाम है। भक्ति आंदोलन के मौलिक उददेश्य की अभिव्यक्ति रूपी रामचरितमानस के जनहित विरोधी स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए हम बाल्मीकि रामायण तथा मानस का तुलनात्मक विचार करके देखेंगे।

जब राम अपने पिता द्वारा की गई प्रतिज्ञा के पालन के लिए अयोध्या छोड़कर लक्ष्मण, सीता सहित चित्रकूट के वन में प्रवेश करते हैं, तो वहाँ विराध नामक राक्षस के आक्रमण का सामना करना पड़ा। उस राक्षस विराध का वर्णन बाल्मीकि रामायण में सूक्ष्म रूप से किया गया है जो इस प्रकार है :-

1. नरभक्षी है।
2. गहरी आँखें, बहुत बड़ा मुँह, विकट आकार, विकराल पेट, देखने में बड़ा भयंकर, घृणित, बेडौल, बहुत बड़ा, विकृत वेश से युक्त है।
3. वह एक लोह के शूल में तीन सिंह, चार बाघ, दो भेड़िये, दस चितकबरे हरिण और दाँतों सहित एक बहुत बड़े हाथी के मस्तक को, जिसमें चर्बी लिपटी हुई थी, गूँथ कर ज़ोर-ज़ोर से दहाड़ रहा था।
4. वह 'जव' नामक राक्षस का पुत्र है, माता का नाम 'शतह्रदा' है।
5. उसने तपस्या के द्वारा ब्रह्मा को प्रसन्न करके किसी भी शस्त्र से न मारा जाने का वरदान प्राप्त किया है।
6. राक्षस होने के पहले वह तुम्बुरु नामक गंधर्व था। परंतु कुबेर के शाप के कारण राक्षस शरीर प्राप्त किया हुआ है, क्योंकि वह रम्भा नामक अप्सरा में आसक्त होकर एक दिन ठीक समय से उनकी सेवा में उपस्थित न हुआ था।

ऊपर वर्णित निशानों से अनुमान लगाया जा सकता है कि बाल्मीकि के दिमाग में एक यथार्थ जाति समूह था, जो शायद आज भी वन्य जाति के रूप में पाया जाता है। वे लोग विद्वानों के वर्गीकरण के अनुसार Austro-Asiatic नाम से जाने जाते हैं। बाल्मीकि के इस सूक्ष्म वर्णन की अपेक्षा रामचरितमानस में केवल इतना ही वर्णित है :-

जहँ-जहँ जाहि देव रघुराया, करहिं मेघ तहँ तहँ नभ छाया।
असुर विराध मिला मग जाता, आवत ही, रघवीर, निपाता।
तुरतहिं रुचिर रूप तहिं पाया, देखि-दुखी निज धाम पठावा||

(अरण्य काण्ड 6 ख-3)

यह दशा शूर्पणखा के प्रसंग में भी समान रूप से पायी जाती है। बाल्मीकि रामायण के अनुसार शूर्पणखा का वर्णन इस प्रकार है :-

1. हाथी के समान मंद गति से चलने वाली।
2. बेडौल, लंबे पेट वाली।
3. मुख भद्दा एवं कुरूप।
4. नेत्र कुरूप एवं डरावने।
5. सिर के बाल तांबे जैसे लाल।
6. रूप वीभत्स और विकराल।
7. भैरवनाद करने वाली।
8. देखने में क्रूर, हज़ारों वर्षों की बुढ़िया।
9. साँसों में कुटिलता भरी रहती है।
10. दुराचारिणी।
11. उसको देखते ही घृणा पैदा होती है।

रामचरितमानस में इस प्रकार का सूक्ष्म वर्णन नहीं मिलता है। तुलसी ने केवल इतना ही कहा है :-

सूपनखा रावन के बहिनी, दुष्ट हृदय, दारुन जसि अहिनी।

(अरण्य काण्ड 16-2)

इससे पता चलता है कि तुलसी के दिमाग में शूर्पणखा के संबंध में "दुराचारिणी" के अतिरिक्त कोई वास्तविक भाव नहीं था। इसी कारण शूर्पणखा का व्यक्तित्व कोई विशेष

जाति का न होकर नारी में नीचता का प्रतीक बनाकर वह अपना नीति-संबंधी यह कथन जोड़ देता है।

भ्राता, पिता, पुत्र, उरगारी, पुरुष मनोहर निरखत नारी।
होइ बिकल सक मनहि न रोकी, जिमि रबि-मनि द्रव रबिहि बिलोकी।
(अरण्य काण्ड 16-3)

अब लंका तथा रावण के वर्णन में तुलसी की मौलिकता किस प्रकार प्रकट हुई है, इस विषय में विचार करेंगे।

वास्तव में लंका बहुत विशाल धन संपन्न सुखमय देश था। इसका वर्णन दोनों में उपलब्ध है, यदि कोई अंतर है तो केवल मात्रा में। परंतु सूक्ष्म रूप से देखें तो यह महत्त्वपूर्ण है कि रामचरितमानस में न केवल रावण का तथा लंका वासियों का धार्मिकता संबंधी वर्णन दिखाई पड़ता है, बल्कि उसमें उनकी दुष्टता की अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन की भरमार है। बाल्मीकि रामायण के अनुसार रावण शिव का बड़ा भक्त था तथा प्रजा भी अत्यंत धार्मिक प्रवृत्ति की थी। हनुमान ने राक्षसों के घरों में बहुतों को तो मंत्र जपते हुए सुना और कितने ही निशाचरों को स्वाध्याय में तत्पर देखा। तुलसी ने लंका नगर की विशालता, सुंदरता, सैनिकों की वीरता, सुंदर स्त्रियों का वर्णन अवश्य किया था, परंतु यह भी महापंडित तुलसी दास के इतना भावानुकूल न होने के कारण साथ-साथ ऐसा बहाना करते हुए दिखाई पड़ता है।

"तुलसी ने तो इनका थोड़ा परिचय इसलिए दे डाला कि ऐसे दुष्ट राक्षस भी राम के बाणों के तीर्थ में शरीर त्यागकर निश्चय ही परम गति प्राप्त कर लेंगे।"

इस प्रकार तुलसी ने रावण को तथा समस्त लंका वासियों को धार्मिक प्रवृत्ति को चतुरतापूर्वक पीछे छिपा दिया। शायद इसीलिए कि तुलसी ने किसी भी शत्रु को धार्मिक बताना अहितकर समझा था, क्योंकि वह धर्म विरोधी होने के कारण नीच है, मारने लायक है। अतः इस प्रकार की विचारधाराओं को जनता के मन में बैठाने की आवश्यकता थी। दूसरी जगह (बाल काण्ड में) रावण तथा राक्षसों (लंका निवासियों) की अधार्मिकता संबंधी जो-जो वर्णन हैं, वह बाल्मीकि रामायण से बिल्कुल विपरीत भी हैं।

देखत भीम रूप सब पापी निसिचर निकर देव परितापी।
करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया।।2।।
जेहि विधि होइ धरम निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला।
जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाँऊँ पुर आगि लगावहिं||3||

सुभ आचरन कत है नहिं होई। देव-बिप्र गुरु मान न कोई।
नहिं हरि भगति, जग्य तप ग्याना। सपनेहुँ सुनिय न बेद पुराना॥4॥
जप, जोग विरागा, तप मख भागा, स्रवन सुनै दस सीसा।
आपुन उठि धावै, रहै न पावै, घरि सब घालै खीसा।
अस भ्रष्ट अचारा, भा संसारा, धरम सुनिय नहिं काना।
तेहिं बहु विधि त्रास, देस निकास, जो वह बेद पुराना॥8। (बाल काण्ड 182)

इन उदाहरणों से मुझे लगता है कि तुलसी ने पूर्ववर्ती संस्कृत परंपरा की 'राम कथा' को जनता के हितों के लिए जन भाषा में ज्यों का त्यों अनुवाद या सरलीकरण नहीं किया था, बल्कि अपनी युगीन परिस्थिति में ब्राह्मण वर्ग की इच्छा के अनुकूल परिवर्तित करके प्रस्तुत किया था। हाँ, यह सत्य है कि यह काम तुलसी ने पहली बार नहीं किया था। स्वयं राम कथा का इतिहास राजनैतिक, सामाजिक शक्तियों के परिवर्तन का इतिहास है। परंतु इस निबंध का विषय तुलसी की काव्य-प्रक्रिया तथा समाज के संबंध का स्पष्टीकरण होने के कारण मैं बाल्मीकि रामायण तथा मानस के मध्यवर्ती राम कथा परंपरा का विश्लेषण इसी समय नहीं करूँगी।

अब इस बात को और स्पष्ट करने के लिए आगे रामचरितमानस के मूल विषय भक्ति संबंधी तुलसी की अपनी मौलिक उक्तियों का विश्लेषण किया जाएगा।
(क्रमश:)

जनवादी लेखक काशीनाथ सिंह की कहानियाँ

शिगेओ अराकि

भारतीय समाज में मेरी रुचि सन 1975 से पैदा हुई जब मैं पहली बार भारत घूमने गया था। जहाँ मैं भारत की साधारण जनता से मिला, वहाँ मैंने इन लोगों का अस्तित्व महसूस किया। वे लोग पश्चिमी देशों की सभ्यता एवं संस्कृति अर्थात् आधुनिकीकरण की बाढ़ से प्रभावित होते हुए भी मूल रूप में अपने देशी जीवन में जीने के लिए संघर्ष कर रहे थे। जापान में सन 1967 से 72 तक मानवता की प्राप्ति के लिए राजनैतिक तथा सांस्कृतिक आंदोलन हुआ था, लेकिन यह आंदोलन शासक की शक्ति में आसानी से दबाया गया था। इसके बाद हम लोग पहले से बढ़ते हुए अकेलेपन की भावना में रहते रहे। मुझे लग रहा था कि यह अकेलेपन को भावना क्यों मेरे मन में पैदा हुई है? वह शायद देशी जीवन जीने की शक्ति अर्थात् व्यवितत्त्व (आइडेन्टिटि) खो जाने के कारण होगा और इस आंदोलन में हमारी हार का सबसे बड़ा कारण भी यही होगा। मेरी समझ आया कि जब लोग अपने व्यक्तित्व को खो देते हैं तो आसानी से पूँजीवाद तथा राष्ट्रवाद के तर्कशास्त्र के जाल में पकड़े जाते हैं। मैंने वही देशी जीवन में जीने की शक्ति भारतीय जनता में देखी।

किंतु भारत की जनता अपकारहीन इतिहास में नहीं जी रही थी, बल्कि इस दुनिया के मानव इतिहास में अभूतपूर्व उपनिवेशात्मक शासन में अर्थात् आधुनिकता में उन लोगों को लगभग दो सौ वर्षों तक सहन करना पड़ा था और अब वे लोग अपने देश के पूँजीपतियों द्वारा किए जा रहे भारतीय आधुनिकीकरण में जी रहे हैं। फिर भी मैंने उन लोगों में अस्तित्व अर्थात् अपने व्यक्तित्व में जीने की शक्ति महसूस की।

कभी केनिया के स्व० राष्ट्रपति केनियत्त ने कहा था कि पृथ्वी मनुष्य को जीने के लिए ज़रूरत में चीज़ें देती है और उससे मनुष्यों की आध्यात्मिक तथा बौद्धिक अभिलाषाओं का संतोष हो जाता है। जीने वाले और पुरखों का संबंध भी दफनाये गए पुरखों की भूमि में रहने से जोड़ा जाता है। इस प्रकार के विश्वास से गिकुयु जाति के लोग जो अफ्रीका की एक जाति है, भूमि को 'जाति की माँ' समझते हैं। इसी प्रकार की विचारधारा एशियाई एवं अफ्रीकी देशों की जनता के जीने की मूल धातु होगी। पैदा हुआ मनुष्य, ऐसे मनुष्य के संबंध से पैदा हुई जन समुदाय की नैतिकता, प्रकृति या परा-प्रकृति से भी संबंधित संस्कृति ही एशियाई एवं अफ्रीकी देशों की विशेषताएँ हैं। मैं समझता हूँ कि एशियाई-अफ्रीकी देशों की जनता के जीने का जो संघर्ष कभी उपनिवेशवाद से हो या अपने देश के शासक से हो; वह वास्तव में, ऐसी मूल धातु को नष्ट करने वालों से लड़ने का है। नष्ट हुई हमारी जीने की मूल को फिर से जीवित

करने के लिए उन देशों की जनता की विचारधारा जानने की आवश्यकता मैंने महसूस की। मैंने इसको भारतीय जनता के जीने के संघर्ष में देखना चाहा, वह भी आधुनिकीकरण की बाढ़ जी रही जनता का।

जापान की बौद्धिक परिस्थिति में भारत बौद्ध धर्म का जन्म स्थान, योगा तथा हिंदू धर्म का रहस्यमय देश, प्राचीन मूर्तिकला एवं संगीत का देश अथवा निस्सीम अमीर और नितांत गरीबों का देश समझा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारत हमारे देश का यातायात पूँजीवादी कंपनियों तथा प्रकाशन पूँजीवादी कंपनियों की इच्छानुसार बनाया गया एक प्रकार का माल है। यह माल भारत की जनता की उपेक्षा से पैदा होता है। उन लोगों का व्यापार भारतीय जनता के जीवन में विद्यमान समसामयिक समस्या, विशेषकर 'राजनीति' या 'आधुनिकता' को न दिखाने से होता है। इस प्रकार के व्यापारों से जापान के आध्यात्मिक उपनिवेशवादी की बू मेरी नाक में आती है।

मैंने भारत की जनता को समझने के लिए भारत की जनता की आवाज़ साहित्य में से सुननी चाही और विकसित देशों के पाठकों या भारत के उच्च वर्ग के पाठकों का मन संतुष्ट करने की अंग्रेज़ी भाषा की कहानियाँ नहीं, बल्कि अपने देश की साधारण जनता के बीच में रहकर जिन लोगों के जीवन तथा भाग्य को देखते-देखते जनता के लिए लिखने वाले लेखकों की कहानियाँ पढ़नी चाही। वह भारतीय जनता के जीने के संघर्ष से प्रेरणा ली। यह अपनी भावना को स्थिर बनाने के लिए ज़रूरी था। लेकिन जापानी भाषा में अनूदित आधुनिक भारतीय साहित्य पढ़ना लगभग असंभव प्रतीत होता है। अध्ययन के क्षेत्र की पत्रिकाओं में छपी कहानियों के अतिरिक्त प्रेमचन्द की कहानियाँ ही हमें देखने को मिलेंगी। अब तक जापान में भारतीय साहित्य का अर्थ ऐसा समझा जाता है कि संस्कृत साहित्य अर्थात् वेद, उपनिषद् अथवा पाली भाषा में रचित धर्म साहित्य। अगर ऐसा नहीं तो नॉबेल पुरस्कार से पुरस्कृत रवीन्द्र नाथ ठाकुर की कविताएँ ही भारतीय साहित्य समझा जाता। वह भी बंगला भाषा में नहीं, अंग्रेज़ी भाषा में अनूदित कविताएँ। इस प्रकार की प्रवृत्ति सिर्फ़ भारतीय साहित्य में ही नहीं, बल्कि अन्य एशियाई-अफ्रीकी देशों के साहित्य में भी होती है। इससे हमारे देश के पाठकों की परिस्थिति समझी जा सकती है।

मैंने भारत की जनता को आवाज़ सुनने के लिए हिंदी भाषा सीखना शुरू किया। मैंने साधारण यानी दलित वर्ग के लोग तथा श्रमजीवियों की आवाज़ अपनी कलम की शक्ति में बदल कर लिखने वाले लेखकों की रचनाओं को पढ़ना चाहा। उनको ढूंढने के लिए मुझे भारतवर्ष में अपने आप घूमना पड़ा और उसके परिणामस्वरूप मुझे काशीनाथ सिंह को कहानियाँ मिली।

काशीनाथ सिंह की कहानियों का विश्लेषण करने से पहले आधुनिक हिंदी साहित्य का संक्षिप्त परिचय देना चाहूँगा।

अगर मध्यकालीन भक्ति साहित्य को हिंदी साहित्य का प्रथम स्वर्ण युग मान लिया जाय तो सन् 1920 से 40 के स्वतंत्रता संग्राम के दौरान के साहित्य को दूसरा स्वर्ण युग कहा जा सकता है। इस युग के प्रतिनिधि प्रेमचन्द हैं। तीसरा युग सन 1947 के स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से शुरू होता है।

स्वतंत्रता के बाद के 15 वर्ष रोमानियत का युग है। इस साहित्य की विशेषता 'भावना का सत्य' एवं 'ग्रामीण जीवन के दृश्य का चित्रण' है। ग्रामीण जीवन के एक दृश्य को भावुक सहानुभूति की विशेषता साथ चित्रण करना अर्थात् ग्रामांचलिकता इस युग की सबसे बड़ी विशेषता थी जिसके कथाकार के रूप में फणीश्वरनाथ रेणु, मार्कण्डेय आदि औरों के नाम आते हैं। इसके अलावा इस युग रोमानियत की कहानियों का अंत हमेशा सुख में होता है।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर एवं हिंदी साहित्य के जाने-माने आलोचक डॉ० नामवर सिंह लिखते हैं कि इस युग की अधिकांश कहानियाँ असंतोष की भावना से भरे समाज में आशा और भरोसा पाठकों तक पहुँचाती हैं। भारत-पाक विभाजन के दौरान हुए दंगे, राजनैतिक गड़बड़ी, कांग्रेस पार्टी की अवनति, सुधारहीन ग़रीबी आदि की सामाजिक असंगतियों को स्वीकार करते हुए भी, इस युग के लेखक असंगतियों का विरोध किए बिना नेहरू की आशावादी समाजवाद की नीति पर आशा तथा भरोसा रखते थे, पर इस प्रकार की रोमानियत सन् 1960 के आस-पास चरम सीमा तक पहुँचने के बाद आत्मवाद और रहस्यवाद की ओर परिवर्तित होकर समसामयिक युग के कष्टों की अभिव्यक्ति करने लगी। ये आत्मवाद तथा रहस्यवाद की विचारधाराएँ पश्चिमी देशों की साहित्यधारा के प्रभाव के प्रति हिंदी साहित्य पर अभिव्यक्ति अथवा भारत-पाक विभाजन के बाद भारत में पैदा हुए हिंदू-मुसलमानों के तनावों की एक प्रकार की प्रतीक ही नहीं, बल्कि युग के आशाहीन वातावरण का प्रतिबिंब भी थी। इनको ध्यान में रखते हुए फिर से रूमानी विचारधारा पर नज़र डालें, तो किसी भी विचारधारा को हटाना "भावना का सत्य" स्वयं विकासशील देशों की साहित्य धारा के लिए उचित नहीं होगा। स्वतंत्रता प्राप्ति तक पूरी गति से सामाजिक विषयों को लेकर जो लेखक लिखते थे वे स्वतंत्रता के बाद क्यों रोमैंटिकवाद अपनाने लगे? इस परिवर्तन में आधुनिक हिंदी साहित्य की स्थिति समझने का रहस्य होता है। इसके संदर्भ में कहा गया है कि 15 अगस्त सन् 1947 से वर्ग संघर्ष नए रूप में परिवर्तित होने लगा अर्थात् जब तक अंग्रेज़ी उपनिदेशवाद के प्रति आंदोलन जारी रहा तब तक श्रमिक वर्ग, मध्य वर्ग एवं पूँजीपति वर्ग के लोग संयुक्त रूप से संघर्ष कर रहे थे, परंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यानी 15 अगस्त से श्रमिक वर्ग मध्य वर्ग, पूँजीपति वर्ग के बीच में विभाजन हुआ। मध्य वर्ग के अंदर में भी कई प्रकार के विभाजन हुए और इन विभाजन हुए वर्गों के बीच में परस्पर विरोध पैदा हुआ। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने देश का स्वतंत्रता के अवसर पर अपनी पार्टी और कांग्रेस पार्टी को संयुक्त कार्य-नीति को फाड़ कर कांग्रेस पार्टी की तीव्र निंदा की। कम्युनिस्ट पार्टी का विश्वास था कि कांग्रेस पार्टी

साम्राज्यवाद के रास्ते पर चलने लगी। इस वस्तुस्थिति में प्रगतिशील लेखकों का भी साम्यवादी लेखक और ग़ैर-साम्यवादी लेखकों में विभाजन हुआ और परस्पर विरोधों से ग़ैर-साम्यवादी लेखक स्पष्ट रूप से साम्यवादी विरोधी लेखक बनने लगे। उन लोगों ने मार्क्सवाद के प्रति देशभक्ति एवं मानवतावाद के नारे उठाए। परंतु बाद में उन्हें भी स्वीकारना पड़ा कि भारतीय कांग्रेस पार्टी की कार्य-नीति भारतीय समाज की समस्याओं के समाधान के लिए न होकर साम्राज्यवादी नीति की ओर चल रही है और इसके अलावा उन लोगों का मानवतावाद का नारा भी असल में अमेरिकी साम्राज्यवाद के प्रचार का एक अंश ही है। तब उन लोगों ने अंतिम आशा के रूप में कांग्रेस पार्टी के नारों में से वैयक्तिक स्वतंत्रता को अपना कर समस्त वाद विचारधाराओं को हटाकर "भावना की स्वतंत्रता" पर बल दिया था और उसी के द्वारा वे लोग वास्तव में भाववाद अथवा रहस्यवाद की ओर मुड़ गए थे। उन लोगों ने ऊपर से ज़रूर नेहरू की नीतियों का विरोध तो किया था, पर अपने मन में नेहरू युग के बनाए गए सपने का समर्थन किया था। इन लोगों के प्रभाव से स्वतंत्रता के 15 वर्षों में यथार्थ से लड़ने की प्रवृत्ति कम हो गई, साथ ही साम्यवादी लेखक भी अपनी पार्टी के सिद्धांत के आधार पर ही लिखने के कारण यथार्थ से नहीं लड़े। अगर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के 15 वर्षों को "माया का युग" कहें, तो 1960 से "मोह भंग का युग" कहा जा सकता है।

सन् 1962 के भारत-चीन सीमा युद्ध में भारत की हार और सन् 1964 के नेहरू का देहांत, नेहरू युग की आशावादी कल्पना का अचानक पतन था। नेहरू के देहांत के बाद जनता के सामने समस्याओं से भरा हुआ यथार्थ उभर आया। इस वातावरण में रूमानी साहित्य की उन्नति की आशा ही नहीं थी। पुराने लेखक खामोश रहे और नई पीढ़ी के कथाकार साहित्य के मंच पर आने लगे। जिन्होंने जन मुक्ति संग्राम तथा देश का स्वतंत्रता संग्राम भी नहीं देखे थे, उन लोगों ने अमेरिकी कविता से प्रभावित होकर अपनी कृतियों द्वारा परंपरागत हिंदी साहित्य तथा भारतीय समाज पर असंतोष और क्रोध की अभिव्यक्ति की, पर उन लोगों के विरोध तथा आक्रमण की आवाज़ों की बाढ़ भी तूफान की तरह चली गई। इससे भी अधिक नई पीढ़ी का मन आकर्षित करने वाली थी नई वामपंथी विचारधारा। यह भी पश्चिमी देशों की तुलना में इसका सिद्धांत स्पष्ट नहीं था। तात्पर्य यह है कि पश्चिमी देशों से आयातित विचारधारा एवं आंदोलन ने भारत में कोई नया बहुमूल्य सृजनशील साहित्य पैदा नहीं किया और पश्चिमी देशों से आयातित विचारधारा चली जाने के बाद फिर नए कथाकार मंच पर आने लगे। वे लोग आंदोलन एवं गुटों से अलग रहकर यथार्थवादी दृष्टि से कहानियाँ लिखते थे। इन कथाकारों में से एक काशीनाथ सिंह थे। वे अपनी रचनाओं को अपने देश की जातीय साहित्यिक परंपरा में जुड़ा रखकर आलोचनात्मक समाजवादी यथार्थवाद' कहते हैं।

काशीनाथ सिंह का जन्म कब हुआ, यह उन्हें भी ठीक से नहीं मालूम। सन् 1936 या 1937 की किसी तारीख को वाराणसी के जीवनपुर में वे जन्मे। आरंभिक शिक्षा गाँव में पाई।

काशी हिंदू विश्व विद्यालय से हिंदी में एम०ए० और पी०एच०डी० की। सन् 1964 से काशी हिंदू विद्यालय के हिंदी विभाग में अध्यापक रहे। सन् 60 में साहित्यिक पत्रिका "कृति" में पहली बार कहानी प्रकाशित कराने के बाद उन्होंने अब तक लगभग 50 कहानियाँ लिखीं। अब तक कहानी संग्रह "लोग बिस्तरों पर" (सन्' 68), "सुबह का डर" (सन् '75), आदमीनामा" (सन् 78), "नई तारीख" (सन् '79) प्रकाशित हैं और उपन्यास "अपना मोर्चा" (सन् 71) भी प्रकाशित किया गया। इसके अलावा वे नाटक भी लिखते हैं। वे सभी कृतियाँ हिंदी में लिखते हैं।

रचना का विश्लेषण करने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि साहित्य से किस प्रकार की प्रेरणा लेनी है, यह हर पाठक को स्वयं निश्चय करना है। लेकिन एशियाई तथा अफ्रीकी साहित्य हमारे देश के साहित्य से सामाजिक एवं साहित्यिक पृष्ठभूमि में थोड़ा-बहुत भिन्न है। इसलिए मैंने जो काशीनाथ सिंह की कहानियाँ पढ़ीं, उनसे मैंने क्या सोचा या महसूस किया, वह भी शायद भारत के पाठकों से भिन्न होगा। इसी कारण से काशीनाथ सिंह की कहानियों की मेरी समीक्षा अर्थहीन नहीं होगी।

1. एक बूढ़े की कहानी

बाढ़ की पाँचवीं रात को एक फुटपाथी बुड्डा फुटपाथी युवकों को बलात्कार की कहानी सुनाता है। वे लोग गंदी बातें तो करते हैं, फिर भी बुड्ढे के मन की संवेदनशीलता बहुत कोमल और नीतिपूर्ण प्रतीत होती है। लेखक के इस चित्रण से भारत के निम्न वर्ग की परिस्थिति तथा उन लोगों की भावनाओं का अनुमान लगाया जा सकता है। लेखक जो रात को फुटपाथ पर गंदी बातें करते हैं, उन दलित वर्ग के लोगों का चित्रण करना चाहते थे कि नहीं? लेखक निम्न वर्ग के लोगों के गंदे वार्तालाप से भी कहीं अधिक गंदी बात पाठकों के सामने पेश करना चाहते होंगे। वह यह है कि बुड्ढा युवकों से मारा जा रहा है। उसको देखते हुए भी खामोश रहता 'मैं' अर्थात् उन लोगों से अलग समझदार 'मैं'। 'मैं' सोचता है कि मैं उन फुटपाथी जीवों की तुलना में अलग हूँ। मकान वाले 'मैं' का स्वार्थी भाव तथा समझदार को लेखक ने चित्रण करना चाहा होगा और वह दृष्टि पाठकों के मन में उभर आती है।

2. हस्तक्षेप

इसमें झगड़ा-फ़साद से मज़ा लेने वाले एक छोटे से मुहल्ले के लोगों के दैनिक जीवन का दृश्य चित्रित किया गया है। इसमें लेखक ने उस मुहल्ले के लोगों की तुच्छता तथा भद्देपन को स्पष्ट रूप से चित्रित किया है, वह भी अपनी ममता और सहानुभूति के साथ। इस ममता और सहानुभूति के भाव से इस कहानी को पढ़ने में चेहरे पर मुस्कराहट उभर आती है। झगड़ा-फसाद करने वालों के बीच में बकवास करते-करते, आते-जाते लड़के के मन में एक प्रकार

का निस्सीम कोमल भाव प्रतीत होता है। इस प्रकार की भावना भारत के भविष्य की एक 'आशा' होगी और इसकी अभिव्यक्ति करना लेखक का मूल उद्देश्य होगा|

यह भारत के हिंदू-मुसलमानों के बारे में हमें सन् 1947 के भारत पाकिस्तान विभाजन के दौरान सांप्रदायिक दंगों अथवा विभाजन के बाद हुई घटनाओं की याद दिलाती है। इस तरह की सांप्रदायिकता अंग्रेज़ी शासन में अंग्रेज़ी उपनिवेशवादियों के द्वारा लोगों के विभाजन हेतु बनाई गई थी और अब भी उस वक़्त के सांप्रदायिक दंगों के प्रभाव से कभी-कभी तनाव भी पैदा होता है। परंतु साधारणतः दोनों शांतिपूर्ण ढंग से रहते हैं। भारत की जनसंख्या में से मुसलमानों को आबादी 10 प्रतिशत है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले हिंदी साहित्य में मुसलमानों का जीवन चित्रण बहुत किया गया था, पर विभाजन के बाद उनका चित्रण लगभग शून्य के बराबर हो गया। इस प्रकार की प्रवृत्ति के विपरीत इस कहानी में मुसलमान "रसूल मियाँ" को नैतिक व्यक्ति बनाया गया है। यह इस कहानी की एक विशेषता है, परंतु इसकी तुलना में बहुसंख्यक हिंदू की बिगड़ी हुई नैतिकता की समालोचना करना उचित नहीं है। लेखक हिंदू-मुसलमान की सांप्रदायिता को पार कर मुहल्ले में बसने वाली साधारण जनता के दैनिक जीवन को सहानुभूति के साथ चित्रित करता है। "भाइयो, सिर्फ़ पाँच मिनट" का वाक्य और 'बूट हौस' में नाई का रहना "हिंदू कटिंग सैलून" में चटाइयाँ बीनने वाले के रहने की अजीब-सी बात कहानी पढ़ने के बाद सब मालूम हो जाती है। इस प्रकार का प्रयोग लेखक ने इस कहानी में किया है और यह सफल हुआ है।

3. चोट

यह गाँव में एक साथ पढ़े-लिखे लड़कों की कहानी है। ठाकुर जाति के लड़के और गड़रिए के लड़के की पढ़ाई खत्म होने के बाद एक रेस्तराँ में मुलाकात होती है। अब गड़रिए का लड़का किसी सरकारी दफ़तर का चपरासी बन गया था और ठाकुर का लड़का रेस्तराँ का नौकर। नौकरी की दृष्टि से, रेस्तरों की नौकरी से सरकारी दफ्तर के चपरासी की नौकरी ऊँची है। यह कहानी इस प्रकार के वर्ग की अदल-बदल से पैदा हुई दोनों लड़कों की मनोवैज्ञानिक भावना का चित्रण है। चपरासी और रेस्तराँ के नौकर में इतना अंतर नहीं है। दोनों निम्न वर्ग की जनता हैं। फिर भी एक दूसरे को नीचा दिखाना चाहते हैं। इस प्रकार की भावना से झगड़ा उत्पन्न हो जाता है। दोनों के झगड़े में रेस्तराँ के मालिक और नौकर का एक संबंधी भी शामिल हो जाते हैं। आखिर ठाकुर के लड़के को गड़रिए के लड़के से माफ़ी माँगनी पड़ी। पर उस वक़्त अपने साथियों, जिन लोगों के साथ तीन साल गुज़ारे थे, मालिक की उदासपूर्ण नज़र देखकर ठाकुर का लड़का पूरी ताकत से मालिक के जबड़े पर एक घूंसा मारकर बाहर चला जाता है। इस कहानी में चित्रित निम्न श्रम वर्ग की भावना देखने से मेरे मन में जापान के छोटे मुहल्ले के लघु कारखाने में काम करने वाले युवा मजदूरों की परिस्थिति एवं भावना भी याद आती है

और मेरे दिल में दर्द होता है न जाने क्यों! दो ग़रीब लड़कों के आपस में आघात पहुँचाने की पृष्ठभूमि में परंपरागत जाति प्रथा एवं आधुनिकता मिश्रित समाज का यथार्थ है। कहानी "चोट" स्वयं "आधुनिकीकरण" से लगी चोट का दर्द है।

4. निधन

इस कहानी में चित्रत नीम का पौधा बाबू के लिए जीने की आशा का प्रतीक है। लगता है कि वह उनका बहुमूल्य पदार्थ है। इसके विपरीत जो आँधी पौधे को उखाड़ कर तोड़ देती है यानी बाबू की आशा को छिन्न-भिन्न कर देती है, वह हिंसा कही जा सकती है। उसे ध्यान में रखकर पढ़ें तो आँधी की हिंसा सामाजिक या राजनैतिक हिंसा प्रतीत होती है। जो बाबू ने नीम के पौधे पर कल्पना की है, वह लेखक के समाज परिवर्तन अर्थात् 'मानवता की मुक्ति' के प्रतिबिंब के आधार पर की गई है। इस कल्पना में प्रकृति के प्रति साधारण आदमी का वात्सल्य भाव और लोगों के प्रति नियति की अभिव्यक्ति होती है। लेखक ने इनको भारत के विशिष्ट बुड्ढे द्वारा चित्रित किया। शायद बाबू की भावना स्वयं लेखक की भावना होगी। इसके साथ लेखक इस कहानी द्वारा तेज़ गति से आने वाले आधुनिकीकरण की बाढ़ से घटित देशी जीवन के भाग्य को सोच कर आधुनिकता का विरोध करना चाहता है। इस कहानी को पढ़ने से यह भी लगता है कि बहुमूल्य पदार्थ की रक्षा करने से न कर सकती साधारण जनता का जीवन, जिसकी निर्बलता हमारे मन को उत्तेजित करती है।

5. चाय घर में मृत्यु

इसमें एक विधवा की मृत्यु का चित्रण है। वह ज़िंदगी भर काम करते-करते अपनी मृत्यु के वक़्त भी सफलता की चिंता करके और कुछ दिन जीने की आशा रखती है। लेखक ने मृत्यु का यथार्थवादी दृष्टि से अच्छी तरह वर्णन किया है। एक साधारण जनता की मृत्यु की गंभीरता की तुलना में चाय घर में बताई गई मृत्यु की गंभीरता कितनी हल्की है।

6. अपना मोर्चा

इस उपन्यास में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में सन् 1967 में हुए छात्र आंदोलन के आधार पर शहर तथा विश्वविद्यालय को "आधुनिकता" का चित्रण किया गया है। विश्वविद्यालय में जो आशाहीन युवक उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, वह शिक्षा समाज में उपयोगी नहीं है। वे लोग उच्च शिक्षा प्राप्त करने को वजह से अपने गाँव में काम करना नहीं चाहते। ज़मीन, श्रम, और जनता से अलग होकर देशी जीवन में जीने की भावना खोए उन युवकों को आधुनिकता की माया में अपना अस्तित्व ढूँढना पड़ता है और इस आधुनिकता की माया में उन्हें जीना ही पड़ेगा।

इस उपन्यास का नायक दुःख से भरे स्वरों में युवकों के पतन के बारे में बोलता है जो आधुनिकता से उत्पन्न होती है। उनकी आशाहीनता तथा पतन को पृष्ठभूमि में भारतीय समाज की सुधारहीन ग़रीबी है और उपनिवेशवादी शासन में शुरू हुआ आधुनिकीकरण है। आज की आधुनिकता उस शासन की आधुनिकता को बिना तोड़े होता है यानी आज की आधुनिकता शुद्ध भारतीय आधुनिकता नहीं है। शिक्षा के संदर्भ में कहा जा सकता है कि उपनिदेशवादी शासनकालीन शिक्षा उस सरकार के लिए सेवा करने वाले तथा जनता का शोषण करने वाले भारतीय अधिकारी बनाने के लिए थी। बिना क्रांति के स्वतंत्रता और आधुनिकता इस शिक्षा प्रणाली को परिवर्तित नहीं कर सकी। इसलिए छात्र समझते हैं कि शिक्षा पाने से बिना श्रम के अच्छी नौकरी मिल सके और अच्छा वेतन मिल सके। अर्थात् छात्र जितनी उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं उतना ही वे लोग अपने घर गाँव तथा अपने वर्ग से दूर होते जाते हैं। जो नायक मध्य वर्ग का शिक्षित आदमी है वह गाँव छोड़कर विश्वविद्यालय में अध्यापक बन गया है। विश्वविद्यालय का अध्यापक होकर अच्छा वेतन लेने के कारण नायक स्वयं आधुनिकता का मार्गदर्शक है। नायक की वितृष्णा भरी नज़र सिर्फ़ अपने सहयोगी अध्यापकों पर ही नहीं पड़ती जो बिना किसी संदेह के अर्थहीन शिक्षा दे रहे हैं, बल्कि अपने ऊपर भी पड़ती है जो स्वयं इस प्रकार के शिक्षण पर प्रश्न चिह्न लगाता है। बौद्धिक आदमी होने के नाते सिर्फ़ सोचता हो रहत। है "मैं यह सब देखता हूँ और सोचता हूँ..... सोचता हूँ और देखता हूँ और घर लौटता हूँ तो निढाल पड़ जाता हूँ।" नायक अपने आप परेशान हो जाता है। नायक के विपरीत 'ज्वान' देशी जीवन तथा जनता की ओर से आधुनिकता पर सीधा हमला करता है। लेखक 'ज्वान' के मुँह से जनता के संघर्ष को प्रतिबिंब और भारत के भविष्य के समाज को बतलाता है।

जहाँ तक भारतीय छात्र आंदोलन का सवाल है, मेरे विचार में भारतीय छात्र आंदोलन जनता के साथ समाज व्यवस्था बदलने के लक्ष्य से कहीं अधिक अपने विशेष अधिकार, दूसरे शब्दों में छात्र नायक अधिकार लेकर अपने कॉलेज एवं विश्वविद्यालय के जनतान्त्रिक परिवर्तन और अपने हितों के लिए चलता है। इस प्रकार की पृष्ठभूमि में राजनैतिक संघर्ष होता है अर्थात् कांग्रेस पार्टी एवं ग़ैर-कांग्रेस पार्टी का परस्पर विरोध। कांग्रेस पार्टी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से मार्च 1977 तक भारतीय शासन चलाती आ रही थी। इसी दौरान राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों का उच्च पद अर्थात् कुलपति का पद भी सत्ता के लिए था। छात्र आंदोलन का लक्ष्य ग़ैर-कांग्रेस पार्टी के साथ मिलकर कांग्रेस पार्टी गुट के कुलपति के इस्तीफे की माँग का अभियान चलाना था। कांग्रेस पार्टी नेहरू युग के समाजवादी एवं अंतर्राष्ट्रीयवादी मार्ग पर हो अथवा ग़ैर-कांग्रेसी पार्टी जनवादी मार्ग पर चलती हो, दोनों बुनियादी तौर पर अल्पसंख्यक पूँजीपतियों के हितों के लिए हैं। शिक्षा संस्थान में भी स्थिति में कोई अंतर नहीं है। छात्र आंदोलन के नेता होने से नेतागण बाहर के राजनैतिक

संगठनों से संबंध रख सकते हैं और इस संबंध से कभी राजनैतिक पद अथवा नौकरी भी प्राप्त कर सकते हैं।

इसलिए वे लोग भी अपने हितों के लिए सोचते हैं कि कुछ करना ही चाहिए। इसीलिए छात्र संघ के नेता बोलते हैं, "आठ साल बाद जब हमारे हाथ यूनियन वापस आई है तो कुछ हो जाना चाहिए।" और "कुछ" होने के लिए भूखमरी, सूखा, ग़रीबी, मुद्रास्फीति जैसे जनता के जीवन से संबंधित विषय छात्र आंदोलन के विषय नहीं बने। अतः "कुछ" करने के लिए नेतागणों ने लोकसभा में आने वाले भाषा विधेयक को चुन लिया। नेताओं के हितों के लिए "कुछ" करने के आंदोलन के खिलाफ जनता की ओर से जनता के हितों के लिए संघर्ष करने को लाल और युवा ने कहा। अंग्रेज़ी उपनिवेशवादी शासन में शासकीय भाषा अंग्रेज़ी थी। इसलिए अंग्रेज़ी के खिलाफ आंदोलन चलाना जन मुक्ति संग्राम का एक महत्त्वपूर्ण अंश बना था। अंग्रेज़ी सरकार ने देश को रियासत और केंद्रीय शासित राज्यों में विभाजित किया था। इसके प्रति ग़ैर-उपनिवेशवाद एवं गैर-रूढ़िवाद के संघर्ष ने जनभाषा के आधार पर प्रदेश के विभाजन को माँगा। स्वतंत्रता संग्राम में भाषा ने बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, परंतु अब भाषा के संदर्भ में जो युवा और लाल बोलते हैं, वह अंग्रेज़ी उपनिवेशवादी शासनकाल से कुछ भिन्न है। लाल कहता है--"भाषा का अर्थ है जीने की पद्धति, जीने का ढंग। भाषा यानी जनतंत्र की भाषा, जनतांत्रिक अधिकारों की भाषा, आजादी और सुख ज़िंदगी के हक की भाषा।" इन वाक्यों से स्पष्ट है कि अंग्रेज़ों के चले जाने के बाद भी जनता को मुक्ति नहीं मिली। उपनिवेशवादी शासन चले जाने के बाद अपने देश में नया शासन चलता है तब से नया वर्ग संघर्ष भी पैदा हो जाता है। खैर, भाषा आंदोलन कांग्रेस पार्टी के प्रति असंतोष की भावना को बदलने के लिए किया गया था। आंदोलन असफल होने के अगले दिन बरगद के नीचे इस उपन्यास के पात्र इकट्ठा होते हैं। हमेशा 'जवान, जवान' पुकार कर संबोधित करने की आदत से बनाया गया 'ज्वान' नामक नायक शायद युवकों के प्रति आशा के प्रतीक रूप में बनाया गया है। नायक 'युवा', 'लाल' और नायिक रेखा भादुढ़ी है। वे लोग सब के सब लेखक के आदर्शपूर्ण विचार से बनाए गए पात्र हैं। रेखा भादुड़ी असली महिला का नाम है परंतु असली रेखा भादुड़ी बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में नहीं पढ़ती। उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय में छात्र आंदोलन का नेतृत्व किया था। महिला की असामाजिकता कभी-कभी उपन्यास का विषय बनी है। इस लेखक ने भी महिला के आदर्श के रूप में उनका नाम इस्तेमाल किया है। ये नायिका, नायक लेखक के आदर्शपूर्ण विचार के आधार पर बनाए गए थे। इसलिए उन लोगों का अस्तित्व इस उपन्यास में चित्रित किए गए अन्य पात्रों की तुलना में बहुत अस्पष्ट प्रतीत होता है, परंतु आधुनिक साहित्य को यथार्थवादी दृष्टि से देखें तो इस प्रकार की अस्पष्टता महसूस की जाती है। मैं पहले लिख चुका हूँ कि यह उपन्यास सन् 67 के छात्र आंदोलन के आधार पर लिखा गया है। इसलिए उपन्यास में लिखा गया छात्र आंदोलन

यथार्थ से इतना भिन्न नहीं है, परंतु यथार्थ और कहानी में ज़रूर अंतर होता है और होना ही चाहिये। क्योंकि इस अंतर में ही लेखक की कल्पना (इमेजिनेशन) उभर कर आती है। अगर साहित्य की मौलिक कृतियों अर्थात् रचनाओं में शब्द-शक्ति कितना यथार्थ तक पहुँचकर उसे प्रभावित करेगी, इसी दृष्टि से देखें तो इन नायिका-नायिकों का पात्र बहुत महत्त्वपूर्ण और अस्पष्ट अस्तित्व स्पष्ट हो जाता है। लेकिन यथार्थ जीवन में हम लोग इस तरह के आदमियों से भी न मिलकर अकेले अंतहीन संघर्ष कर रहे हैं। इसलिए जो ज्वान ज़ोर से चिल्लाता है-- ''क्या ये बारी-बारी से होने वाले आंदोलन एक साथ नहीं हो सकते? एक ही साथ और एक ही बात के लिए?'' परंतु चिल्लाहट-चिल्लाहट में खत्म होकर कभी एक बात के लिए एक साथ काम नहीं चलता।

इसलिए अंतिम अध्याय में नायक के अध्यापक ने निश्चय किया कि रायफल के प्रति काग़ज़ पर कम से कम "अपना मोर्चा" बनाना है। शत्रु और अपने को भी कभी माफ़ नहीं करता "अपना मोर्चा"। भारतीय जनता को; जैसे लाल बोलता है वैसे ही अपनी सामाजिक चेतना को जाग्रत कराने का मौका भी नहीं मिलता, वे लोग ग़रीबी के स्तर से भी नीचे का जीवन जी रहे हैं। जिस प्रकार के समाज में आदमियों का संयुक्त मोर्चा नहीं बना सकता, उस समाज में आपसी संबंधों को काटने की जाति प्रथा एवं आधुनिक समाज व्यवस्था होती है। संयुक्त मोर्चा के बारे में मुझे एक बात याद आती है कि सन् 1967 से 72 तक के नक्सलवादी आंदोलन के दौरान बौद्धिक वर्ग और निम्न वर्ग के लोगों ने संयुक्त मोर्चा के रूप में इस आंदोलन को चलाया था और इससे कांग्रेस पार्टी भयभीत हो गई थी। जापानी लोगों का आपसी संबंध भी भारत जैसा ही है। इसलिए अब युग आ गया है कि जापान के बौद्धिक लोगों को भी कम से कम कागज़ पर अपने मोर्चा की स्थापना करनी चाहिए। इससे वे अपने अस्तित्व को अभिव्यक्त कर सकेंगे।

अंतिम अध्याय पढ़ने के बाद मैंने महसूस किया कि यह कहानी कभी समाप्त नहीं होती। नायक के अध्यापक तीसरी मंजिल पर एक कंगूरे के पास खड़े होकर पुलिस द्वारा कब्जा किए गए कैम्पस देख रहे हैं, जिसमें कोई छात्र-छात्राएँ नहीं हैं। इस परिस्थिति ने अलग होकर विश्वविद्यालय के अध्यापक लोग अपने हितों के लिए बातें करते हैं। विश्वविद्यालय खुल जाने के बाद छात्र-छात्राएँ आते हैं। घटना पैदा हो जाती है, आंदोलन शुरू हो जाता है। पुलिस आती है, विश्वविद्यालय अनिश्चित काल के लिए बंद हो जाता है, आंदोलन असफल हो जाता है और अध्यापक तीसरी मंजिल पर एक कंगूरे के पास खड़े होकर कैम्पस देख रहे हैं। अंतिम अध्याय प्रथम अध्याय से जुड़ता है।

भारतीय समाज के यथार्थ और लेखक की यथार्थ-पहचान को सोचें तो कहानी का अंतिम अध्याय और प्रथम अध्याय जुड़ जाने की बनावट सबसे अच्छा उपाय है और यथार्थपूर्ण है। प्रथम अध्याय से अंतिम अध्याय और फिर अंतिम अध्याय से प्रथम अध्याय

को लौट जाने का यह चक्र चौरस स्तर में लिखा गया चक्र है या घूमते-घूमते कहीं चलने वाला चक्र है? अगर घूमते-घूमते कहीं चलने वाला चक्र हो तो 'ज्वान', 'लाल', 'युवा' जैसे कल्पित अस्तित्व, यथार्थ में अस्तित्व होकर मज़बूत होने से होगा और अपने को और साधारण जीवन को गौर से देखकर अपने को बदलने से होगा।

काशीनाथ सिंह ने पहले मुझसे कहा कि साहित्यकारों को जनता से प्रेरणा लेकर अपनी कृति द्वारा जनता को सिखाना चाहिए और साहित्य जनता का चित्रण करके जनता के लिए लड़ने की चीज़ होनी चाहिए। यह उनका मूल सिद्धांत होगा। उनकी कहानियों में साधारण जनता अर्थात् मध्य वर्ग एवं निम्न वर्ग के लोगों के दैनिक जीवन का चित्रण है। हिंसात्मक राजनीति और आधुनिकता के बीच में रहती जनता के दैनिक जीवन को सहानुभूति के साथ-साथ आलोचनात्मक दृष्टि से लिखने का प्रयास वे कर रहे हैं। वे जनता एवं शिक्षित लोगों से यह पूछते हैं कि इस स्थिति में जनता को क्या होना चाहिए और शिक्षित लोगों को क्या होना चाहिए, क्योंकि जनता और शिक्षित लोग ही सामाजिक क्रांति की मुख्य भूमिका निभाने वाले हैं। साहित्यकार बिना क्रांति की स्वतंत्रता से पैदा हुए वातावरण के कलेश और राजनीति से संन्यासी होकर रोमांटिकवाद, रहस्यवाद और अस्तित्ववाद की ओर मुड़ गए थे, परंतु अब उन वादों को पार कर इस समसामयिक युग का वस्तुस्थिति को सही रूप से चित्रित करने की साहित्य की प्रवृति पैदा हो रही है। इस साहित्य की धारा में काशीनाथ सिंह का नाम पहले आता है। लेकिन वे हिंदी साहित्य की परंपरा से बिल्कुल कटे हुए नए साहित्यकार नहीं हैं। वे अपने देश की परंपरा से जुड़े रह कर यथार्थवादी दृष्टि से लिखने के आलोचनात्मक समाजवादी लेखक हैं। उन्हें सन् 1973 के दिल्ली सेमिनार की घोषणा के अनुसार लिखने वाले जनवादी लेखक भी कहा जा सकता है। अंत में, मैं और एक बात कहना चाहूँगा कि काशीनाथ सिंह पहले से पूँजीवादी साहित्य की उपेक्षा करते हैं और साम्यवादी लेखकों के बारे में उनका कथन है कि वे लोग अपनी कृतियों में ही क्रांति को सफल बना देते हैं। इसलिए यथार्थ पर वे लोग इतना ध्यान नहीं देते यानी वास्तविक स्थिति की उपेक्षा करके कल्पनात्मक क्रांति के चित्रण करने से यथार्थ में कभी सही क्रांति की ऊर्जा पैदा नहीं होगी।

जापानी जीवन और इकेबाना

रयोको कोजिमा

मानव इतिहास के प्रारंभ से ही मनुष्य सौंदर्य की खोज करता आ रहा है। फूलों को आदिकाल से सौंदर्य का एक प्रतीक माना जाता है। खिलते फूलों का रूप, रंग और सुगंध मनुष्यों को आकर्षित करते हैं। इसलिए फूलों को देखकर उन्हें पसंद करने का मनोभाव मनुष्यों के मन में पैदा होना स्वभाविक ही है।

जब मैं सन् 1979 में भारत घूमने गई थी तब में एक जापानी इकेबाना विशेषज्ञ होने के नाते भारतीय फूलों को देखने के लिए उत्सुक थी। भारतीय प्रतीक में अशोक, करवीर, कुंद, सुमन, पारिजात, पुंडरीक आदि के सुंदर फूल खिलते थे। भारत के लोग फूलों को चुन कर देवताओं को अर्पित करते थे। सुंदर रंगों की फूलमाला बना कर भगवान के गले में डाल देते थे और फूल की पंखुड़ियाँ भगवान के चरणों के चारों ओर सजाकर प्रार्थना करते थे। फूल सजाने का यह तरीका, जापानी तरीके से थोड़ा भिन्न था। जापान में सिर्फ़ फूलों को ही सजाने के लिए इस्तेमाल नहीं करते। फूलों को टहनी व पत्तों समेत काट कर फूलदान में खड़ा करके सजाते हैं। इस प्रकार फूलदान में पेड़-पौधों को खड़ा करके सजाने की क्रिया को हम जापानी भाषा में 'हाना ओ इकेरु' कहते हैं। इसमें बाह्य वातावरण, सजाने वालों की भावना और पेड़-पौधों की सुंदरता का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है और इस प्रकार बनाई गई रचना को इकेबाना कहा जाता है। अर्थात् इकेबाना सृजन का निष्कर्ष है।

आजकल जापानी इकेबाना विदेशों में बहुत लोकप्रिय है। हमारे संस्थान में भी इकेबाना सीखने के लिए विदेशों से कई लोग आते-जाते हैं। मैं इस पत्रिका में जापानी इकेबाना के उद्भव और विकास के बारे में संक्षिप्त परिचय देना चाहती हूँ।

इकेबाना कला का उद्भव और विकास

जापानी प्राकृतिक परिस्थिति काफ़ी भिन्न है। जापान में चार ऋतुएँ होती हैं। वसंत, ग्रीष्म, शरद, और जाड़ा। लेकिन ग्रीष्मकाल को भी पूर्व-ग्रीष्म, ग्रीष्म और उत्तर-ग्रीष्म में विभाजित किया जा सकता है। इस प्रकार और अन्य तीन ऋतुओं को भी कई तरह विभाजित किया जा सकता है। जापान में ऋतुओं का सिर्फ़ फूलों से ही गहरा संबंध नहीं, बल्कि जापानी लोगों के रहन-सहन से भी गहरा संबंध है। उदाहरण के लिए विश्वविख्यात जापानी कविता शैली 'हाइकु' का ऋतुओं से गहरा संबंध है। हाइकु में ऋतु से संबंधित संकेत बोधक प्रतीक शब्द का उल्लेख होना अनिवार्य है। इस ऋतु के संकेत बोधक शब्द से पाठक हाइकु में अभिव्यक्त

किए गए प्राकृतिक वातावरण का अनुमान लगा सकता है। भौगोलिक दष्टि से इतना बड़ा देश नहीं है जितना भारत। इसलिए पूरे जापान में ऋतुओं का विशेष अंतर नहीं है। देश के दक्षिण छोर से उत्तरी छोर तक एक महीने में ही वसंत फैल जाता है और इसी प्रकार जाड़ा उत्तरी छोर से दक्षिण छोर तक। इसलिए ऋतु संबंधी अनुभव जापानी लोगों में लगभग समान ही है और साथ ही ऋतु परिवर्तन को महसूस करने की भावना भी समान रूप से जापानी लोगों के पास है। पेड़-पौधों में होने वाले परिवर्तनों को देखकर प्राचीनकालीन जापानी लोगों ने परिवर्तित ऋतु को महसूस किया और इस परिवर्तन में जीवों के परिवर्तन को भी महसूस किया। प्राचीनकालीन जापानी लोगों के धार्मिक जीवन में विश्वास किया जाता था कि भगवान अलग दुनिया में रहता है अथवा समुद्र पार एक पवित्र स्थान में रहता है। इस युग के लोगों के विचार में मनुष्य को दुनिया सिर्फ़ अपनी भूमि या अपने देश तक सीमित थी। भगवान दूसरी दुनिया में रहता था। इसलिए यदि सहायता लेने के लिए भगवान को ज़रूरत हो तो दूसरे जगत से भगवान को बुलाना पड़ता था। इसके लिए भगवान के ठहरने की जगह तैयार करने की आवश्यकता पड़ी। इसके रहने के लिए सर्वदा हरा रहने वाला पेड़—जैसे; चीड़ का पेड़ चुना गया।

सर्वदा हरा रहने वाला पेड़ देखकर समय का परिवर्तन महसूस नहीं किया जा सकता है। इस अपरिवर्तन में प्राचीनकालीन जापानी लोगों ने जीव के अमरत्व को महसूस किया और इसका समन्वय दैव-अमरत्व में किया जाने लगा। यानी अमर भगवान अमर पेड़ में ही ठहर सकता है। इसी विचार से सर्वदा हरा रहने वाला पेड़ पवित्र माना जाने लगा। इसके विपरीत पतझड़ी पेड़ में जापानी लोगों ने बदलती ज़िंदगी को देखा। भगवान अमर है पर जीव अमर नहीं है। पतझड़ी पेड़ों की ज़िंदगी इंसान की तरह है। खिलता फूल ज़िंदगी का सबसे भरपूर वक़्त है। खिलते फूलों की पंखुड़ी के गिरने को देखकर जापानी लोगों ने फूलों की ज़िंदगी की करुणता को महसूस किया। इस प्रकार जापानी लोग फूल-पौधों के परिवर्तन में अपनी ज़िंदगी भी देखते हैं। संभवतः उस विचारधारा ने इकेबाना के जन्म की पृष्ठभूमि का निर्माण किया, लेकिन प्रकृति से पेड़-पौधों को लेकर उन्हें मनुष्य द्वारा सजाने का कार्य बौद्ध धर्म के आगमन के बाद से ही होने लगा था। सन् 538 में बौद्ध धर्म जापान में आया और राज दरबार के लोगों ने इसे स्वीकार किया। इस युग से फूल-पौधों को फूलदान में खड़ा करके सजाने का रिवाज़ आम हो गया था। यह बौद्ध धर्म में पूजा के लिए पुष्पांजलि की प्रथा द्वारा प्रचलित हुआ। पुष्पांजलि का यह रूप बौद्ध धर्म के माध्यम से भारत से चीन होकर जापान आने तक शायद एक परिवर्तित रूप में पहुँचा होगा। उस काल की पुष्पांजलि ने बाद के जापानी लोगों के दैनिक जीवन में इकेबाना के रूप में विकसित होकर एक अविच्छिन्न स्थान बना लिया। फूल-पौधों को सजाने के तरीके को सिखाने के कई विशेषज्ञ भी हुए और इकेबाना के सैद्धांतिक शास्त्र भी रचे गए। उन सिद्धांतों में केवल फूल-पौधों को सजाने का तरीका ही नहीं, बल्कि

सज्जा के दार्शनिक पहलू पर भी बहुत कुछ लिखा गया। इकेबाना सिर्फ़ फूल-पौधों को सजाने की कला नहीं, बल्कि सृजन का एक दर्शन भी है।

अब मैं इकेबाना सिद्धांतों और उनके दार्शनिक पहलू का परिचय देती हूँ।

इकेबाना के सिद्धांत

पहले मैं इन सिद्धांतों में प्रतिपादित पुष्प सजाने वाले कलाकार के विचारों और सज्जा की प्रमुख तकनीकों पर प्रकाश डालना चहूँगी।

नागेइरे--इस पद्धति में प्रकृति से फूल, पत्ते, टहनियाँ, घास इत्यादि को चुनकर उन्हें कम से कम विकृत कर फूलदान में सजाया जाता है। सजाने के वक़्त इस बात का ध्यान रखा जाता है कि सज्जा में इस्तेमाल की जाने वाली सामग्री का प्रवृत गुण नष्ट न होने पाये और सुंदर पुष्प सज्जा प्रकृति के सौंदर्य को दर्शाया जा सके।

इकेहाना--इस पद्धति में सज्जा में उपयोग में लायी जाने वाली सामग्री को कलाकार अधिक सुंदर रूप देने के लिए कुछ तोड़ मरोड़ कर सकता है। परंतु ऐसा करने में उस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि यह तोड़-मरोड़ देखने वाले को नज़र न आने पाए और साथ ही सामग्री अपना प्राकृतिक सौंदर्य भी न खोने पाए, ताकि उस प्रकार प्रकृति को उसके सुंदरतम रूप में दर्शाया जा सके।

मोरिबाना--इस पद्धति में प्रकृति से फूल, पत्ती, टहनी, इत्यादि सामग्री लेकर कलाकार अपने मनोभावों को प्रकट करने की चेष्टा करता है। सामग्री में केवल जापानी हो नहीं वरन् ग़ैर-जापानी मूल के फूल-पौधों का भी इस्तेमाल किया जा सकता है। मोरिबाना पद्धति ने इकेबाना कला को एक नया मोड़ दिया, जिससे कालांतर में आधुनिक इकेबाना कला का रूप ले लिया।

इकेनोबो पुष्प-सज्जा कला के गुरु सेन्ओ इकेनोबो के अनुसार, "इकेबाना के विद्यार्थी को वनस्पतियों की परख, पुष्प के सौंदर्य के मर्म, ऋतुओं के परिवर्तन का बोध होना चाहिए और इन सब का ध्यान रखते हुए ही पुष्प सज्जा की जानी चाहिए। कुछ सुंदर फूल एकत्र कर उन्हें फूलदान में रख देना एक बात है, परंतु साधारण पुष्प कलात्मक ढंग से फूलदान में सजाकर सौंदर्य की सृष्टि करना एक कला है।" इसलिए मैं यहाँ इकेबाना देखने वालों से अनुरोध करना चाहूँगी कि इकेबाना कला का रसास्वादन करते समय वह केवल उसके रूप सौंदर्य का ही रस न लें, बल्कि इस की रचनात्मकता के मर्म को समझकर उसका मूल्यांकन करने की चेष्टा करें।

नोट : इस हिंदी निबंध के लिए मैं संपादक श्री सुज़ुकि एवं श्री के०सी० पांडे की आभारी हूँ, जिन्होंने समय देकर मेरी हिंदी का संशोधन किया।

समीक्षा : विचार गोष्ठी
"समकालीन भारतीय साहित्य एवं जनता"

योशिअकि सुज़ुकि

गत 29 मार्च को जापान अफ्रो-एशिया लेखक संघ की ओर से "समकालीन भारतीय साहित्य एवं जनता" शीर्षक विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया था। जापान में भारतीय साहित्य को लेकर सार्वजनिक तौर पर आयोजित की गई यह प्रथम विचार गोष्ठी थी। इसमें जापान अफ्रो-एशिया लेखक संघ के सदस्य, भारतीय साहित्य एवं भारतीय भाषाओं के अध्ययनकर्त्ता, भारत में रुचि रखने वाले, जापानी साहित्यकार और साधारण जनता आदि लगभग एक सौ श्रोतागण उपस्थित हुए।

उद्घाटन भाषण में लेखक संघ के उपाध्यक्ष श्री इचिरो हारियु ने कहा--"हमारे संघ ने साहित्य द्वारा राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर एशियाई तथा अफ्रीकी देशों के बीच विचारों के आदान-प्रदान करने का उददेश्य निर्धारित किया है। सन् 1973 में हम लोगों ने अफ्रोकी देशों के लेखकों को आमंत्रित करके सम्मेलन का आयोजन किया था। अगली बार भारतीय लेखकों को आमंत्रित करके कई विषयों पर विचारों का आदान-प्रदान करने की योजना बना रहे हैं। लेकिन भारतीय साहित्य एवं भारतीय वास्तविकताओं के बारे में हमें कुछ भी जानकारी नहीं है। हम भारत को सिर्फ़ विश्व की संस्कृति के उद्भावक देश के रूप में पहचानते हैं। ज़ाहिर है कि भारत में भारतीय वास्तविकताएँ हैं। उन वास्तविकताओं की जानकारी के बिना हम भारतीय लेखकों के साथ विचारों का आदान-प्रदान नहीं कर सकते। भारतीय लेखकों को आमंत्रित करने की तैयारी के रूप में हम लोगों ने इस विचार गोष्ठी का आयोजन किया है। इसमें कई लोग उपस्थिति हुए हैं और विचारों के आदान-प्रदान से हमें कुछ न कुछ भारतीय साहित्य एवं भारतीय वास्तविकताओं की जानकारी मिलेगी।"

विचार गोष्ठी के वक्ताओं के रूप में भारतीय साहित्य और भारतीय भाषाओं के चार विशेषज्ञों ने भाग लिया। एशिया-अफ्रीका भाषा विद्यापीठ के प्राध्यापक श्री कोकि नागा, ताकुशोकु विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री तेइजि साकाता, मेइजो विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर श्री तात्सुओ मोरिमोतो और होसेइ विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री कल्याणदास गुप्त थे।

विचार गोष्ठी का आरंभ इस प्रश्न से शुरू हुआ कि आप किसलिए भारतीय साहित्य का अध्ययन कर रहे हैं और क्यों आपने भारतीय साहित्य का अध्ययन शुरू किया?

श्री नागा ने भारत में अपने अनुभवों से उदाहरण देकर कहा :-

"भारत जाने से पहले हम महात्मा गाँधी के बारे में जानते थे। वे स्वतंत्रता संग्राम के नेता थे और इस संग्राम में उन्होंने सत्याग्रह, अहिंसा, भूख हड़ताल आदि अपनाये। परंतु भारत जाकर भारतीय वास्तविकताओं को देखकर मुझे बड़ा धक्का लगा, क्योंकि वहाँ वास्तविकता यह थी कि जो लोग खाना खा सकते थे उन लोगों के लिए खाना बंद करके भूख हड़ताल करना संभव था। पर जिन लोगों को अक्सर कम खाकर या भूखा रहकर सोना पड़ता था, उन लोगों के लिए भूख हड़ताल का कोई अर्थ नहीं। उन लोगों के लिए हर रोज़ भूख हड़ताल थी। मुझे भारतीय जनता को समझने के लिए भारतीय भाषा यानी हिंदी सीखने की आवश्यकता महसूस हुई और मैं हिंदी साहित्य में चित्रित भारतीय लोगों का जीवन और वास्तविक भारत को तुलनात्मक दृष्टि से देखने का प्रयास करता हूँ।" श्री नागा विशेष रूप से हिंदी साहित्य के आँचलिक उपन्यासों का अध्ययन कर रहे हैं। बाद में उन्होंने फणीश्वरनाथ रेणु और प्रेमचन्द की कहानियों में चित्रित भारतीय किसान और आज के भारतीय गाँव के यथार्थ का परिचय दिया।

श्री तेइजि साकाता ने जापानी लोगों के सांसारिक दृष्टिकोण की आलोचना करके अपने अध्ययन के बारे में अवगत कराया। इस वक़्त उन्होंने एक चुनौती दी कि लिखित आधुनिक हिंदी साहित्य में भारतीय जनता का यथार्थ जीवन चित्रित किया जाता है कि नहीं, अर्थात् उनका कथन था कि लिखित साहित्य में चित्रित आदमी, भारतीय आदमी नहीं प्रतीत होता। किसी दूसरे देश का आदमी प्रतीत होता है। उन्होंने यह भी कहा कि बौद्धिक आदमी का मतलब पढ़े-लिखे आदमी नहीं है। अनपढ़ लोगों में भी बौद्धिक आदमी होते हैं, शिक्षित लोगों द्वारा लिखित साहित्य से कहीं अधिक मौखिक साहित्य और मध्यकालीन साहित्य जनता के निकट हैं।

श्री मोरिमोतो ने कहा, "द्वितीय महायुद्ध के बाद यानी जापान की हार के बाद मैं जीने की आशा खोज रहा था। उस वक़्त मुझे रवीन्द्रनाथ ठाकुर का काव्य संग्रह "गीतांजलि" मिल गया और इसे पढ़कर मैं इससे बहुत प्रभावित हुआ। मेरे सामने चित्रित किया गया भारत गुलाबी रंग का भारत था। इसलिए मेरे अध्ययन की शुरूआत प्रथम दो विशेषज्ञों से कुछ भिन्न है।" श्री मोरिमोतो शांतिनिकेतन विश्वविद्यालय में जापानो भाषा के प्राध्यापक रहे और अब रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर अनुसंधान कर रहे हैं।

श्री कल्याणदास गुप्त ने अपना परिचय देते वक़्त जापानी श्रोताओं के सामने भारतीय आदमी की पहचान की एक विशेषता पेश की। उन्होंने अच्छी जापानी भाषा में अपना परिचय दिया। "मैं बंगला वासी हूँ और भारतीय भी हूँ।"

जापान में जापानी भाषा ही बोली जाती है और जापानी लोग अपने को जापानी ही समझते हैं परंतु भारत के लोग अपनी पहचान को केवल अपने देश से नहीं, बल्कि अपने

प्रांत, अपनी मातृभाषा से भी संबद्ध रखकर करते हैं। इस विचारधारा में भारत और भारत के लोगों को समझने का रहस्य छिपा है। इस संदर्भ में श्री मोरिमोतो ने साहित्य को लेकर अच्छा उदाहरण दिया कि जापानी लोग जापानी भाषा में हो साहित्य लिखते हैं, इसलिए अपने साहित्य पर इतना ध्यान नहीं देते। कनाडा में अंग्रेज़ी और फ्रेंच में साहित्य लिखा जाता है फिर भी इसको कैनेडियन साहित्य कहते हैं, परंतु भारत में ऐसा नहीं। जो लोग बंगला में साहित्य लिखते हैं तो वे उसको बंगला साहित्य, हिंदी में लिखते तो हिंदी साहित्य, तमिल में लिखते हैं तो तमिल साहित्य कहते हैं। हम साधारणत: भारतीय साहित्य कहते हैं तो हम इन भारतीय भाषाओं के साहित्यों में से किसको भारतीय साहित्य कहते हैं? बंगला साहित्य में बंगला साहित्य की, हिंदी साहित्य में हिंदी साहित्य की, तमिल साहित्य में तमिल साहित्य को विशेषता होती होगी और भिन्नता भी होती होगी, पर उनमें समानता भी ज़रूर होती है। इसलिए बंगला भाषा में लिखित साहित्य बंगला साहित्य कहते हुए भी इसको भारतीय साहित्य कह सकते हैं। इस प्रकार की मिलता और समानता की विचारधारा को समझना भारतीय अनुसंधान के लिए अनिवार्य है।

साहित्यिक दृष्टि के संदर्भ में श्री मोरिमोतो ने और एक सवाल उठाया कि हम पश्चिमी देशों के साहित्य की चर्चा करते समय अपने देश के साहित्य और पश्चिमी देशों के साहित्य में साहित्यिक समानता देखने का प्रयास करते हैं, पर भारतीय साहित्य के संबंध में क्यों साहित्य और जनता के संबंध पर बल देकर चर्चा करना चाहते हैं।

इस प्रकार का प्रश्न विचार गोष्ठी का शीर्षक निर्धारित करने के वक़्त भी उठाया गया था। इस गोष्ठी के दो माह पहले आयोजन समिति बनाई गई थी। काफ़ी चर्चा के बाद शीर्षक निर्धारित किया गया लेकिन समिति के सदस्यों में से बार-बार प्रश्न उठाया गया कि अफ्रीकी देशों और एशियाई देशों के साहित्य पर विचार करते समय क्यों साहित्य और जनता का संबंध जोड़ते हैं? अफ्रीकी-एशियाई देशों के साहित्य को शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से देखकर हमारे देश के साहित्य से तुलना करके चर्चा क्यों नहीं कर सकते? हम लोगों को आशा थी कि समकालीन भारतीय साहित्य में चित्रित जनता और भरतीय वास्तविकताओं में रह रही जनता के बारे में जानकारी प्राप्त करने से समसामयिक युग में रहते हम लोग समकालीन भारतीय साहित्य की प्रवृत्ति, भारतीय लोगों का दृष्टिकोण ही नहीं, वरन् भारतीय वास्तविकताओं को भी जान सकेंगे। लेकिन हम लोगों की आशा निराशा में परिणित हो गई। क्योंकि भारतीय साहित्य जानने से पहले भारतीय वास्तविकताओं को जानने की आवश्यकता थी।

जापान की साधारण जनता वास्तविक भारत को नहीं जानती। प्रेमचन्द की कहानियों में चित्रित किए गए गाँवों और पात्रों के बारे में बताने से पहले इस कहानी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बताने की आवश्यकता होती थी। इसलिए साहित्यिक चर्चा से अधिक भारतीय समाज की वास्तविकताओं को बताने की आवश्यकता हुई। इसका मतलब यह है कि भारत

अथवा भारतीय लोगों को बिना समझे हम भारतीय साहित्य नहीं समझ सकते। परंतु विचार गोष्ठी में भारतीय वास्तविकताओं को अवगत कराने के कारण साहित्यिक चर्चा कम हुई। इसके बारे में विचार गोष्ठी के बाद रेडियो जापान के इंटरव्यू के उत्तर में श्री नागा ने हिंदी में कहा, "भारतीय साहित्य का परिचय देने से पहले भारतीय समाज अथवा कहानी की सामाजिक पृष्ठभूमि के बारे में बताना पड़ा, समयाभाव के करण भारतीय साहित्य का परिचय नहीं दे पाया इसलिए मेरे मन में असंतोष की भावना है"।

उनका कथन सच भी था पर वक्ताओं के बीच दृष्टि की भिन्नता भी मौजूद थी। आयोजन समिति के सदस्य डॉ० मासायुकि उसुदा ने इस गोष्ठी के बाद अफ्रो-एशिया लेखक संघ द्वारा प्रकाशित "साप्ताहिक पोस्ट कार्ड" में लिखा कि विचार गोष्ठी में भाग लेकर वक्ताओं की चर्चा सुनने से एक असंतोष की भावना पैदा हुई। कारण क्या है? वक्ताओं के बीच में दृष्टि की भिन्नता प्रकट हुई थी यानी वक्ताओं की रुचि साहित्य है या भारत? इस गोष्ठी के समापन तक साहित्य और भारत को समन्वित किया भारतीय साहित्य का चित्र हम लोगों के सामने नहीं उभरा। भारत अथवा भारतीय लोगों को बिना समझे भारतीय साहित्य नहीं समझ सकेंगे लेकिन भारत अथवा भारतीय लोगों को समझने के अतिरिक्त साहित्यिक दृष्टि की आवश्यकता भी होती है। उनका कहना सचमुच ठीक ठहरता है। क्योंकि हम लोगों के लिए भारतीय साहित्य भारतीय; समाज या भारतीय लोगों को जानने का साधक ही नहीं, वरन् साध्य होना भी चाहिए। इस गोष्ठी में उपस्थित श्रोताओं द्वारा भी कई सवाल उठाए गए। उनमें से प्रमुख था कि दलित वर्ग के लोगों की आवाज़ उठाने वाला साहित्य भारत में है कि नहीं? इसका ठीक जवाब नहीं दे पाए थे।

समापन भाषण में जापान अफ्रो-एशिया लेखक संघ के अध्यक्ष श्री योशिए होन्ता ने, जिन्होंने सन् 1956 दिल्ली में आयोजित एशिया लेखक सम्मेलन का सभापतित्व निभाया था, उस वक़्त के अनुभव बताते हुए भारतीय साहित्य की व्यापकता तथा गहनता पर बल दिया।

यह विचार गोष्ठी डेढ़ बजे से लेकर छह बजे तक चली थी फिर भी हम लोंगों के सामने भारतीय वास्तविकताओं की गहनता ही उभर पाई और साहित्यिक चर्चा अधिक नहीं हुई। इसके कई कारण हैं। एक तो जापान में भारतीय साहित्य के अध्ययनकर्त्ताओं की कमी है। जापान में भारत संबंधी विशेषज्ञों में से भारतीय साहित्य के विशेषज्ञ एक या दो व्यक्ति ही होंगे। खेद की बात है कि ऐसे मौके पर हिंदी साहित्य के विशेषज्ञ उपस्थित नहीं हुए। ऐसे मोके पर पब्लिक के सामने उपस्थित होकर भारताय साहित्य का परिचय देना भी अनुसंधानकर्त्ता का कर्त्तव्य होगा।

श्रोताओं में जापानी साहित्यकार तथा आलोचक भी उपस्थित थे, परंतु भारतीय वास्तविकताओं के बारे में अधिक लेक्चर होने के कारण उन लोगों का भी खामोश रहना

पड़ा होगा। अगर इस विचार गोष्ठी में भारतीय साहित्यकार उपस्थित होते तो साहित्यिक चर्चा और अधिक होती। जापान में भारतीय साहित्यकार नहीं हैं ऐसी बात नहीं है। वे अक्सर आते रहते हैं। आई०सी०सी०आर० द्वारा जापान के विश्वविद्यालय में हिंदी शिक्षण के लिए भारतीय साहित्यकार आते हैं, लेकिन मैंने अभी तक नहीं सुना कि विश्वविद्यालय द्वारा सार्वजनिक तौर पर भारतीय साहित्य के परिचय देने के लिए किसी भा आयोजन हुआ हो।

अगर भारतीय साहित्यकार जापान में आते हैं तो जैसे हम हिंदी प्रेमी और जापान साहित्यकार उनसे संपर्क स्थापित करना चाहते हैं इसी प्रकार भारतीय साहित्यकार भी जापानी साहित्यकारों से संपर्क स्थापित करना चाहते होंगे। अगर इस तरह की योजना से भारतीय साहित्यकार स्वयं परिचित नहीं, तो विश्वविद्यालय की ओर से उन्हें भाग लेने के लिए कहा जा सकता है और संयोजक भी इस अनुरोध को अस्वीकार नहीं करेगा।

मोटे तौर पर, इस विचार गोष्ठी से कई प्रकार के असंतोष की भावना उत्पन्न हुई। लेकिन यह एक अच्छा अवसर भी था कि जापान में भारतीय अनुसंधान को इन परिस्थितियों ने जापानी लोगों को चिंतन का मौका दिया और श्रोतागण भारतीय वास्तविकताओं के बारे में जान सके।

परिशिष्ट 1

जापान में प्रकाशित हिंदी एवं हिंदी साहित्य संबंधी निबंधों की सूची (सन् 1970 से 1979 तक)

1. श्री तोशिओ तानाका, "अज्ञेय की कविता "असाध्य वीणा", इन्दोगाकु-बुक्क्योगाकु केन्क्यु, अंक 19-2, 1971.
2. श्री तोमिओ मिज़ोकामि, "आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की क्रियाओं के भूतकालिक रूपों के प्रकार्य हिंदी बंगला के संदर्भ में", ओसाका गाइकोकुगो दाइगाकु गाकुहो, अंक 23, 1971 उर्दू.
3. श्री तोमिओ मिज़ोकामि, "आधुनिक हिंदी की संयुक्त क्रियाएँ", अजिअ अफ्रिका बुन्पो केन्क्यु, अंक 2, 1974.
4. श्री तेइजि साकाता, "आधुनिक हिंदी भाषा के क्रिया रूप", इन्दोगाकु-बुक्क्योगाकु केन्क्यु अंक 20-1, 1971.
5. श्री तेइजि साकाता, "आधुनिक हिंदी में कारक वर्णन प्रणाली पर एक प्रस्ताव", गोगाकु केन्क्यु, अंक 4, 1971.
6. श्री तोशिओ तानाका, "आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में साहित्य मंडल "परिमल", इन दोगाकु-बुक्क्योगाकु केन्क्यु, अंक 22-2, 1973.
7. श्री हिदेअकि इशिदा, "आपातकाल में हिंदी साहित्य", बुन्गेइ तेन्बो, अंक 22, 1978.
8. श्री तोशिओ तानाका, "उग्र और उनकी कृतियाँ", तोक्यो गाइकोकुगो दाइगाकु रोन्श्यू अंक 20, 1971.
9. श्री तेइजि साकाता, "उत्तर भारत की लोक कथाओं में भाषा और शैली", इन्दोगाकु बुक्क्योगाकु केन्क्यु, अंक 26-1, 1977.
10. श्री तेइजि साकाता, "उत्तर भारत में भजन व उसका वातावरण-एक गाँव के उदाहरण के आधार पर", ताकुशोकु दाइगाकु रोन्श्यु, अंक 103, 1975.
11. श्री तेइजि साकाता, "उत्तर भारत के भजन में बोली और शैली", इन्दोगाकु-बुक्क्योगाकु केन्क्यु, अंक 25-1, 1976.
12. श्री क्यूया दाइ एवं श्री त्सुनेओ कुरोयानागि, "एशियाई बुद्ध धर्म का इतिहास" पंचम भाग, भारत के धर्म संप्रदाय, कोसेइ शुप्पन, 1973
13. श्री तोमोकि सातो, "कबीर—उनका जीवन और कृतियों का एक अध्ययन", 1976.
14. श्री इन्शो कोबायाशि, "कबीर और सत् गुरु", इन्दोगाकु-बुक्क्योगाकु केन्वयु, अंक 26-2, 1978.

15. श्री तेइजि "कामता प्रसाद गुरु के "हिंदी व्याकरण" में कारक वर्णन प्रणाली", इन्दोगाकु-बुक्क्योगाकु केन्क्यु, अंक 23-1, 1974.
16. श्री कात्सुरो कोगा, "खड़ीबोली और कौरवी-देवरानी जेठानी को कहानी में", ओसाका गाइकोकुगो दाइगाकु, अंक 33, 1975.
17. श्री तेइजि साकाता, "ग्राम वासियों का इष्ट पुरुष राजकुमार—उत्तर भारत की लोक कथाओं के पात्रों का अध्ययन", ताकुशोकु दाइगाकु रोन्श्यु, अंक 109, 1977.
18. श्री हिदेअकि इशिदा, जैनेन्द्र कुमार के उपन्यास (1) "सुनीता" और आत्म-औचित्य प्रतिपादन", इशिदा, इन्दोगाकु-बुक्क्योगाकु केन्क्यु, अंक 27-2, 1979.
19. श्री हिदेअकि इशिदा, "जैनेन्द्र कुमार के उपन्यास (2) "त्याग पत्र" से विश्रान्ति तक", इन्दोगाकु-बुक्कयोगाकु केनक्यु, अंक 27-2, 1979.
20. श्री तेइजि साकाता, "तोता और बनिये की औरत--शुकसप्तति और उससे संबंधित एक लोक कथा का तुलनात्मक अध्ययन".
21. श्री तेइजि साकाता, "दक्षिण एशिया के भाषा समाज विज्ञान संबंधी अध्ययन का सर्वेक्षण", इन्दोगाकु-बुक्क्योगाकु केन्क्यु, अंक 24-1, 1975.
22. श्री तोमिओ मिज़ोकामि, "दिल्ली विश्वविद्यालय के छात्रों की हिंदी - एक सर्वेक्षण", (अंग्रेज़ी में) ओसाका गाइकोकुगो दाइगाकु गाकुहो, अंक 35, 1976.
23. श्री तोमिओ मिज़ोकामि, "पंजाब में द्विभाषिता - लायलपुर शहर के क्षेत्रीय कार्यों पर आधारित", इन्दोगाकु-बुक्क्योगाकु केन्त्रयु, अंक 26-2, 1978.
24. श्री तोमिओ मिज़ोकामि, "पॉल हक्कर, "आधुनिक हिंदी" की कुछ सहायक क्रियाओं के प्रकार्य" (मूल जर्मन भाषा से जापानी में रूपान्तरण तथा टिप्पणी), ओसाका गाइकोकुगो दाइगाकु गाकुहो, अंक 126, 1972, अंक 30, 1974, अंक 33, 1975.
25. श्री कात्सुरो कोगा, "बाज़ारू हिन्दुस्तानी : सरलीकृत बेसिक हिंदी", ओसाका गाइको कुगो दाइगाकु गाकुहो, अंक 29, 1971.
26. श्री तेइजि साकाता, "भारत की जाति-पत्रिकाओं का परिचयात्मक सर्वेक्षण", ताकुशोकु दाइगाकु रोनश्यु, अंक 100, 1975.
27. श्री तोशिओ तानाका, "भारत-पाकिस्तान के विभाजनकालीन हिंदी साहित्य--भीष्म साहनी की कहानी "तमस", इन्दोगाकु-बुक्क्योगाकु केन्श्यु, अंक 26-2, 1978.
28. श्री तोशिओ तानाका, "भारत-पाकिस्तान के विभाजनकालीन हिंदी साहित्य--राही मासूम रजा", इन्दोगाकु-बुक्क्योगाकु केन्क्यु अंक 27-2, 1979.
29. श्री तेइजि साकाता, "भारतवर्ष में अल्पसंख्यक भाषा भाषी वर्ग--उनका उद्गम और वर्तमान स्थिति", काइगाइ जिज्यो केन्क्युज्यो होकोकु, अंक 12, 1976.

30. डॉ० ओतोया तानाका व श्री तेइजि साकाता, ‘भारतीय साहित्य--देव युग से आज तक, एक संक्षिप्त परिचय” (दूसरा संस्करण), पिताका प्रकाशन, 1977.
31. श्री तोशिओ तानाका, एवं श्री ताकेश सुज़ुकि, “मु शो नवलकिशोर”, तोक्यो गाइको कुगो दाइगाकु रोन्श्यु, अंक 24, 1974.
32. श्री तेइजि साकाता, “माता से बेटी को-उत्तर भारत को लोककथाओं का परंपरा अनुक्रम का एक उदाहरण”, ताकुशोकु दाइगाकु रोनश्यु, अंक 114, 1977.
33. श्री तोशिओ तानाका, “यशपाल की कृतियाँ”, तोक्यो गाइकोकुगो दाइगाकु रोनश्यु, अंक 20, TES 1971, SPE 102.
34. श्री तोशिओ तानाका, “यशपाल साहित्य के अध्ययन को सामग्री के रूप में पत्रिका “विप्लव”, इन्दोगाकु-बुक्क्योगाकु केन्क्यु, अंक 20-2 1972.
35. श्री तोशिओ तानाका, “राहुल की आत्मकथा--”मेरी जोवन यात्रा” हिंदी साहित्य की सामग्री के लिए”, इन्दोगाकु-बक्क्योगाकु केन्वयु, अंक 24-2, 1976.
36. श्री तोशिओ तानाका, “राहुल का “घुमक्कड़ शास्त्र”, इन्दोगाकु-बुक्क्योगाकु केन्क्यु अंक 25-1, 1976.
37. श्री तोशिओ तानाका, “राहुल सांकृत्यायन की कृतियाँ” (1) (2), रोन श्यु, अंक 26, 1976 अंक 28, 1978, तोक्यो गाइकोकुगो दाइगाकु.
38. श्री तोशिओ तानाका, “शांतिनिकेतन में हजारीप्रसाद द्विवेदी”, इन्दोगाकु-बुक्क्योगाकु केन्क्यु, अंक 23-2, 1975.
39. श्री तेइजि साकाता, “सूरसागर में गृहीत संस्कृत शब्द-चयन व समीकरण की दृष्टि से एक अध्ययन”, गोगाकु केन्क्यु, अंक 19, 1979.
40. श्री योशिअकि सुज़ुकि, “सूरसागर में वल्लभ संप्रदाय को सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति”, तोयोगाकु केन्क्यु, अंक 14, 1979.
41. श्री तोशिओ तानाका, “हजारीप्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक उपन्यास”, तोक्यो गइकोकुगो दाइगाकु रोन्श्यु, अंक 25, 1975.
42. श्री तेइजि सकाता, “हास्य और मर्यादा--उत्तर भारत की हास्य कथाओं का अध्ययन”, ताकुशोकु दाइगाकु रोन्श्यु, अंक 116, 1978.
43. श्री कात्सुरो कोगा, “हिंदी की प्रेरणार्थक क्रियाएँ” (हिंदी में) ओसाका गाइकोकुगो दाइगाकु गाकुहो, अंक 42, 1978.
44. श्री क्युया दोई, “हिंदी क्रियाविशेषण”, इन्दोगाकु-बुक्क्योगाकु केन्क्यु, अंक 26-2, 1978.
45. श्री तोमिओ मिज़ोकामि, “हिंदी क्रियाओं में भूतकाल”, इन्दोगाकु-बुक्क्योगाकु केन्क्यु, अंक 19-2, 1971.

46. श्री क्युया दोई, "हिंदी भाषा में 'ह'", इन्दोगाकु-बुक्क्योगाकु केन्क्यु, अंक 24-2, 1975.
47. श्री तोमिओ मिज़ोकामि, "हिंदी तथा बंगला में प्रश्नवाचक वाक्य", अजिया अफ्रिका केन्क्यु, अंक 6, 1977 बुन्पो.
48. श्री कात्सुरो कोगा, "हिंदी में निपात : एक अध्ययन", अजिया अफ्रिका बुन्पो केन्क्यु, अंक 6, 1977.
49. श्री कात्सुरो कोगा, "हिंदी में लिंग संबंधी समस्याएँ", अजिया अफ्रिका बुन्पो केन्क्यु, अंक 7, 1978.
50. श्री कात्सुरो कोगा, 'हिंदी शब्द समूह—देवरानी जेठानी की कहानी में", इन्दोगाकु बुक्क्योगाकु केन्क्यु, अंक 23, 1974.
51. श्री तोशिओ तानाका, "हिंदी साहित्य के इतिहास में घासलेटी आंदोलन", इन्दोगाकु बुझ्योगाकु केन्क्यु अंक 21-2, 1973.
52. श्री तेइजि साकाता, "हिंदी स्वराघात की रूपरेखा", अजिअ अफ्रिकागो गाकुइन कियो, अंक 3, 1972.
53. श्री कात्सुरो कोगा, "हिन्दुस्तानी कहावतें और कहावतों को कहानियाँ", सेकाइ कोश्यो बुन्गे केन्क्यु, 1979.
54. श्री तेइजि साकाता, "हिन्दुओं का विवाह संस्कार और उससे संबंधित लोक परंपरा", ताकुशोकु दाइगाकु रोन्श्यु, अंक 104, 105, 1976.
55. डॉ० नोरिहिको उचिदा, "हिंदी ध्वनिमी" (अंग्रेज़ी में), Simant Publication, India, 1977.
56. डॉ० नोरिहिको उचिदा, "हिंदी ध्वनिमी का अध्ययन" (जर्मन भाषा में), Wlesbaden, 1978.

परिशिष्ट 2

इस अंक के लेखक

1. डॉ० नोरिहिको उचिदा प्राध्यापक, जापानी विभाग, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, के- 87 हौज खास एंक्लेव, नई दिल्ली-110016 भारत
2. श्री तोमिओ मिज़ोकामि, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, 2-6 गोतेनयामा 2- च्योमे, ताकाराज़ुका-शि, ह्योगो-केन्, जापान
3. श्री यूसुके ओहिरा, संवाददाता, साप्ताहिक "तोने" 829 हिगाशि कुराउचि-च्यो, नुमाताशि, गुनमा-केन्, जापान
4. श्री शिगेओ अराकि, जापान अफ्रो-एशिया लेखक संघ सदस्य, 249-7 ह्याकुसोन, इना गिशि, तोक्यो, जापान
5. सुश्री ताकाको सुगानुमा, कुदो-सो, 17-12 सुगामो 3- च्योमे, तोशिमा-कु, तोक्यो, जापान
6. सुश्री रयोको कोजिमा, इकेबाना प्राध्यापिका-ओबारा संप्रदाय, 8-4 Sekino-च्यो, 2-च्योमे, कोगानेइ-शि, तोक्यो, जापान
7. श्री योशिअकि सुज़ुकि, "ज्वालामुखी" संपादक, सेइशिन-सो, 5-9 मात्सुयामा, 3-च्योमे, कियोसे-शि, तोक्यो, जापान

परिशिष्ट 3

विशेष सहयोगी

1. श्री वेदप्रकाश, 1654, लक्ष्मी नगर, नई दिल्ली
2. श्री हरीशंकर शर्मा, हौज खास, नई दिल्ली
3. श्री ललित मोहन बहुगुणा, सी-2 डी/68-बी जनकपुरी, नई दिल्ली
4. श्री कैलाश चंद्र पाण्डे, वाई-81, हौज खास, नई दिल्ली

(दूसरे अंक का) संपादकीय

योशिअकि सुज़ुकि
स्वतंत्रता दिवस और
रक्षाबंधन का दिन
नई दिल्ली में
15-8-1981

गत वर्ष जापानी लोगों के विचार एवं संस्कृति को हिंदी में व्यक्त करने के उद्देश्य से मैंने इस पत्रिका का प्रकाशन किया था और मैंने इस पत्रिका को विश्व के अनेक हिंदी प्रेमियों को भेंट किया। उसकी प्रतिक्रियाएँ मुझे तुरंत ही मिलीं। इन प्रतिक्रियाओं से मालूम होता है कि इस पत्रिका ने भारत के ही नहीं, बल्कि विश्व के हिंदी प्रेमियों को भी काफ़ी प्रभावित किया है परंतु जापानी हिंदी प्रेमियों को किस हद तक प्रभावित किया है, यह अभी ठीक से नहीं कहा जा सकता।

अब पिछले अंक की प्रतिक्रियाओं के आधार पर पिछले अंक के निबंधों के बारे में कुछ कहना चाहता हूँ। श्री तोमिओ मिज़ोकामि ने एक विदेशी की दृष्टि से भारत की भाषा-समस्या पर कुछ टिप्पणी करके भारत के लोगों को प्रभावित करने के साथ ही विषय के हिंदी प्रेमियों का समर्थन भी प्राप्त किया। सुश्री ताकाको सुगानुमा का निबंध "क्या रामचरितमानस जन हितों के लिए लिखा गया था?" काफ़ी विवादग्रस्त विषय रहा। कुछ लोगों का मत था कि यह लेख हिंदू धर्म का खंडन करता है और कुछ लोगों ने इस लेख की प्रशंसा की। वास्तव में हम किसी भी देश की संस्कृति पर विचार करते समय जापानी दृष्टिकोण ही अपनाएँगे और भारतीय पाठक भी उसे भारतीय दृष्टिकोण से देखेंगे। दृष्टिकोण की भिन्नता से आपस में ग़लतफ़हमी व भ्रम उत्पन्न होने की संभावना भी होती है। लेकिन पाठकों की प्रतिक्रियाएँ इन गलतफहमी व भ्रम को मिटाने में मदद करती हैं अर्थात् विचारों का आदान-प्रदान ग़लतफ़हमी, भ्रम को ही दूर नहीं करता, बल्कि दूसरे देश की संस्कृति को गहराई से समझने में भी सहायता देता है। इसलिए मैं पाठकों की प्रतिक्रियाओं का सदा स्वागत करता हूँ और पिछले अंक के निबंधों के लिए जिन लोगों ने अपनी प्रतिक्रियाएँ भेजी हैं उन लोगों के प्रति मैं सभी लेखकों की ओर से धन्यवाद व्यक्त करता हूँ।

अब मैं पाठकों से जापान में भारत संबंधी रुचि के विषय में कुछ कहना चाहूँगा। कुछ वर्षों से हम महसूस करते हैं कि जापान में भारत संबंधी रुचि में परिवर्तन आया है। भारत के ऐतिहासिक खंडहरों को देखने की रुचि से कहीं अधिक भारतीय लोगों की ज़िंदगी को जानने

की रुचि में वृद्धि हुई है अर्थात् भारत की वास्तविकता जानने की कोशिश करने वालों की संख्या बढ़ रही है, चाहे साहित्य के माध्यम से हो, चाहे कला के माध्यम से हो या यात्रा के माध्यम से हो। उदाहरण के लिए, इस वर्ष जापान में पहली बार हरिजन समस्या को लेकर हरिजनों की परिस्थिति की परिचयात्मक पुस्तक प्रकाशित की गई है और साहित्य के द्वारा भी मराठी साहित्य के दलित साहित्य का परिचय हुआ है। इस प्रकार जापानी लोगों की रुचि भारत के लोगों की ज़िंदगी अर्थात् भारत की वास्तविकता के निकट तक है। भारत की वास्तविकताओं के बारे में चर्चा करने के वक़्त हमें हमेशा सुनने को मिलता है कि विदेशी लोग भारत वास्तविकताओं के एक अंग को ही देखकर भारत को समझने की कोशिश करते हैं, परंतु हम मानते हैं कि वास्तविक तो आखिर वास्तविकता ही है। भारत के अधिकांश लोग समझते हैं कि जापान एक विकसित देश है और जापानी संपन्न होते हैं, परंतु जापान में भी ग़रीबी, बेरोज़गारी, जाति-प्रथा आदि से संबंधित कुछेक अपनी समस्याएँ है और हम उन्हें छिपाने की कोशिश नहीं करेंगे। क्योंकि यह भी एक तथ्य है। इस प्रकार हम मानते हैं कि अपने देश की वास्तवि और समस्याओं को स्वीकारते हुए दूसरे देशों की वास्तविकता आदि को जानने का प्रयास करना ही उचित होगा। और इस प्रकार के प्रयासों से हम लोगों के मन में सच्ची सद्भावना उत्पन्न कर सकते हैं। इसलिए हम लोगों की इस बड़ी संचिका स्वागत करते हैं।

अंत में इस अंक के निबंधों पर कुछ कहना उचित होगा। इस अंक में एक हिंदी फ़िल्म प्रेमी जापानी महिला सुश्री तामाकि मात्सुओका ने भारतीय फ़िल्म संबंधी एक निबंध प्रस्तुत किया है। वे जापान में हिंदी फ़िल्मों का परिचय कराती है और उनका सपना है कि जापानी लोगों को अच्छी हिंदी फ़िल्म दिखाई जायें। पाठकों को उस निबंध को पढ़कर आश्चर्य होगा कि जापान में भी हिंदी फ़िल्म प्रेमी हैं। श्री तोमिओ मिज़ोकामि ने इस अंक के लिए एक हिंदी लघु कहानी दी है। जापान के बी०ए० हिंदी के छात्र-छात्राओं के निबंध भी इस अंक में हैं और श्री शिगेओ अराकि ने अपनी दृष्टि से "आधुनिक जापानी साहित्य की प्रवृत्तियाँ" शीर्षक निबंध लिखा है। हिंदी साहित्य अध्ययन करने वाले भी आकिरा ताकाहाशि ने हिंदी के नए साहित्यकार मिथिलेश्वर की कहानियों की समीक्षा की है। इस अक के सभी लेखक-लेखिकाएँ पाठकों की प्रतिक्रियाओं का स्वागत एवं प्रतीक्षा करते हैं।

भारतीय फ़िल्में : एक जापानी की नज़र में

तामाकि मात्सुओका

1. भारतीय फ़िल्में और मैं

सन् 1971 की बात है, उन दिनों तोक्यो में रहने वाले भारतीयों के लिए साल में एक बार बड़े हॉल में हिंदी फ़िल्म दिखाई जाती थी। उस अवसर पर हिंदी पढ़ने वाले जापानी भी शामिल हो सकते थे।

उस समय मैं तोक्यो विदेशी भाषा विश्वविद्यालय में एम०ए० कर रही थी। उससे पहले मैंने चार साल हिंदी पढ़कर बी०ए० पास किया, लेकिन हिंदी में बातें करना मुझे बिल्कुल नहीं आता था। क्योंकि जापान के विश्व विद्यालयों में हिंदी पढ़ना सिखाते हैं, किताबें बहुत पढ़ाते हैं, पर बोलने-सुनने की क्षमता बढ़ाना विद्यार्थियों को अपने-आप करना पड़ता है। लेकिन खुद पढ़कर आगे बढ़ना बहुत मुश्किल है। उस समय मेरी हिंदी बोलने-सुनने की क्षमता कम थी। इसलिए फ़िल्म देखने से पहले मुझे शक था कि फ़िल्म के डायलॉग मेरी समझ में आएँगे या नहीं।

उसी समय की फ़िल्म थी "खिलौना" और वह मेरे लिए पहली हिंदी फ़िल्म थी। मेरे शक के बावजूद मैं उस फ़िल्म को न केवल समझ ही पाई, बल्कि मैंने उसका मज़ा भी लिया। यह मेरे लिए एक आश्चर्य भरी घटना थी। अब तक मैं केवल किताबी हिंदी पढ़ रही थी, और उस समय से जीवित हिंदी पढ़ने लगी।

सन् 1975 में मैं पहली बार भारत गई। तीन सप्ताह की यात्रा थी और उसके बीच मैंने सात फ़िल्में देखीं। "जागते रहो", "खामोशी", "ज़ंजीर", "फूल और पत्थर", "हाथी मेरे साथी", "गीत गाता चल" और "शोले"। सब फ़िल्में मुझे बहुत अच्छी लगीं। भारतीय फ़िल्मों के प्रति दीवानगी तभी से शुरू हुई।

जापान में भारतीय फ़िल्में देखने का मौका बहुत कम है--न होने के बराबर है। आज तक केवल सत्यजीत राय ही की कई फ़िल्में प्रदर्शित की गई हैं। उनमें से हैं- "पथेर पंचाली", "अपराजित", "ओपूर संसार", "महानगर" "चारुलता", "आशानी संकेत", "जन अरण्य", "शतरंज के खिलाड़ी", "सीमाबद्ध" इत्यादि। ऐसी फ़िल्में आर्टस फ़िल्में हैं, इसलिए आम लोगों में लोकप्रिय नहीं हो सकीं। जापान में उनके अलावा अन्य भारतीय फ़िल्में कुछ भी नहीं देख सकते। अगर कोई अन्य भारतीय फ़िल्में देखना चाहें, तो उन्हें भारत जाना पड़ता है।

सो मैं हर साल भारतीय फ़िल्में देखने के लिए भारत जाती रहती हूँ। अब तक छह बार जा चुकी हूँ और उन यात्राओं में लगभग सौ हिंदी फ़िल्में, चार-पाँच तमिल फ़िल्में, दो-तीन

तेलगू, मलयालम, बंगाली फ़िल्में भी देखी हैं। केवल फ़िल्म ही नहीं, अमिताभ बच्चन, राज कपूर, प्रेम चोपड़ा, पंडित नरेन्द्र शर्मा, डॉ० राही मासूम रज़ा इत्यादि से मिलकर फ़िल्म जगत का दर्शन भी थोड़ा-सा किया है।

ऐसे अनुभव पर आधारित लेख जापानी पत्रिकाओं में लिखती है और जापान के बाज़ार में भारतीय फ़िल्में जाने के लिए करती है।

यह निबंध मेरे जापानी भाषा के लेखों पर आधारित है। आशा है यह निबंध पढ़कर भारतीय लोगों को भी पता चलेगा कि जापान में भी भारतीय फ़िल्म-प्रेमी है।

2. हिंदी फ़िल्मों की दो धाराएँ

आजकल की हिंदी फ़िल्मों की मुख्य दो धाराएँ हैं–- मल्टी-स्टार-सिस्टेम और स्मॉल-बजट की फ़िल्में। पहली को 'मल्टी-स्टार-फ़िल्में' और दूसरी को 'स्मॉलीज़ फ़िल्में' के नाम रखकर इन दो धाराओं के बारे में कुछ टिप्पणी करना चाहती हूँ।

(1) मल्टी-स्टार फ़िल्में

इस धारा का आरंभ है "शोले"। "शोले" से पहले भी मल्टी-स्टार जैसी फ़िल्में थी; उदाहरण के लिए "संगम", "दाग़", "रोटी, कपड़ा, और मकान" लेकिन उन्हें एक धारा नहीं कह सकते। ज़्यादातर फ़िल्में तो एक नायक और एक नायिका की थीं।

"शोले" में तीन नायक और दो नायिकाएँ थे- धर्मेन्द्र, अमिताभ बच्चन, संजीव कुमार, हेमा मालिनी और जया भादुड़ी। इसके अतिरिक्त यह फ़िल्म 70mm की थी और सलीम-जावेद की पटकथा, राहुलदेव बर्मन का संगीत, आनंद बख्शी के गीत इत्यादि। मनोरंजन के लिए सबसे अच्छे कलाकारों का समूह था। "शोले" सुपरहिट (super-hit) हो गई।

"शोले" हिट होने का कारण मेरी नज़र में ये है कि कहानी बहुत चुस्त थी और नायक-खलनायकों के अभिनय काफ़ी प्रभावशाली थे। अगर कहानी अच्छी हो तो कोई भी अच्छा काम कर सकता है और अच्छी कहानी को यदि अच्छा अभिनय भी मिले तो फ़िल्म और बढ़िया हो जाती है। "शोले" के अभिनय के बारे में हमें याद है--संजीव कुमार की गंभीरता, हेमा मालिनी की अमिताभ बच्चन का जोश, धर्मेंद्र का हास्य रूप और अमज़द का पागलपन। ऐसी कुशलताओं से मिलकर "शोले" एक बहुत बढ़िया और मनोरंजक फ़िल्म बन गई है।

"शोले" हिट होने के बाद निर्माता लोगों ने सोचा कि मल्टी-स्टार फ़िल्म हो तो ज़रूर हिट हो जाएगी। उसके बाद मल्टी-स्टार फ़िल्में लगातार बनाई जा रही है। "कभी-कभी", "धर्मवीर", "अमर अकबर अन्थोनी", "निट्रेन", "शाह" आदि-आदि। लेकिन "शोले" जैसी धाक कोई भी नहीं जमा सकते। शायद मामूली फ़िल्मों की तुलना में वे बॉक्स ऑफ़िस में सफल रही हों, फिर भी "शोले" से आगे नहीं बढ़ सकीं।

उदाहरण के लिए लीजिए “कभी-कभी”। इसमें तीन-तीन नायक-नायिकाएँ थे। इन सितारों को बराबर पर्दे पर दिखाने के लिए कहानीकार ने काफ़ी कोशिश की। लेकिन यह बेकार निकली। कहानी भूल-भुलैया की भी तरह उलझी हुई थी। खासकर प्रेमी-प्रेमिका और माँ-बच्चे के संबंध एकदम उलटे-पुलटे थे। समझ में आसानी से नहीं आ रहे थे और नायक-नायिकाओं के अभिनय भी साधारण थे, दर्शकों को कुछ भी प्रभावित नहीं कर सके थे। फिर भी मुकेश के गाने अच्छे होने के कारण “कभी-कभी” हिट हो गई। उससे प्रेरित होकर निर्माता-निर्देशक मल्टी-स्टार फ़िल्में और जोर से बनाने लगे। खासकर मनमोहन देसाई ने “धर्मवीर”, ‘’अमर अकबर अन्थोनी”, “चाचा भतीजा”, “परवरिश” इत्यादि कई मल्टी-स्टार फ़िल्में बनाई। लेकिन उन फ़िल्मों में कहाँ है चुस्त कहानी? उनमें बड़े-बड़े सितारों के चेहरे ही चेहरे थे।

इसी तरह इस साल भी “शान” या “क्रांति” तक कितनी मल्टी-स्टार फ़िल्में बनाई गई हैं- ठीक से नहीं गिन सकते। अगर गिनने की कोशिश करें तो शायद चालीस-पचास हो जाएँगी और अब भी पाँच-दस मल्टी स्टार फ़िल्में बनाई जा रही हैं।

लेकिन ज़रा सोचिए, आपको ऐसी फ़िल्मों में से कितनी फ़िल्में अच्छी तरह से याद हैं? मेरी नज़र में “शोले” के अलावा सब एक जैसी लगती हैं। अभिनय करने वालों के चेहरे भी एक ही हैं--अमिताभ बच्चन, शशि कपूर, धर्मेंद्र, विनोद खन्ना, शत्रुघ्न सिन्हा, हेमा मालिनी, राखी, रेखा, ज़ीनत अमान, परवीन बाबी। कहानी भी मिलती-जुलती हैं- चोर और इंसपेक्टर साहब की कहानी, दो या तीन भाइयों की कहानी जो बचपन में बिछुड़ गए या दो दोस्तों की कहानी। चाहे ट्रेन जल गई हो, चाहे हेलिकॉप्टर उड़ता हो, चाहे फॉर चेंज हो– कहानियों में विशिष्टता बिल्कुल नहीं है।

ऐसी मल्टी-स्टार फ़िल्मों के मुकाबले जिन फ़िल्मों में विशिष्टता स्पष्ट है और जो दर्शकों के मन पर प्रभाव भी डालती हैं—वे हैं स्मॉलीज़ फ़िल्में।

(2) स्मॉलीज़ फ़िल्में

स्मॉलीज़ फ़िल्म की परिभाषा करना कठिन है। मेरे ख्याल से स्मॉलीज़ फ़िल्म को शर्तें कम से कम दो हैं। एक तो यह है कि कम ख़र्च से बनाई जाती हैं और दूसरी है कि देखने वालों पर कोई न कोई प्रभाव डालती हैं। ऐसी फ़िल्मों को कभी तो समांतर फ़िल्म, कभी न्यू-वेव फ़िल्म, और कभी आर्ट्स फ़िल्म कहा जाता है।

इस धारा का आरंभ सन् 1969 में हुआ। उसी साल बासु चटर्जी ने “सारा आकाश” का निर्देशन किया। “सारा आकाश” राजेन्द्र यादव के मशहूर उपन्यास पर आधारित थी, इसलिए उसे ‘समांतर फ़िल्म’ का नाम दिया गया। उसके बाद वासु चटर्जी “रजनीगंधा”, “छोटी-सी बात”, “चितचोर”, “स्वामी” इत्यादि अच्छी फ़िल्में लगातार बनाते रहे हैं।

लेकिन इस धारा को और तेज़ किया एक निर्देशक ने। उनका नाम है 'श्याम बेनेगल'। श्याम बेनेगल की पहली फीचर फ़िल्म "अंकुर" सन् 1974 में रिलीज हुई, जिसने दर्शकों को झकझोर दिया। "अंकुर" मामूली हिंदी फ़िल्मों से बिल्कुल भिन्न थी। उसमें गाना या नाचना कुछ भी नहीं थे। "अंकुर" बासु चटर्जी की "सारा आकाश" या अवतार कौल की "27 डाउन" से भी भिन्न थी। "अंकुर" में सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिकोण ज़्यादा था। समाज में अन्याय और असमानता के प्रति क्रोध और विरोध प्रकट करने का तेज़ विचार था।

"अंकुर" के बाद श्याम बेनेगल ने "निशांत", "मंथन", "भूमिका", "जुनून" इत्यादि फ़िल्मों का निर्देशन किया। "निशांत" में उन्होंने एक बार फिर गाँव के ज़मींदार के अन्याय की समस्या को लिया और "मंथन" में हरिजन समस्या को उठाया।

"भूमिका" और "जुनून" में विषयों में थोड़ा-सा अंतर था श्याम बेनेगल ने उन दो फ़िल्मों में मनुष्य के मन के भीतरी भाग का चित्रण किया। "भूमिका" की नायिका असली जीवन, असली प्रेम ढूँढते-ढूँढते अनेक मर्दों के बीच इधर-उधर भटकती थी। निर्देशक ने उसके मन की दर्द भरी यात्रा को दर्शकों के सामने प्रस्तुत किया और "जुनून" तो एक प्रेम कहानी कही जा सकती है। लेकिन उस प्रेम कहानी को मामूली हिंदी फ़िल्मों के ढंग से नहीं, बल्कि यथार्थ, जीवित मनुष्य की नज़र से निर्देशक ने फिल्माया और सन् 1857 के समय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी बड़ी खूबी से दिखाई।

बासु चटर्जी और श्याम बेनेगल की फ़िल्मों के अलावा इस धारा की और कई फ़िल्में हैं। एम०एस० सथ्यू की "गर्म हवा", कांतिलाल राठौड़ की "परिणय", भीमसेन की "घरोंदा", गोविंद निहलानी की "आक्रोश" इत्यादि।

ऐसी फ़िल्में दर्शकों के मन पर अपना प्रभाव छोड़ जाती हैं और कहीं न कहीं दर्शकों के हृदय को छू जाती हैं। ये फ़िल्में देखकर मन भर आता है और जीने के लिए साहस मिलता है।

लेकिन बड़े अफ़सोस की बात है कि ऐसी फ़िल्में बहुत-बहुत कम है। खास तौर से आजकल मल्टी-स्टार फ़िल्में ज़्यादा होने के कारण स्मॉलीज़ फ़िल्मों पर दबाव पड़ रहा है। ऐसी अच्छी फ़िल्में कम होने के कारण हिंदी फ़िल्मों का कला-स्तर भी धीरे-धीरे नीचे गिर रहा है। अभी हिंदी फ़िल्में बड़ी खतरनाक दशा में हैं।

3. हिंदी फ़िल्म का पतन

"इंडिया 1980" देखकर पता चलता है कि हिंदी फ़िल्मों की संख्या सन् 1977 के बाद साल-दर-साल कम होती जा रही है। केवल संख्या ही नहीं, उनका कला-स्तर भी धीरे-धीरे नीचे गिर रहा है यानी अच्छी फ़िल्में कम होती जा रही हैं।

मेरी नज़र में 'अच्छी फ़िल्में' दो प्रकार की हैं। एक तो हैं देखने वालों को प्रभावित करने वाली आम फ़िल्में, और दूसरी हैं खूब बनाई जाने वाली मनोरंजक फ़िल्में। पहली फ़िल्मों में

"अंकुर" या "घरोंदा" जैसी फ़िल्में आती हैं, और दूसरी वाली में हैं "कच्चे धागे", "अभिमान", "शोले" या "खूबसूरत"।

आजकल दोनों प्रकार की फ़िल्में कम होती जा रही हैं। ऐसी अच्छी फ़िल्मों की कमी और संख्या में गिरावट को हिंदी फ़िल्मों का पतन कहा जा सकता है। लेकिन यह पतन हुआ कैसे? मेरे ख्याल में उसके दो मुख्य कारण हैं।

(1) मल्टी-स्टार फ़िल्मों का बुरा प्रभाव

जनवरी 1981 का एक दिन, मैं बंबई के महबूब स्टूडियो में थी। वहीं फ़िल्म "दर्द" की शूटिंग हो रही थी। अदालत का दृश्य था और हेमा मालिनी वकील साहिबा के रूप में अभिनय करने वाली थी। हेमा मालिनी का संवाद ज़रा लंबा था-- "इस मुजरिम को आदमी या इंसान कहकर बुलाना आदमियत के चेहरे पर कालिख मानना होगा। मैं अदालत से दरख्वास्त करती हूँ कि दीपक जैसे सफेदपोश और पढ़े-लिखे मुजरिम को सख्त-से-सख्त सजा दी जाए, ताकि ऐसे गुनाहगारों के अँधेरे दिमाग और दिलों में इंसाफ़ और भगवान का डर अच्छी तरह से बैठ जाए। That's all your honor."

कई बार टेस्ट हो रहा था। लगता था कि हेमा मालिनी को संवाद याद करना बहुत मुश्किल पड़ रहा था। पर आखिर उसने याद कर ही लिया और टेक शुरू हुआ। पहले टेक में हेमा ने पूरा संवाद एकदम से बोल दिया। निर्देशक ने बहुत प्रशंसा की, "हेमा जी, बहुत अच्छा! फर्स्ट क्लास!" और अब दुबारा टेक शुरू हुआ। इस बार बीच में हेमा ने संवाद बोलने में गलती की। कैमरा रुक गया। फिर टेक शुरू हुआ, फिर गलती हुई। दो-तीन बार ऐसा हुआ और आखिर बड़ी मुश्किल से टेक ओके हो गया।

सुना है हेमा मालिनी को उस दिन दो शिफ्ट में काम करना था। सुबह महबूब स्टूडियो में राजेश खन्ना के साथ "दर्द" की शूटिंग और दिन में फ़िल्म सिटी में धर्मेंद्र के साथ दूसरी फ़िल्म की शूटिंग। व्यस्त हों तो एक दिन में तीन-चार शिफ्ट भी कर लेती हैं। इतनी व्यस्तता में अभिनय करेंगी तो कैसे? सिर्फ़ संवाद बोलना और बदन हिलाना ही अभिनय की कला नहीं है। और उसके अतिरिक्त निर्देशन का सवाल भी है। उस समय निर्देशक ने भी कुछ भी शिकायत नहीं की, बल्कि प्रशंसा ही प्रशंसा करता रहा और ऐमा का कहना सबकुछ मानता रहा। क्या यह भी एक ढंग का निर्देशन है?

यह मल्टी-स्टार फ़िल्म के बुरे प्रभाव का एक सबूत है। हिंदी फिल्मी दुनिया में न जाने कितने सितारे हैं, पर उनमें से नायक-नायिका के रूप में सदा काम करने वालों की संख्या तीस-चालीस से ज़्यादा नहीं होगी। मल्टी-स्टार फ़िल्मों में कम से कम तीन ज़्यादा हो तो सात-आठ नायक-नायिकाएँ काम करते हैं। मल्टी-स्टार फ़िल्म साल में दस-बारह बनाई जाती हैं। उनके अलावा मामूली फ़िल्म भी काफ़ी बनाई जाती हैं। तो देखिए इन तीन नायक-

नायिकाओं को एक समय में कितनी फ़िल्मों में काम करना होगा। एक दिन में दो-तीन शिफ्ट में काम करना पड़ता है तो पात्र के बारे में सोच-समझकर अभिनय करना बहुत मुश्किल है। अभिनय से दूर, संवाद याद करना भी असंभव है। ऐसी फ़िल्में देखकर दर्शकों को भला कैसे मज़ा आएगा।

मल्टी-स्टार फ़िल्मों का बुरा प्रभाव एक और भी है। काम करने वाले सितारे ज़्यादा हो जाते हैं तो ख़र्च भी ज़्यादा हो जाता है। पता है कि अमिताभ की कमाई एक फ़िल्म में तीन से ज़्यादा है। अन्य नायक सगभग दस से बीस लाख तक कमाते हैं और नायिकाएँ ज़्यादातर दस नाम के एक मल्टी-स्टार फ़िल्म बनाने के लिए केवल नायक-नायिकाओं के ख़र्च को लेकर ही काफ़ी महंगी पड़ती है।

इस रुपयों के सवाल से निर्माता ही नहीं दर्शक भी जुड़े हैं। पैसे ज़्यादा चुकाते हैं तो उसे वापस लेने के नहीं, बल्कि के लिए फ़िल्म महँगे दाम से वितरकों को बेचते हैं। तो वितरक भी पैसे वापस लेने के लिए टिकट का दाम बढ़ाते हैं। मैं हर साल बंबई में फ़िल्म देखती हूँ। पिछले पाँच सालों में बाल्कनी का टिकट साढ़े तीन रुपये से बढ़कर सात रुपये हो गया है यानी दुगना हो गया।

ऐसी हालत में फ़िल्म हिट हो जाय तो उतने पैसे चुकाने के बावजूद भी निर्माता आदि को लाभ होता है। लेकिन दर्शकों को अच्छी नहीं लगी तो कमाई बहुत कम हो जाती है। ऐसी हालत में निर्माताओं को लाभ मिलने के बजाय कर्ज हो जाता है। कर्ज ज़्यादा हो जाए तो हिंदी फिल्मी दुनिया का बजट संकट भी निश्चित है। आज तक अनेक मल्टी-स्टार फ़िल्में फ्लॉप हो चुकी हैं। इसका मतलब है कि हिंदी फिल्मी दुनिया का बजट संकट धीरे-धीरे अब नज़दीक आ रहा है। अभी तो फिर भी सोचने का वक़्त है।

(2) नो-आइडिया का सवाल

इस साल के आरंभ में दो फ़िल्मों के नाम बहुचर्चित “शान” और “इंसाफ़ का तराज़ू”।

“शान” सचमुच मल्टी-स्टार फ़िल्म है। इसमें अमिताभ बच्चन, शशि कपूर, शत्रुघ्न सिन्हा, राखी, परवीन बाबी, बिंदिया गोस्वामी, सुनील दत्त ने काम किया है। यह फ़िल्म 70mm की है और लंबी भी है, इस वजह से इसने दर्शकों का ध्यान काफ़ी खींचा।

“इंसाफ़ का तराज़ू” में ज़ीनत अमान है, पर बाक़ी नायक-नायिका नए आने वाले हैं। यह फ़िल्म इसलिए मशहूर हो गई है कि इसमें बलात्कार का दृश्य है।

लेकिन मैंने सुना की यह दोनों फ़िल्में पश्चिमी फ़िल्मों की नक़ल हैं। “शान” जेम्स बॉन्ड की फ़िल्म “The Spy Who Loved Me” की नक़ल है, और “इंसाफ़ का तराज़ू”, “Lipstick” की नक़ल है।

इनसे पहले भी नक़ल की गई फ़िल्में बनाई गई थी। मेरी याद में आती है--“कोशिश” (जापानी फ़िल्म की नक़ल है), “परिचय” (The Sound of Music”), “अभिमान” (“The

Star Is Born") इत्यादि। और केवल विदेशी फ़िल्मों की नक़ल ही नहीं, बल्कि हिंदी फ़िल्में दक्षिण भारत की फ़िल्मों की नक़ल भी करती हैं और दक्षिण फ़िल्में हिंदी फ़िल्मों की। "स र ग म" तेलगू फ़िल्म "Siri Siri Muvva" की, और "रेड रोज़" तमिल फ़िल्म "Sigappu Rojakkal" की नक़ल हैं।

भारत के अंदर की बात है तो खास बात नहीं, लेकिन विदेशी फ़िल्मों से कहानी या आइडिया लेना कभी ग़ैर-कानूनी व्यवहार भी हो सकता है। सहज ही कहानी को भारतीय रूप दे दिया जाता है या फ़िल्म के छोटे-छोटे भागों को मूल फ़िल्मों से बदल दिया जाता है, फिर भी मूल आधार या कहानी लेना कला की चोरी है और रॉयल्टी या ऑरिजनेलिटी की नज़र से ग़ैर-कानूनी है। भारतीय निर्देशकों और निर्माताओं को क्या यह बात मालूम नहीं है? या मालूम होते हुए भी काफ़ी रुपये देने से बचने के लिए वे न मालूम होने का दावा करते हैं?

ऐसी बात केवल फ़िल्म की कहानी ही नहीं, फिल्मी संगीत के बारे में भी कही जा सकती है। लीजिए फ़िल्म "चलते-चलते" का गीत "दूर-दूर तुम रहे" या फ़िल्म "हीरा-पन्ना" का 'पन्ना की तमन्ना है'। 'दूर-दूर तुम रहे' अमरीकी गीत से और 'पन्ना की तमन्ना है' जापानी गीत की धुन से एकदम मिलती-जुलती है।

ऐसा क्यों होता है?

मेरे ख्याल से इसका एक कारण यह है कि फ़िल्में ज़्यादा हैं लेकिन कलाकार कम हैं। फ़िल्मों की संख्या जल्दी बढ़ सकती है, पर कहानीकार, संगीतकार और गीतकारों की संख्या उतनी जल्दी नहीं बढ़ सकती। निर्माता सदा चाहते हैं कि मशहूर कलाकारों से ही काम लें। इस कारण सीमा बहुत कम हो जाती है। नक़ल हो या अनुकरण हो, यदि अच्छी फ़िल्म बनाई जाय तो ठीक है। लेकिन आजकल की फ़िल्में केवल सनसनीखेज़ भागों की ही नक़ल करती हैं। उनसे दर्शकों को संतोष नहीं मिल सकता है। दर्शक धीरे-धीरे देशी फ़िल्मों से ऊबते जा रहे हैं।

4. दक्षिण भारतीय फ़िल्मों का उत्थान

सबसे पहले संख्या को लीजिये। सन् 1979 में सबसे ज़्यादा तमिल फ़िल्में बनीं। तमिल 140, तेलगू 133, मलयालम 131 और उनके बाद आती है हिंदी 114। इन दस सालों में दक्षिण भारतीय फ़िल्मों की संख्या अचानक बढ़ गई है।

इसका मतलब यह है कि दक्षिण भारत की फिल्मी दुनिया ने अब इतनी पूँजी जमा कर ली है जितनी अनेक फ़िल्में बनाने के लिए काफ़ी है। और साथ ही अनेक फ़िल्में देखने वाले दर्शकों की संख्या भी बढ़ गई है। अब दक्षिण भारत में दक्षिण फ़िल्मों के दर्शक हिंदी फ़िल्मों के दर्शकों से ज़्यादा हो चुके हैं। मैं इस साल मद्रास गई और देखा कि हिंदी फ़िल्मों का टिकट

आसानी से मिल जाता है लेकिन तमिल फ़िल्मों का टिकट मुश्किल से मिलता है। खासकर कमल हसन की फ़िल्में बहुत लोकप्रिय हैं।

कमल हसन ने अब हिंदी फ़िल्मों में भी काम करना शुरू किया है। मैंने सन् 1979 में पहली बार उसकी फ़िल्म देखी वह फ़िल्म "Sigappu Rojakkal' थी और बाद में इस फ़िल्म की हिंदी रिमेक "रेड रोज़" बनाई गई। "Sigappu Rojakkal" में कमल हसन ने हत्यारे का रोल अच्छी तरह निभाया। शांत, भद्र नौजवान है लेकिन उसके मन में खून की प्यास है। ऐसा रोल निभाकर उसको पूरी सफलता मिली। उस फ़िल्म में कमल हसन की जोड़ी श्रीदेवी के साथ बनाई थी। श्रीदेवी का अभिनय भी कुशल था। इन दोनों के आकर्षण से फ़िल्म बेहद मनोरंजक बनी

और इस साल कमल हसन की दो फ़िल्में देखीं "Varumaiyin Niram Sivappu" और "Meendum Kokila"। "Varumaiyin Niram Sivappu" चार नौजवानों की कहानी है जो काम की खोज में दक्षिण भारत से दिल्ली आए हैं। तीन लड़के विश्वविद्यालय में पढ़ने के बाद दक्षिण भारत में काम ढूंढ़ते थे, पर नहीं मिलने के कारण दिल्ली में आ गए। वे साथ रहते हैं और हर रोज़ काम ढूंढ़ने के लिए या पैसा कमाने के लिए इधर-उधर जाते हैं। उनमें से एक कमल हसन है। उसके पास फिलॉसफी की पी०एच०डी० है। एक दिन वह दिल्ली स्टेशन पर एक लड़की से मिला। लड़की के पास बड़ा सामान था और लड़की ने कमल हसन को पोर्टर समझकर निवेदन किया कि ज़रा उसे उठा दें। पहले दोनों एक-दूसरे को दिल्ली रहने वाला समझते थे, इसलिए हिंदी में बात करते थे लेकिन पैसा देने के समय लड़की अपने पर्स देखकर बिना सोचे तमिल भाषा में बोली तो कमल हसन चौंक उठा "तुम तमिल हो", "अरे, तुम भी!" दोनों तमिल भाषा में बोलने लगे और वहीं से कहानी शुरू होती है।

इस फ़िल्म का अंत पूरा हैपी-एंड नहीं कहा जा सकता। अंत तक कमल हसन को काम नहीं मिल सका और उसे नाई बनकर बारबर शॉप में काम करना पड़ा। दूसरी तरफ लड़की अभिनेत्री बनने के लिए दिल्ली आई। लेकिन उस आशा को पूरा नहीं कर सकी और अंत में कमल हसन के साथ पुरानी गाड़ी को मकान बनाकर सुखी, लेकिन ग़रीब जीवन शुरू किया। लड़की का पात्र श्रीदेवी ने निभाया। उस फ़िल्म की कहानी ज़रा है बे-सिर-पैर थी, पर कमल हसन के कुशल अभिनय, खासकर हास्य अभिनय से दर्शकों का मन भर गया।

दूसरी फ़िल्म "Meendum Kokila" का अब हिंदी अनुवाद भी बनाया जा रहा है। मूल तमिल संस्करण में कमल हसन, श्रीदेवी और मलयालम फ़िल्म की अभिनेत्री दीपा ने काम किया है। दीपा का पात्र मशहूर अभिनेत्री कामिनी, कमल हसन वकील मणि और श्रीदेवी उसकी पत्नी कोकिला है। मणि और कोकिला एक साथ सुखी रहते थे और उनके एक पुत्री भी थी। एक दिन मणि अपने मित्र के साथ फ़िल्म स्टूडियो गया और कामिनी की सुंदरता को देखकर उसके मन में लालसा हुई। मणि हर रोज़ कामिनी के पास जाने लगा। कामिनी ने मणि

को एक केस भी करवाया, तो दोनों के दिल और नज़दीक आ गए। मणि के घर में आग लग गई। कोकिला साहस जुटाकर कामिनी से मिलने गई और उससे प्रार्थना की कि मणि को उसे वापस सौंप दे। कामिनी कोकिला के भाव को समझकर मणि को दूर करने की कोशिश करने लगी। उसी समय मणि की बच्ची बीमार पड़ गई। अस्पताल में कोकिला की बेचैन हालत देखकर मणि बहुत पछताया और घर वापस लौट आया।

इस फ़िल्म की कहानी काफ़ी अच्छी थी और फ़िल्म की गति भी दर्शकों को फ़िल्म की ओर खींच रही थी तथा तीन नायकों का अभिनय भी उल्लेखनीय था। ऐसी फ़िल्में देखकर पता चलता है कि कमल हसन सचमुच कमाल करने वाला अभिनेता है। गोल आँखें और मूँछ रखने वाला यह नौजवान अभिनेता खास तौर से रोमांटिक कॉमेडी में चमकीला अभिनय करता है। उसके अभिनय में कला भी प्रतिबिंबित होती है। कमल हसन और श्रीदेवी की जोड़ी हमेशा दर्शकों को आकर्षित करती है। इन दोनों के अलावा दक्षिण भारत में उभरते अभिनेता-अभिनेत्रियाँ और भी हैं। उनमें से शोभा सबसे आगे थी लेकिन अफ़सोस की बात है, शोभा ने पिछले साल आत्महत्या कर ली। शोभा को खूबसूरत अभिनेत्री या ग्लैमर अभिनेत्री नहीं कह सकते थे, लेकिन उसकी सुंदरता कुशल अभिनय से पैदा होती थी। मैंने सन् 1979 में उसकी फ़िल्म "Oru Veedu Oru Uragam" देखी। उस फ़िल्म में भी उसका अभिनय बहुत प्रभावशाली था।

केवल तमिल फ़िल्म ही नहीं, तेलगू फ़िल्मों में भी अनेक अच्छी फ़िल्में हैं। 1979 का राष्ट्रीय फ़िल्म पुरस्कार प्राप्त करने वाली फ़िल्म "Shankarabharanam" काफ़ी अच्छी, सुंदर फ़िल्म है। इस फ़िल्म का संगीत कर्नाटक संगीत पर आधारित है और कहानी भी रस भरी है। "Shankarabharanam" के मुख्य पात्र शंकर शास्त्री को वी०पी० सोमयाजुलू ने निभाया। उसके बारे में मुझे कुछ भी मालूम नहीं है लेकिन उसने इस फ़िल्म में आत्म अभिमानी संगीतकार के पात्र को यथार्थवादी अभिनय से निभाया और अभिनेत्री मंजू भार्गवी ने भी वेश्या के घर की लड़की होते हुए भी कला को गहरे मन से पसंद करने वाली लड़की का पात्र सुंदर अभिनय से निभाया। उसके नृत्य में भी ताज़गी थी।

इस सुंदर फ़िल्म का निर्देशन के०वी० विश्वनाथन ने किया है। सुना है उन्होंने "Siri Siri Muvva" का निर्देशन भी किया है। ''Siri Siri Muvva" दक्षिण भारत में बहुत हिट हुई और उसका हिंदी अनुवाद "स र ग म" भी बनाई गई है। इन दो फ़िल्मों को देखकर मुझे लगा कि के०वी० विश्वनाथन काफ़ी शक्तिशाली निर्देशक हैं।

दक्षिण भारत में इस तरह अच्छी फ़िल्में ज़्यादा हैं, लेकिन उत्तर भारत में उन्हें देखने का मौका बड़ी मुश्किल से मिलता है। यह हिंदी भाषा की तानाशाही का बुरा प्रभाव है। अगर फ़िल्म प्रेमी हों तो भाषा की जानकारी के बिना फ़िल्म समझ सकते हैं और देखकर मज़ा भी ले सकते हैं। कम से कम बंबई या दिल्ली में निश्चित रूप से दक्षिण भारतीय फ़िल्में दिखाने का

सिनेमाघर होना चाहिए, नहीं तो उत्तर भारत के लोग अच्छी और मनोरंजक फ़िल्में देखने के मौके से हमेशा के लिए दूर रह जायेंगे।

5. अब क्या होगा?

अब हिंदी फिल्मी दुनिया क्या हो जाएगी? संख्या भी कम और क्षमता भी कम हो रही है, तो नतीजा एक ही है। सबसे पहले दक्षिण भारत में हिंदी फ़िल्मों के मार्केट धीरे-धीरे छोटे हो जाएँगे और उत्तर भारत में भी दर्शक हिंदी फ़िल्मों से ऊबकर अमरीकी या यूरोपीय फ़िल्में ज़्यादा देखने लगेंगे। मल्टी-स्टार फ़िल्में एक के बाद एक फ्लॉप होती जाएँगी और हिंदी फिल्मी दुनिया बड़े कर्ज़ से अपने-आप बरबाद हो जाएगी।

नहीं, ऐसा नहीं होना चाहिए।

उससे बचने के लिए एक ही रास्ता है--अच्छी फ़िल्में बनाना। कुशल कहानी, शक्तिशाली निर्देशन, सुंदर अभिनय इत्यादि लेकर क्षमतापूर्ण फ़िल्में बनानी चाहिए।

हिंदी फ़िल्मों में अच्छी फ़िल्में बनाने की परंपरा है और अब भी ऐसी एक धारा है। आज इस धारा को और तेज़ करना चाहिए। उसकी ज़िम्मेदारी केवल फ़िल्म बनाने वालों की ही नहीं, हम फ़िल्म देखने वालों की भी है।

अब तक मैंने जो भारतीय फ़िल्में देखी हैं उन फ़िल्मों के नाम नीचे दिए गए हैं :

यात्रा न.	**तारीख**	**स्थान**	**सिनेमा**	**फ़िल्म**
(1)	75.12.28.	बंबई	लिवर्टी	जागते रहो
	12.31	नई दिल्ली	ओडेओन	खामोशी
	76.01.06	नई दिल्ली	नाज	फूल और पत्थर
	1. 7	नई दिल्ली	संगम	ज़ंजीर
	1. 8	नई दिल्ली	कमल	हाथी मेरे साथी
	1. 9	नई दिल्ली	गोलचा	गीत गाता चल
	1. 10	नई दिल्ली	अम्बा	शोले
(2)	‘72. 12. 28	पठान (नेपाल)		कभी-कभी
	77. 1. 1	नई दिल्ली	नटराज	दीवार
	1. 2	नई दिल्ली	ओडेओन	लैला-मजनू
	1. 4	नई दिल्ली	डिलाइट	दो अनजाने
	1. 5	लखनऊ	जय भारत	कच्चे-धागे
	1. 6	लखनऊ	प्लाज़ा	प्रतिज्ञा
	1. 7	कानपुर	इम्पेरियल	मजबूर
	1. 10	इलाहाबाद	शिल्पी	आपबीती
	1. 12	बंबई	इम्पेरियल	हेरा-फेरी

(3)	‘77. 12. 16	बंबई	ऑपेरा हाउस	अमर अकबर एन्थोनी
	12. 27	बंबई	मेटलो	भूमिका
	12. 29	बंबई	मराठा मंदिर	दरिंदा
	12. 29	पूना	मंगला	परवरिश
	12. 31	पूना	नटराज	हम किसी से काम नहीं
	12. 31	पूना	मंगला	आँधी
	12. 31	तेहरान(ईरान)	हाफ़िज़	सगीना
	‘78. 1. 1	बंबई	अप्सरा	दूसरा आदमी
	1. 3	नई दिल्ली	ओडेओन	आशिक हूँ बहारों का
	1. 4	दिल्ली	दीप	बेईमान
	1. 5	दिल्ली	नाज़	रोटी, कपड़ा और मकान
	1. 5	दिल्ली	खन्ना	दाग़
	1. 6	मद्रास	अन्ना	ज़िद
	1. 7	मद्रास	लिटल आनंद	Bangaru Bommalu (तेलगु)
	1. 8	मद्रास	पलगोन	Kodimalar (तमिल)
	1. 9	मद्रास	नूरजहाँ	Siri Siri Muvva (तेलगु)
	1. 13	कलकत्ता	इंदिरा	स्वाति (बंगाली)
	1. 15	वाराणसी	विजय	देवर
	1. 18	जयपुर	अम्बर	घरौंदा
	1. 18	जयपुर	अम्बर	शोले
	1. 19	बंबई	गैलेक्सी	ममता
	1. 20	बंबई	लॉक्सी	चरणदास
(4)	‘78. 12. 23	नई दिल्ली	शीला	कर्मयोगी
	12. 23	दिल्ली	गोलचा	पति, पत्नी और वह
	12. 24	नई दिल्ली	शीला	गैम्ब्लर
	12. 25	बंबई	सुपर	खून का बदला खून
	12. 26	बंबई	ऑपेरा हाउस	27 डाउन
	12. 27	बंबई	अप्सरा	त्रिशूल
	12. 27	बंबई	अलंकार	मुकद्दर का सिकंदर
	12. 28	बंबई	नॉवेल्टी	शालीमार
	12. 29	बंबई	मैनर	दिल्लगी
	12. 30	बंबई	वंदना	स्वर्ग-नरक
	‘79. 1. 02	बंबई	स्ट्रंड	आनंद
	1. 03	बंबई	आनंद	बॉबी
	1. 04	बंबई	गंगा	डॉन

	1. 05	बंबई	शालीमार	कस्में-वादे
	1. 05	बंबई	जमना	मैं तुलसी तेरे आँगन की
	1. 06	बंबई	ऑपेरा हाउस	जिस देश में गंगा बहती है
	1. 07	बंबई	स्ट्रंड	सीता और गीता
	1. 08	कलकत्ता	चित्रपुरी	ईमान-धर्म
	1. 09	कलकत्ता	मेट्रो	सत्यम-शिवम-सुंदरम
	1. 10	कलकत्ता	जमना	यादों की बारात
	1. 11	मद्रास	देवी परडैस	Sigappu Rojakkal (तमिल)
	1. 12	मद्रास	देवी	Oru Veedu Oru Uragam (तमिल)
	1. 12	मद्रास	शांति	फँदेबाज़
	1. 14	त्रिवेन्द्रम	श्री कुमार	बेशरम
	1. 17	बंबई	शारदा	नमक हराम
	1. 17	बंबई	सत्यम	शिक्षा
	1. 18	बंबई	सत्यम	सारा आकाश
	1. 19	बंबई	स्ट्रंड	कोशिश
(5)	'79. 12. 21	नई दिल्ली	फिल्मिस्तान	सुहाग
	12. 22	दिल्ली	अम्बा	अभिमान
	12. 22	नई दिल्ली	सपना	आलाप
	12. 23	नई दिल्ली	इरोस	कसौटी
	12. 30	बंबई	मिनर्वा	काला पत्थर
	12. 31	बंबई	गंगा	मिस्टर नटवरलाल
	80. 1. 02	बंबई	ड्रीमलैंड	नूरी
	1. 04	बंबई	ऑपेरा हाउस	जुनून
	1. 5	बंबई	बरखा	गंगा की सौगंध
	1. 7	बंबई	स्वास्तिक	नौकर
	1. 8	बंबई	शालीमार	पूर्व और पश्चिम
	1. 10	नई दिल्ली	रीगल	रत्नदीप
(6)	'80. 12. 27	नई दिल्ली	रीगल	दोस्ताना
	12. 27	नई दिल्ली	शीला	राम बलराम
	12. 29	नई दिल्ली	डिलाइट	आशा
	12. 29	नई दिल्ली	गोलचा	कस्तूरी
	12. 31	बंबई	रीगल	थोड़ी-सी बेवफाई
	12. 31	बंबई	अप्सरा	कुर्बानी
	'81. 1. 2	बंबई	मराठा मंदिर	अब्दुल्ला

	1. 2	बंबई	शालीमार	बॉम्बे टू गोवा
	1. 3	बंबई	सत्यम	जुर्माना
	1. 4	बंबई	मेट्रो	पत्थर के संयम
	1. 4	बंबई	मेट्रो	पायल की झंकार
	1. 6	बंबई	मिनर्वा	शान
	1. 8	हैदराबाद	मिनर्वा	दो और दो पाँच
	1. 8	हैदराबाद	जमरूह	गृहप्रवेश
(7)	‘81. 1. 9	हैदराबाद	मनोहर	अदालत
	1. 10	हैदराबाद	सुदर्शन	shankarbharanam (तेलेगु)
	1. 10	हैदराबाद	नवरंग	जुदाई
	1. 11	मद्रास	एमेरल्ड	दिल का हीरा
	1. 13	मद्रास	सुवम्	Nizhalgal (तमिल)
	1. 14	मद्रास	अन्ना	बंदिश
	1. 14	मद्रास	सफैया	Varumaiyin Niram Sivappu (तमिल)
	1. 17	त्रिवेन्द्रम	श्रीकांत	आपके दीवाने
	1. 18	त्रिवेन्द्रम	एम० पी०	Manzil Virinja Pookal (मलयालम)
	1. 18	त्रिवेन्द्रम	श्री पद्मनाभ	Meendum Kokila (तमिल)
	1. 20	बंबई	गैलेक्सी	हम पाँच
	1. 22	नई दिल्ली	सुदर्शन	दुल्हन वही जो पिया मन भाये

आधुनिक जापानी साहित्य की प्रवृत्तियाँ (1)

शिगेओ अराकि

मुझे भारत के साहित्यकारों से जिन जापानी साहित्यकारों का नाम सुनने का मौका मिला, उनमें हैं नॉबेल पुरस्कार से सम्मानित यासुनारी कावाबाता, ओसामु दाज़ाई, युकियो मिशिमा और योने नोगुचि। वे विदेशी साहित्यकारों एवं आलोचकों से परिचित हैं परंतु हमारे जापानी साहित्य के इतिहास में, जापानी साहित्य का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता।

उनका नाम इसलिए विदेशों में प्रसिद्ध है कि उनकी रचनाएँ विदेशी साहित्यकारों एवं आलोचकों पसंद आती है। मैं यहाँ इस तरह से विदेशियों की पसंदीदा रचनाओं को छोड़कर जापानी लोगों की दृष्टि के आधार पर जापानी साहित्य का इतिहास और प्रवृत्तियों के विषय में भारतीय दोस्तों से कहना चाहता हूँ।

आमतौर पर कहा जाता है कि जापानी संस्कृति नक़ल की संस्कृति है। परंतु सही ढंग से देखा जाए तो मालूम हो जाता है कि आधुनिक जापानी साहित्य का इतिहास हमारे देश के परंपरागत साहित्य एवं मूल्यों और पाश्चात्य देशों से साहित्यिक, सांस्कृतिक मूल्यों के संघर्ष और समन्वय का इतिहास है। इस प्रकार ऐतिहासिक परिस्थिति भारतीय साहित्य की ऐतिहासिक परिस्थिति में भी देखने को मिलेगी। भारत में भी महान साहित्य परंपरा रही है, फिर भी आधुनिक काल में पाश्चात्य देशों के साहित्य एवं संस्कृति का उस पर गहरा प्रभाव और उससे संघर्ष करते-करते भारतीय साहित्यकारों ने अपने देशीय आधुनिक साहित्य का निर्माण किया। दोनों देशों के आधुनिक साहित्य की ऐतिहासिक परिस्थिति की समानता में दोनों देशों के साहित्यकारों का समय भी देखने को मिलता है।

इसलिए, मैं आधुनिक जापानी साहित्य का इतिहास और विशेष भारतीय समय में भारतीय साहित्य इतिहास थोड़ा जानता हूँ। दोनों देशों की साहित्यिक प्रवृत्तियों के स्वर के बारे में यहाँ लिखने की जगह नहीं है, पर भारत के पाठक महोदय इस लेख से दोनों देशों के आधुनिक साहित्य की समानता और भिन्नता भी देख सकेंगे। यह लेख निम्नलिखित विषयों के अनुसार तीन भागों में प्रस्तुत किया जाएगा। इसमें साहित्य निर्माण काल (सन् 1870-1920) की प्रवृत्तियाँ और रचनाएँ, तृतीय अंक में मार्क्सवाद से प्रभावित श्रमजीवी साहित्य और प्रतिक्रियावादी अति राष्ट्रीयवादी रोमांटिसिज्म साहित्य कृतियाँ और सन् 1920 से लेकर द्वितीय महायुद्ध के जापान की हार तक की रचनाएँ, चतुर्थ अंक में द्वितीय महायुद्ध के बाद से आज तक की साहित्यिक प्रवृत्तियों और रचनाओं के बारे में अवगत कराया जाएगा।

इस निबंध में कहानियों एवं उपन्यासों के बारे में हो कहा जाएगा क्योंकि कविता, नाटक आदि का जापानी भाषा की विशेषताओं और परंपरागत संस्कृति से गहरा संबंध है। इसलिए उन्हें दूसरे देश के लोगों से अवगत कराना कठिन काम है। इधर कहानी व उपन्यास युग की भावनाओं को सीधा प्रकट करने का साहित्य है। उपन्यास की प्रवृत्तियों को बताने से सिर्फ़ जापानी साहित्य का इतिहास ही नहीं, बल्कि जापानी समाज में होने वाले परिवर्तनों से भी पाठक महोदय परिचित हो सकेंगे।

(1)

मेइजि युग की राजनैतिक क्रांति (सन् 1868) से जापान का वास्तविक आधुनिकीकरण प्रारंभ हुआ। इस क्रांति की पृष्ठभूमि अर्थात् हमारे देश के आधुनिकीकरण की शुरूआत के बारे में विचार करने के वक़्त जापान के अपने इतिहास में से उभरी हुई देशीय आधुनिकता और पाश्चात्य देशों से आयातित आधुनिक सभ्यताओं के प्रभाव से उत्पन्न आधुनिकता के बारे में विचार करना चाहिए। वस्तुतः हमारे देश की आधुनिकता का मूल कारण पाश्चात्य देशों की आधुनिक सभ्यता का प्रभाव था, परंतु मेइजि क्रांति से पूर्व ही जापान स्वयं आधुनिकता की ओर चल रहा था। पर इसकी गति धीमी थी और अपने देश की आंतरिक शक्ति से पूँजीवादी क्रांति पैदा करने के वक़्त तक नहीं पहुँचा था, लेकिन पाश्चात्य देशों के साथ संपर्क में आने से जापान में मेइजि क्रांति के वातावरण तैयार हो गया था। जैसा कि मैं लिख चुका हूँ कि यह अपने इतिहास में उभरी हुई आधुनिकता का अंकुर था।

16वीं शताब्दी तक जापान में सामंती प्रथा स्थिर हो गई थी। इस सामंती युग में व्यापारी वर्ग के लोगों की शक्ति बढ़ गई थी। इस वर्ग के व्यापारी लोगों की ज़िंदगी को चित्रित करने वाले लेखक भी पैदा हुए। उन लोगों ने राजा, भगवान, सत्ता आदि के प्रति आधुनिक मानव का विचार प्रकट करने वाली उच्च स्तरीय कहानियों का सृजन किया। 17वीं शताब्दी में नाटककार मोन्जाएमोन चिकामात्सु और कहानीकार साइकाकु इहारा ने अच्छी अर्थपूर्ण रचनाएँ लिखीं। मेइजि क्रांति युग के पूर्व शुन्सुइ तामेनागा इस युग के लोकप्रिय लेखक थे। लेकिन सामंती समाज में व्यापारी वर्ग के लोगों का साहित्य शिक्षा की दृष्टि से और नैतिक दृष्टि से नीचा साहित्य समझा जाता था। उस युग के सत्ताधारी वर्ग के पुरुषों को अर्थात् क्षत्रिय वर्ग (बुशि) के पुरुषों को चीनी दर्शन शास्त्र के आधार पर लिखे गए राजनीति शास्त्र, इतिहास, नीतिशास्त्र और चीनी कविताएँ पढ़नी आवश्यक थी। सामंतवादी सरकार की नीति के अनुसार व्यापारी वर्ग का केवल वही साहित्य, जिसमें राजनीति और सामाजिक आलोचना न थी, स्वीकार किया गया। इसके परिणामस्वरूप व्यापारी लोगों का साहित्य धीरे-धीरे वेश्याघर को विषय बनाकर प्रेम कथाओं में ही डूब गया। सामंतवादी आचार के अनुरूप नायक और वेश्या नायिका के संबंध टूट जाने की दुःखमय प्रेम कथाएँ और अन्य दुःखांत

कथाएँ लिखी गई थीं। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में व्यापारी वर्ग के साहित्य का पतन होने लगा था और विषयों की पुनरावृत्ति लुप्त होने वाला था।

सामंती समाज में जापानी साहित्य की इस दुःखमय परिस्थिति में पैदा हुई विशेषताएँ, राजनीति एवं विचारधारा के प्रति उपेक्षा, समाज से दूर रहना, विशिष्ट सीमित दुनिया में डूबना, भावना एवं भावात्मकता की अधिकता, तर्कसंगत ढंग से लिखने का अभाव, लेखकों की हीन भावना आदि थीं और जापानी साहित्य की आधुनिकता की शुरूआत इन जापानी साहित्य की कमियों से लड़ाई से हुई। फिर भी इसके बाद के हमारे आधुनिक साहित्य में भी इन विशेषताओं की गहरी छाप मौजूद है। व्यापारी लोगों के साहित्य में समाज के प्रति आलोचनात्मक अभिव्यक्ति मना थी और सत्ता वर्ग के साहित्य में चीनी दर्शन एवं चीनी काव्य के आधार को ही स्वीकार किया गया था। इसलिए 1887 के आस-पास साहित्यिक आंदोलन शुरू होने तक हमारे देश के साहित्यकार आधुनिक राष्ट्र के निर्माण काल के राजनैतिक एवं सामाजिक परिवर्तनों को कहानी में नहीं ला सके। इस युग के व्यापारी वर्ग का साहित्य अर्थात् दूसरे शब्दों में जनता का साहित्य जापानी जन-जीवन में एकदम आयातित पश्चिमी देशों के सभ्यता, संस्कृति की असममिति को विषय बनाकर हास्य एवं व्यंग्यात्मक ढंग से अधिक लिखा गया। सत्ता वर्ग अर्थात् बौद्धिक वर्ग का साहित्य राजनैतिक आंदोलन के एक अंग के रूप में लिखा जाने लगा। जनता का साहित्य सिर्फ़ हल्का व्यंग्य था और इसका उद्देश्य मनोरंजन के लिए ही था। इनमें नए युग की विचारधारा का अभाव था और इधर बौद्धिक वर्ग का साहित्य लेखक के आदर्श के अनुसार लिखा गया था। यह यद्यपि उत्तेजनात्मक था पर इसमें चीनी दर्शन में चित्रित की गई वीरगाथा से बुनियादी अंतर नहीं था जो बौद्धिक वर्ग के पठन-पाठन का मुख्य आधार था।

जापान में पाश्चात्य देशों की सभ्यता का आयात पाश्चात्य देशों की ही तरह के राष्ट्र निर्माण के लिए किया गया था। इस आयात से बौद्धिक वर्ग के नवयुवकों में राजनैतिक-आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन, विज्ञान शास्त्र के अध्ययन करने की चाह उत्पन्न हुई और इनके द्वारा सरकारी नौकरी पाने की चाह भी। अब बौद्धिक वर्ग के लोग परंपरागत शिक्षा को छोड़कर अपने देश की प्रगति के लिए पाश्चात्य देशों के राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, शिल्प विज्ञान आदि को आयातित करके पढ़ने लगे। परंतु साहित्य का देश के निर्माण से सीधा संबंध न होने के कारण कुछ उपेक्षित ही रहा।

साहित्यिक अनुवाद भी केवल देश हित के लिए किया गया। S. Smiles का "Self Help" "पश्चिमी देशों में सफलता की कहानियाँ" शीर्षक से 1871 में अनुवाद किया गया। इसमें पश्चिम देशों के आविष्कारकों या समाज सुधारकों की सफलता की कहानियाँ हैं। 19वीं शती के आठवें दशक में राजनैतिक उपन्यास के रूप में फ्रेंच क्रांति को चित्रित करने वाला A. Dumas के उपन्यास और राजनैतिक संघर्ष को चित्रित करने वाले P. Wernier के उपन्यास,

F. Schiller के "Wilhelm Tell", T. Moore के "Utopia" और J. J. Rousseau की रचनाओं का अनुवाद किया गया। और जन-साधारण के लिए Lord Lytton, W. Scott की कहानियाँ "Decameron", "Arabian Nights" का अनुवाद किया गया। Shakespeare के नाटकों में "Romeo and Juliet" प्रेमकथा और "Julius Caesar" राजनैतिक नाटक और "Marchant of Venice" पश्चिमी न्याय-व्यवस्था पर आधारित रचनाओं का कहानी के रूप में अनुवाद किया गया। प्रेम कथाओं के अनुवाद कार्य में एक प्रकार की व्यंग्यात्मक भावना होती थी। वह यह थी कि इस संक्रमण काल में देश की प्रगति, निर्माण के लिए बहस और सत्ता में शामिल होने की जो अभिलाषा, जो बौद्धिक वर्ग के लोगों के मन में थी और उस गंभीर लोगों के प्रति हास्य के साथ उड़ाना चाहते थे कि पश्चिम देशों के लोग भी प्रेम करते हैं।

(2)

इस प्रकार की परिस्थिति में, हमारे देश में आधुनिक साहित्य सन् 1887 के आसपास प्रारंभ होता है। इस काल की उल्लेखनीय कृतियाँ शोयो त्सुबोउचि का साहित्यिक सिद्धांत "शोसेत्सु शिन्जुइ" ("उपन्यास का तत्त्व", 1885) और शिमेइ हुतावातेइ का उपन्यास "उकिगुमो" ("बहता छोटा बादल", 1887) हैं। मेइजि के राजनैतिक क्रांति के 20 साल बाद समाज स्थिर होता जा रहा था। अस्थिर समाज में राजनैतिक आदर्श एवं बड़े अफसर बनने का सपना जिन नवयुवकों ने देखा था अब उन्हें अपना सपना टूटता हुआ महसूस होने लगा था।

इस युग तक लेखन कार्य परंपरागत दृष्टि से कुछ हेय कार्य समझा जाता था। इसलिए जब शोयो त्सुवोउचि साहित्यकार बन गया तब लोगों को आश्चर्य हुआ। क्योंकि शोयो ने देश के नेता बनाने वाले विश्वविद्यालय में पढ़ाई की थी यानी वह एक बौद्धिक आदमी था। उससे प्रभावित होकर कुछ और शिक्षित नवयुवक भी साहित्यकार बनने के लिए प्रयास करने लगे। शोयो ने "शोसेत्सु शिन्जुइ" में लिखा है कि उपन्यास एक कला है, पाश्चात्य देशों में कला को सम्मान दिया जाता है। उपन्यास नैतिक एवं राजनीतिक विचारधारा के प्रचार का माध्यम नहीं, बल्कि अपने में स्वयं एक मूल्यवान उपलब्धि होता है और उपन्यास का महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानव स्वभाव को जानकर इसके मनोभावों का यथार्थपूर्ण ढंग से चित्रण करना है। तोक्यो विदेशी भाषा विद्यापीठ (आज का तोक्यो विदेशी भाषा विश्वविद्यालय) में रूसी भाषा पढ़ रहे शिमेइ हुताबातेइ ने पुशकिन (A. S. Pushkin), लेरमोनतोव (M. Y. Lermontov), गोगोल (N. V. Gogol), तुरगेनेव (I. S. Turgenev), गोनूचारोव (I. A. Goncharov) आदि की कृतियों एवं शोयो के "मोसेत्सु शिन्जुइ" से प्रभावित होकर एक उपन्यास "उकिगुमो" ("बहता छोटा बादल") लिखा। यह मेइजि क्रांति के बाद के नए जापान अर्थात् आधुनिक राष्ट्र बनाने के वक़्त लिखा गया प्रथम उपन्यास है।

राजनैतिक एवं सामाजिक संक्रमणकाल में लिखे गए उपन्यासों में चित्रित किए गए नायक हमेशा आदर्शवादी एवं उद्यमी होते थे, परंतु इस उपन्यास का नायक ऐसा नहीं था। इस उपन्यास का नायक बुन्ज़ो सीधा-साधा और शिक्षित आदमी था। वह चमचागीरी नहीं कर सकता था इस वजह से उसे सरकारी नौकरी छोड़नी पड़ी। नौकरी खोने के कारण उसकी मंगेतर नायिका ओसेइ भी उससे धीरे-धीरे दूर हो जाती है। ओसेइ दूसरे आदमी से प्यार करने लगी जो आदमी कभी बुन्ज़ो के साथ काम करता था और वह आदमी बिना शादी किए ही ओसेइ से शारीरिक आनंद उठाता रहा। बेरोज़गार बुन्ज़ो ओसेइ के लिए कुछ नहीं कर सकता था और अपने को शक्तिहीन और असमर्थ जानकर वह क्षोभ में पड़ गया। 'उकिगुमों' को हमारे देश के आधुनिक साहित्य का प्रथम उपन्यास कहा जाने के तीन कारण हैं— एक तो यह कि उस उपन्यास में सर्वप्रथम साहित्यिक भाषा को बोल-चाल की भाषा में बदलकर लिखा गया; दूसरा, इसमें मनोवैज्ञानिक चित्रण काफ़ी यथार्थपूर्ण था और तीसरा, लेखक के व्यक्तित्व और भाग्य, नायक के व्यक्तित्व और भाग्य दोनों में परस्पर गहरा संबंध था। लेखक को लग रहा था कि आधुनिक अहम् को जागृत करके इंसान की तरह जीने की उम्मीद रखने वाले नवयुवक इस समाज में नहीं जी सकते और उन्हें अकेलेपन का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार लेखक ने अपनी भावनाओं को इस उपन्यास में अभिव्यक्त किया है। इसमें सत्ता एवं सामाजिक व्यवस्था के प्रति लेखक ने अपने आक्रोश को प्रकट किया। हमारे देश का आधुनिक साहित्य वस्तुतः शासक वर्ग अथवा समाज को काबू करने वाले वर्ग की देन न होकर, शासन व्यवस्था से निकलने वालों की देन था अथवा सत्ता द्वारा पीड़ित लोगों की उपलब्धि था। आधुनिक राष्ट्र निर्माण काल मानो बौद्धिक वर्ग की प्रतियोगिता का युग था- सत्ता, पूँजी, धन, शक्ति, और जनता को अपने हाथ में लेने की। किंतु कटु यथार्थ और आदर्श जीवन के अंतर के विषय में चिंतन करने वालों द्वारा ही आधुनिक जापानी साहित्य की सृष्टि हुई। शिमेइ के उपन्यास का नायक बुन्ज़ो एक सत्ता और व्यवस्था द्वारा पीड़ित व्यक्ति था और उसके पास वह मानवता, आधुनिकता और कलात्मकता थी जो अन्य व्यक्तियों के पास नहीं थीं। बुन्ज़ो के व्यक्तित्व में हम जापानी आधुनिक साहित्य की प्रवृत्ति देख सकते हैं। जापानी आधुनिक साहित्यकार पाश्चात्य आधुनिक साहित्य से प्रभावित होते हुए भी सत्ता से निकलने वाले एवं पीड़ित लोग थे। आधुनिक साहित्यकारों की प्रवृत्ति बुनियादी तौर पर सत्ता के प्रति आलोचनापूर्ण थी।

(3)

"शोसेत्सु शिन्ज़ुइ" ("उपन्यास का तत्त्व") में प्रतिपादित यथार्थवादी लेखन आंदोलन से प्रभावित होते हुए भी इसके बाद पूर्व युग के कथानकों पर आधारित लोकप्रिय उपन्यास अधिक लिखे गए। इनमें से प्रमुख थे कोयो ओज़ाकि का "कोंजिकि याशा" ("पैसे से आकर्षित

लोग" 1897) और रोहान् कोदा का "गोजूनो तो" ("पाँच मंजिल का पगोड़ा" 1891)। "कोन्जिकि याशा" में अपने प्रेमी से प्यार करते हुए भी अमीर आदमी से शादी करने का रास्ता चुन लेने वाली प्रेमिका की ज़िंदगी और प्रतिरोध में सूदखोर बने प्रेमी की ज़िंदगी का चित्रण है। यह उपन्यास दुःखमय बंधन-ग्रस्त उच्चवर्गीय जीवन व्यतीत करते सच्चे प्रेमी की स्मृति में डूब जाती प्रेमिका को चित्रित करने के कारण बहुत लोकप्रिय हो गया।

"गोजूनो तो" जूबे नामक प्रतिभावान् बढ़ई द्वारा लालच, उत्पीड़न एवं अपनी बिरादरी से निष्कासित होकर भी अपने कलात्मक आदर्श के लिए पाँच मंजिला पगोड़ा बनाने की कहानी है। इस रचना में लेखक ने जापानी लोगों के कलाबोध, कलावादी और एशियाई अध्यात्मवादी भावनाओं को एक पुरुषार्थी रूप में चित्रित किया है। "गोजूनो तो" क्षत्रिय जाति के शिक्षित लोगों में काफ़ी लोकप्रिय हुआ।

इस युग में यथार्थवादी लेखन आंदोलन के विपरीत कोयो ओज़ाकि के शिष्य क्योका इज़ुमि ने पूर्व युग के Decadence की रमणीय भावना के पुनरुत्थान के साथ-साथ अपने साहित्य में मायावी एवं रहस्यमय सौंदर्यशास्त्र वादी दुनिया का निर्माण किया और यथार्थपूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति या मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति को छोड़कर काल्पनिक दुनिया को यथार्थपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त किया। काल्पनिक दुनिया के चित्रण की साहित्य धारा में गंभीर उपन्यास और दु:खांत उपन्यास काफ़ी मिलते हैं। गंभीर उपन्यास लिखने वालों में बिज़ान कावाकामि और दुःखांत उपन्यास लिखने वालों में रयुरो हिरोत्सु प्रसिद्ध हैं। उन लोगों ने रोगार्त्त के समय भावुक और निराशावादी विचार से समाज के पहलुओं को एक काल्पनिक दुनिया में ढालकर अभिव्यक्त किया।

बिज़ान के "शोकिकान" ("सचिव" 1895) में सरकारी अधिकारी और व्यापारी द्वारा किए गए षड्यंत्र का चित्रण किया गया है और "उरा तो ओमोते" ("पीछे और सामने" 1895) की कहानी में नायक दिन में समाज-सेवक का काम करता है और रात में डाकू बन जाता है। नायक अंत में इस अंतर्विरोधी जीवन से मुक्ति पाने के लिए आत्महत्या कर लेता है। वस्तुतः लेखक ने स्वयं भी यह उपन्यास लिखने के बाद आत्महत्या कर ली थी। रयुरो के "इमादो शिन्जू" ("इमादों में प्रेमी-प्रेमिका द्वारा आत्महत्या" 1896) में एक वेश्या की कहानी प्रस्तुत की गई। है जिसका अपने प्रेमी से संबंध टूट जाता है और निराश वेश्या एक दूसरे ग्राहक के प्रति, जो कि उसके लिए अपना सारा धन नष्ट कर देता है, संवेदना में उसके साथ आत्महत्या कर लेती है।

जापान-चीन युद्ध में विजय के बाद जापान में आर्थिक दृष्टि से सूत-उद्योग जैसे लघु उद्योगों का भरपूर विकास हुआ था और प्रारंभिक पूजीवादी व्यवस्था का निर्माण होने लगा। विचारधारा में राष्ट्रवाद की प्रवृत्ति दृढ़ होकर समाज में परस्पर विरोधी भावना, नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी में विचार का, नीति का अंतर उभरने लगा। इस युग की परिस्थिति को प्रतिबिंबित

करके लोकप्रिय हुआ उपन्यास रोका तोकुतोमि का "हो तो तो गिसु" ("रात में चहचहाता पक्षी" 1898) था। यह सेनाधिपति की विवाहिता पत्नी की दु:खमय कहानी है। पति की अनुपस्थिति में, जो कि युद्ध में भाग लेने के लिए घर से बाहर गया हुआ था, क्षय रोग से पीड़ित नायिका को घर के लोगों द्वारा तिरस्कृत कर दिया जाता है। नायिका अपने पति से प्यार करती है, पर उससे मिल नहीं पाती है और क्षय रोग के कारण मर जाती है। पति भी उससे प्यार करता है पर उसके लिए कुछ भी नहीं कर पाता। अंत में पति अपनी पत्नी की समाधि के सामने रो पड़ता है। लेखक रोका ने इसमें सामंतवादी परिवार प्रथा की आलोचना की थी। नायिका का मृत्यु के समय चिल्लाकर कहना कि "अगले जन्म में मैं कभी स्त्री के रूप में इस दुनिया में नहीं आऊँगी" संभवतः हमारे देश की आधुनिक स्त्री के जागरण की शुरूआत कहा जा सकता है। रोका ने ईसाई धर्म में दीक्षा ली और टालस्टाय के मानवतावाद से प्रभावित हुआ और बाद में देहात में एकांत जीवन व्यतीत करते-करते उसके विचार में फिर परिवर्तन हुआ। वह विचार परंपरागत विचारधारा की ओर लौट आया और वह प्रकृति, भाववाचक एवं विश्वव्यापक परमेश्वर दर्शन को मिश्रित करके अपना धर्म बनाकर मानने लगा। इस प्रकार के लेखक की जीवन-यात्रा 20वीं शती के पूर्वार्द्ध से हमारे देश के ईमानदार लेखकों में अधिक मिलती है। समसामयिक युग के जापानी समाज के अमानवीय तत्त्व को उपन्यास की विषय वस्तु बनाने वाले उपन्यासकारों में नाओए किनोशिता प्रमुख था। उसने "हिनो हाशिरा" ("अग्नि का खंभा" 1904) में कोयला मजदूरों की हड़ताल और युद्ध विरोधी अभियान आदि का राजनैतिक घटनाओं को पृष्ठभूमि में रखकर सैनिक अधिकारी, राजनीतिज्ञ, व्यापारी लोगों के प्रति संघर्ष करने वाले नायक (समाचार पत्र का संवाददाता) का चित्रण किया। "ओत्तो नो कोकुहाकु" ("पति का बयान" 1904) में उसने यह चित्रित किया कि वकील नायक एक देहाती कस्बे में पत्नी के घर में रहता है। वह पत्नी के घर की और देहाती सामंती प्रथा, रीति-रिवाज़ से लड़ता है। इस उपन्यास को 19वीं शती के 8वां दशक के राजनैतिक उपन्यास और 20वीं सदी के दूसरे दशक में आने वाला श्रमजीवी साहित्य (Proletarian Literature) को जोड़ने का उपन्यास कहा जा सकता है।

नाओए किनोशिता स्वयं वकील था और उसने वेश्या प्रथा उन्मूलन आंदोलन एवं हमारे देश के पहले प्रदूषण विरोधी अभियान (आशिओ नामक तांबे के कारखाने में विष बहाने के कारण कई लोग मर गए थे।) में सक्रिय कार्य किया था। उन्होंने अपने साथी के साथ समाजवादी लोकतांत्रिक दल की स्थापना की थी किंतु सरकार के दबाव से उनका दल भंग किया गया। इसके बाद उन्होंने "हेइमिन शिन्बुन" ("जनता का समाचार पत्र") के संवाददाता बनकर जापान-रूस युद्ध के प्रति युद्ध विरोधी आलोचना की। वे ईसाई समाजवादी थे पर बाद में उन्होंने भी समाजवाद को छोड़ दिया और ईसाई धर्म से भी दूर होकर बौद्ध धर्म में मुक्ति प्राप्त करने का रास्ता चुन लिया था।

इस युग के बाद जापानी साहित्य ने प्रकृतिवाद के युग में प्रवेश किया जो जापानी आधुनिक साहित्य की विशिष्टता है वह आज भी जापानी साहित्य का आधार है। रोमांटिकवाद और प्रकृतिवाद के संक्रमणकाल में दोप्पो कुनिकिदा ने उस युग की आत्मा को गहराई से चित्रित किया था। उनके मन में दो प्रकार के मनोभाव मौजूद थे। एक तो राजनैतिक एवं सामाजिक आकांक्षा, दूसरा, ईसाई धर्म की भक्ति भावना; यह दोनों इनके मन में मौजूद थे इसलिए लालसा, आकांक्षा और धर्म के बीच उनका मन डोलता रहा।

अतः उन्होंने इस तरह की अपनी आंतरिक यातना को उपन्यास में व्यक्त किया। उनके उपन्यास अपनी आंतरिक अनिवार्यता से लिखे गए थे, इसी वजह से उनका लेखन साधारण उपन्यास से भिन्न था।

दोप्पो कुनिकिदा निराशा में प्रकृति की सुंदरता को भावकाव्यात्मक एवं रोमांटिक तरीके से “मुसाशिनो” (तोक्यो के निकट क्षेत्र का नाम, 1898) नामक उपन्यास लिखा। “ग्यूनिकु तो बरेशो” (“गाय का माँस और आलू” 1901) में आदर्श और यथार्थ की भिन्नता को चित्रित किया और “उन्मेइरोन्जा” (“भाग्यवादी” 1902) “ताके नो तो” (“बाँस का दरवाजा” 1908) के द्वारा उनकी रचनाओं में प्रकृतिवाद की प्रवृत्ति दृढ़ हो जाने के साथ-साथ यथार्थ के प्रति निराशा की भावना भी स्थिर हो जाती थी। अंत में उनकी निराशा की भावना युग और समाज को पार कर रहस्यमय परम तत्त्व की ओर उन्मुख कर देती है। वे आधुनिक साहित्य में मानव की मुक्ति की खोज करने वाले पहले लेखक थे। वे इस युग के उच्चकोटि के रोमांटिकवादी लेखक थे और उनका लेखन आने वाले प्रकृतिवादी युग के लेखन के लिए नमूना बन गया था। कुनिकिदा आधारभूत जीवन मूल्यों के विचारक भी थे।

रूस-जापान महायुद्ध के बाद जापानी समाज तेज़ गति से परवर्तन होने लगा। अर्थ-व्यवस्था में लघु उद्योग का बड़े उद्योग में परिवर्तन होने लगा। इस युग में लोहे का उत्पादन एकदम बढ़ गया। साहित्यकारों की अभिरुचि राजनीति, समाज, परिवार प्रथा एवं सामंतवादी भावना पर केंद्रित होने लगी। अच्छे उपनयास लिखने के उद्देश्य से कहीं अधिक यह महत्त्वपूर्ण हो गया था कि साहित्यकारों को किस तरह की ज़िंदगी जीनी है और किस प्रकार समाज देखना है। साहित्यकारों के लिए विचारधारा और जीने का तरीका महत्त्वपूर्ण हो गए। अर्थात् यह युग पूर्ववर्ती साहित्यिक प्रभाव को छोड़कर नए साहित्य का निर्माणकाल कहा जा सकता है। साहित्यकारों ने पहले प्रकृति को जापानी भाषा में यथार्थपूर्ण ढंग से चित्रण करने के अभ्यास से शुरू करके फ्रेंच के E. Zola की शैली, Rousseau की विचारधारा, रूस के Turgenev, Tolstoi, Dostoevskii से पिछड़े समाज की परिस्थिति के प्रति विरोधी जीवन जीने का तरीका सीखा।

इस धारा का कीर्तिमान उपन्यास था तोसोन् शिमाज़ाकि का “हाकाइ” (“चेतावनी को तोड़ना” 1906)। उन्होंने आधुनिक विचारधारा से प्रभावित होने की वजह से परंपरागत

जापानी समाज में अस्वीकार की गई अपनी भावना को उपन्यास के नायक में डाल दिया। नायक का नाम उशिमात्सु है। वह समाज में अन्यायपूर्ण तरीके से अलग किया गया बुराकुमिन (जापानी अछूत जाति) है। उसकी कहानी इस प्रकार है :-

बड़ी कठिन परिस्थिति में पढ़ाई समाप्त करके उशिमात्सु एक देहाती प्राथमिक स्कूल का अध्यापक बन गया था। उसके पिता ने उससे हमेशा के लिए अपनी जाति को छिपाने को कहा। पाश्चात्य आधुनिक विचारधारा का आगमन होते हुए भी देहाती क्षेत्र में दृढ़ सामंती रीति-रिवाज़ मौजूद थे। अगर गाँव के किसी भी आदमी को उशिमात्सु की जाति मालूम हो जाती तो उसको नौकरी छोड़नी पड़ती थी। इसलिए उसके पिता ने चेतावनी दी थी। उसको अपनी जाति को छिपाने के कारण मानसिक कष्ट उठाना पड़ा। फिर भी उसमें अपनी जाति बताने की हिम्मत नहीं थी। पिता की मृत्यु और जाति तोड़ो आंदोलन के एक सक्रिय कार्यकर्त्ता की हत्या, और उस कार्यकर्त्ता को अंत तक साहसपूर्वक जूझते उसने देखा। वह अपने को ही बचाने की स्वार्थी भावना को छोड़कर पिता की चेतावनी की अवहेलना करते हुए अध्यापक की नौकरी छोड़कर बुराकुमिन जाति के दोस्त के साथ रहने के लिए रवाना हुआ जोकि अमेरिका में रहता था।

तोसोन् ने जापान की भेदभाव प्रथा को उपन्यास की पृष्ठभूमि में रखकर समाज और अहम्, बाह्य यथार्थ के और मन की सच्चाई के परस्पर संघर्ष को दिखाकर, अंत में दोनों का समन्वय करके आधुनिक यथार्थवादी को रचना की।

इस युग के और एक लेखक काताई तायामा ने अपने अंतर के रूढ़िवाद तोड़ने के लिए उपन्यास में अपने अनुभव सीधा बताने का तरीका अपनाया। "फुतोन" ("रजाई" 1908) में उसने एक ऐसे व्यक्ति का चित्रण किया कि जो एक जाने-माने साहित्यकार के क्लेश (जिसके पत्नी और बच्चे भी थे परंतु फिर भी वह अपनी शिष्या से शारीरिक कामना करता था।) को सीधा उपन्यास में प्रस्तुत किया। लेखक ने बाह्य व्यवहार और यश पाने पर ज़ोर देने वाले समाज में अपनी मानसिक लज्जा को सब लोगों के सामने व्यक्त किया। अपनी व्यक्तिगत सच्ची भावना को प्रकट करना उसके नए साहित्य का सिद्धांत था।

इस उपन्यास ने अन्य साहित्यकारों को बहुत प्रभावित किया। क्योंकि अब तक साहित्यकार जापानी समाज-व्यवस्था को ही देखते थे और अपनी आंतरिक समस्याओं को नहीं देखते थे। साहित्य कोई खेल अथवा मनोरंजन नहीं, बल्कि वह यथार्थ को यथार्थपूर्ण दृष्टि से खोजने का एक गंभीर विज्ञान है और अपने मन को धोखा न देकर जीवन क्षेत्र और अनुभवों को व्यक्त करने का नीतिपूर्ण क्षेत्र है।

काताइ के साहित्यिक सिद्धांत से प्रभावित तोसोन ने अपने यौवन युग के अनुभवों को "हारु" ("वसंत" 1908) में व्यक्त किया और जापानी सामंती प्रथा का प्रतीक--परिवार प्रथा को "काज़ोकु" (परिवार" 1910) में व्यक्त किया, जिसमें अपने परिवार के पतन का इतिहास

चित्रित किया गया है। इसके बाद परिवार के रक्त-संबंधी डर एवं पाप की भावनाओं को "साइसेइ" ("दिवज" 1918) में अभिव्यक्त किया, जिसमें भतीजी से प्रेम करने के अपने अनुभव का चित्रण है। 1929 में उन्होंने मेइजि क्रांति का इतिहास और अपने घर के पतन के इतिहास का समन्वय करके उपन्यास "योआकेमाए" ("भोर") लिखा।

इधर काताइ ने भी "सेइ" ("जीना" 1908) "त्सुमा" ("पत्नी" 1909) "शुकुमेइ" ("भाग्य" 1910) में अपने से संबंधित परिवार प्रथा के अनुभव और विचारों को प्रस्तुत किया। उन्होंने "इनाका क्योशि" ("देहाती अध्यापक" 1909) में बड़े महत्वाकांक्षी होते हुए भी अपने परिवार के पतन के कारण देहाती स्कूल का अध्यापक बन गए एक युवक की ज़िंदगी का चित्रण किया। नायक अपना सपना टूट जाने से निराशा होकर दु:खी जीवन व्यतीत करता था और उस दु:खी जीवन से मुक्त होने का प्रयास भी करता रहा, परंतु बीमार होकर नितांत अकेलेपन में नायक मर जाता है। दूसरी ओर, जापान-रूस महायुद्ध में जापान के विजय की खुशी में जनता बाहर निकलकर जय-जयकार करती थी। इस उल्लासमय जय-जयकार को अकेले घर में सुनते निराश एवं ग़रीब नवयुवक की मृत्यु के दृश्य ने इस युग के जापान और इसके बाद के जापान के बिगड़े हुए आधुनिकीकरण को प्रतीकात्मक और संकेतमय ढंग से अभिव्यक्त किया है।

काताई तायामा से प्रारंभ हुई नई साहित्य धारा की प्रवृत्ति। इसमें अपने अनुभवों के अनुसार अपने अंतर में छिपी हुई कपटी मनोभावनाओं की अभिव्यक्ति करना है। इसमें चाहे नायक उत्तम पुरुष सर्वनाम से व्यक्त किया गया हो, चाहे अन्य पुरुष सर्वनाम से व्यक्त किया गया हो, उसे निजी उपन्यास कहा गया है। उसके बाद निजी उपन्यास जापानी साहित्य की मुख्य धारा बन गई है। निजी उपन्यासों में अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति पर अधिक बल देने के कारण कथानकता की कमी भी होती है। इस युग के प्रकृतिवादी निजी उपन्यासकारों में ऊपर दिए गए लेखकों के अलावा शुमेइ तोकुदा एवं होमेइ इवानो भी प्रसिद्ध है। शुमेइ ने "काबि" ("गेरुई" 1911) आदि में अपने ग़रीब जीवन को निश्चल निरीक्षक की नज़र से देखकर ठीक ढंग से और विस्तार से व्यक्त किया है। उधर होमेइ एक क्षण के उपभोग के द्वारा नित्य आत्मा की खोज को साहित्य का लक्ष्य मानते थे और इस युग की नैतिकता को तोड़ने की लालसा उसके पास थी और इस नैतिकता को तोड़ने के लिए अमल करते हुए उसने अपने अनुभवों को उपन्यास में लिख डाला। "होरो" ("घुमक्कड़" 1910) और "दोकुओ नोमु ओन्ना" ("विष पीने की महिला" 1914) में उसने कंपनी खोलने में असफल होने के कारण अपने दोस्तों के पैसे मारते हुए घूमते तामुरा नामक नायक का चित्रण किया। नायक का व्यवहार स्वयं लेखक का अनुभव है। आर्थिक विफलता के कारण प्रेमी-प्रेमिका में प्रेम भावना लुप्त हो जाती है और दोनों में सिर्फ़ घृणा की भावना ही बची रहने पर भी उन लोगों ने एक साथ मरने की योजना बनाई। इस प्रकार की नैतिकता विहीन कहानी को लेखक ने लिखते हुए

अपने स्वयं के नैतिकता विहीन जीवन में अपनी नैतिकता की खोज की। इसके उपन्यास एवं व्यवहार से प्रभावित होकर निजी उपन्यासकारों में से कुछ लोगों ने एक दल की स्थापना की। इस दल के लोगों को विध्वंस शाखा अथवा बदमाश शाखा के उपन्यासकार कहते हैं।

इसके अतिरिक्त किसान साहित्य में भी एक नया उपन्यासकार सामने आया। उसका नाम था ताकाशि नागात्सुका। उसने "त्सुचि" ("मिट्टी" 1910) में किसान-मजदूर परिवार के ग़रीब जीवन और ग़रीब होने की वजह से परिवार के सदस्यों में पैदा हुए लालच, धूर्तता, स्वार्थ को प्राकृतिक वातावरण, ऋतु के परिवर्तन, गाँवों के त्यौहारों आदि के चित्रण के साथ-साथ यथार्थपूर्ण दृष्टि से चित्रित किया।

(4)

1910 में सम्राट की हत्या की योजना बनाने के शक में समाजवादी विचारक शुसुइ कोतोकु आदि समाजवादी व्यक्ति गिरफ्तार किए गए और अगले वर्ष गुप्त अदालतों द्वारा उन्हें फाँसी की सज़ा दी गई। जापानी सरकार ने उस घटना के बाद समाजवादी विचारकों, लेखकों, संपादकों का अपनी पुलिस शक्ति से दमन किया।

प्रकृतिवादी साहित्यकारों ने अंधविश्वास, बुरे रिवाज़ो की परत को उधेड़ कर सच्चे यथार्थ का चित्रण करने का आंदोलन चलाया। विशेष रूप से उन लोगों ने जापानी परिवार प्रथा तोड़ने का प्रयास किया, पर उन्हें इस युग के सामंतवादी यथार्थ, अमानवतावादी विवेकहीन यथार्थ से सामना करना पड़ा। जापानी परिवार प्रथा के सामंतवादी रीति-रिवाज़ों के घेरे में अब तक व्यक्ति कितना उत्पीड़ित था, जिसे उपन्यास में अभिव्यक्त करना उन लेखकों का मुख्य विषय रहा। अर्थात् उन लोगों की रुचि परिवार प्रथा के आधार पर स्थापित जापानी समाज व्यवस्था राजनीति, और सत्ता की शक्ति की आलोचना करने में एवं संघर्ष करने में लग गई। इस युग की जापानी सरकार ने जापानी राष्ट्रीय व्यवस्था परिवार प्रथा की तरह स्थापित करने का सोचा अर्थात् सम्राट को देश का पिता समझने का विचार। इसलिए जो लोग परिवार प्रथा की आलोचना करता हो उसे खतरनाक आदमी समझा जाता था। इसी दृष्टि से प्रकृतिवादी साहित्यकारों को भी जापानी समाज के लिए खतरनाक व्यक्ति समझा जाता था। इस प्रकार की परिस्थति में जापानी सरकार ने कई कलाकार, साहित्यकार, समाजवादी, साम्यवादियों का दमन किया। इस दमन से प्रकृतिवादी साहित्यकार घबरा गए। उन लोगों की नज़र राजनीति और समाज से भागकर अपने आसपास के जीवन के सीमित क्षेत्र में ही रह गई। उन लोगों के पास जापानी समाज व्यवस्था के प्रति विरोध की जो भावना थी वह अब नष्ट हो चुकी थी और उनके पास अब सिर्फ़ यथार्थपूर्ण दृष्टि से लिखने की विधि ही बची थी। उन लोगों की नज़र केवल सतही रह गई थी। उन लोगों का अपना दर्शन नहीं था।

सम्राट की हत्या के षड्यंत्र के आरोप में फाँसी पर लटकाये कोताकु शुसुइ के संबंध में रोका तोकुतोमि ने सत्ता की तीव्र आलोचना की थी, परंतु प्रकृतिवादी उपन्यासकारों का प्रतिनिधि काताई तायामा बौद के धार्मिक जीवन दर्शन में डूबने लगा। उनके अनुसार साहित्यकार राजनीति अथवा समाज का परिवर्तन करने वाला नहीं है, साहित्यकारों को सिर्फ़ साहित्य के क्षेत्र में ही रहना चाहिए। सक्रिय साहित्यिक आंदोलन के रूप प्रारंभ हुआ प्रकृतिवादी साहित्य इस वक़्त असफल हो गया। लेकिन प्रकृतिवादी विचार, विधि, शैली का अब भी जापानी साहित्य पर गहरा प्रभाव है और साथ ही असफलतावाद का भी।

प्रकृतिवादी आंदोलन के बाद ग़ैर-प्रकृतिवादी साहित्य उभरा; ह्रास और सौंदर्यशास्त्रवादी साहित्य। फ्रेंच उपन्यासकार E. Zola से प्रभावित होकर काफू नागाइ "जिगोकु नो हाना" ("नरक का फूल" 1902) लिखकर प्रकृतिवादी साहित्य में प्रसिद्ध हो गया था, परंतु 1903 से 1908 तक पाश्चात्य देशों में रहते समय उसके साहित्यिक विचार रहस्यवाद की ओर मुड़ गए और वह ग़ैर-प्रकृतिवादी बन गया। उसने विदेश में रहने के अपने अनुभवों को सुंदर काव्यात्मक ढंग से अभिव्यक्त कर "अमेरिका मोनोगातारि ("अमेरिकी कथा" 1908) और "फुरान्सु मोनोगातारि" ("फ्रेंच कथा" 1901) प्रकाशित किए। वह बुनियादी तौर पर सभ्यता का आलोचक था। उसने मूल पाश्चात्य सभ्यता देखकर जापान में आयातित आधुनिक सभ्यता की भिन्नता को महसूस किया। उसका विचार था कि जापानी साहित्यकारों की रास्ता अवहेलना किए गए पूर्व युग के साहित्य में खोजना चाहिए और अपने को समाज से भागने वाला साहित्यकार समझकर वेश्याघर आदि जाते रहे और वहाँ रहने वाली महिलाओं के सौंदर्य को Nihilism की दृष्टि से "सुमिदा गावा" ("सुमिदा नदी" 1909) आदि में अभिव्यक्त किया। यह जापान की आधुनिकता के प्रति उनकी निराशा की भावना थी।

सौंदर्यशास्त्र वादी लेखकों में जुन्इचिरो तानिजाकि का नाम सबसे पहले आता है। उन्होंने "इरेज़ुमि" ("गोदना" 1910) में वासनामय सौंदर्य की दुनिया का चित्रण किया। यह एक प्रसिद्ध गोदनकार द्वारा सुंदर लड़की की पीठ भर पर मकड़ी का चित्र गोदने की कहानी है। इसमें नायक द्वारा नायिका के शरीर पर सुई लगाने से उत्पन्न परपीड़न-रति भावना और नायिका की सेवा करने की भावना का मिश्रित आनंद और नायिका के शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक परिवर्तन, जो सुई लगवाने से उत्पन्न दर्द बाद में अपने शरीर पर काम करवाने के सुख में परिवर्तित हो जाता है, के विषय में लिखा गया है। नायिका के मन में स्त्रीत्व की भावना पैदा होने से दोष, पाप भी माफ़ करने की भावना पैदा हो जाती है। जुन्इचिरो ने इसके बाद भी स्त्री से शारीरिक संबंध और स्त्री शरीर पूजावाद की भावनाओं से उत्पन्न Masochism को अपने साहित्य का आधार बनाकर उससे उत्पन्न हुए सौंदर्य, शारीरिक आनंद आदि को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति किया। अतः उसने सौंदर्य एवं शारीरिक आनंद (रति आनंद)

मिश्रित साहित्यिक दुनिया की स्थापना की और उनके साहित्य का अंत में मृत्यु एवं सेक्स की खोज की चरमसीमा तक पहुँचना भी अनिवार्य था।

इस युग में एक और नया साहित्यकार मंच पर आया। उसका नाम था सानेआत्सु मुशानोकाजि। वह पूर्व के आशाहीन प्रकृतिवाद के विपरीत आशापूर्ण आदर्शवाद को मानता था। ऐसे आदर्शवादी लेखकों के समुदाय को शिराकादा हा (सफेद भोजवृक्ष शाखा) नाम से पुकारा जाता है। इस शाखा में साहित्यकार राज-परिवार, उच्च वर्ग आदि से संबंधित लोग थे जो उच्च वर्ग के लोगों के विश्वविद्यालय (गाकुशूइन विश्वविद्यालय) के छात्र थे। उन लोगों के पास किसी चीज़ की कमी न थी। वे पाश्चात्य देशों की संस्कृति को बिना सोचे सीखकर मानव की दया, दोस्ती को सबसे सुंदर वस्तु समझने वाले नवयुवक थे। इसलिए समाज के प्रति उन लोगों के पास आशावादी विचार एवं आदर्शवादी दृष्टि थी और वे लोग Tolstoi के मानवतावाद में भी विश्वास करते थे। मुशानोकोजि "ओमेदेताकि हिको" ("सुखी आदमी" 1912), "सेकेन्शराजू" ("अनुभवहीन आदमी" 1913) आदि में अपने प्रेम-मैत्री के सुख-दु:ख के द्वारा अहंवादी दृष्टिकोण को आशापूर्ण ढंग से अभिव्यक्त करके शिराकावा हा का नेता बन गया। दूसरे साहित्यकारों के समान उसने भी साहित्य और अमल की, एकता की कोशिश की। उसने अपने आशावादी आदर्शवादी विचारों के राम-राज्य की कल्पना को साकार करने के लिए एक "नया गाँव" ("अताराशिकि मुरा") की स्थापना की। अमीर वर्ग के आदमी का राम-राज्य का यथार्थ के समाज में सफल होना असंभव ही था, परंतु उसने इसे असफलता न मानकर अंत समय तक इस गाँव की रक्षा की थी।

इस शाखा के दूसरे लेखक नाओया शिगा ने अपनी भावनाओं को सच्ची भावना मानकर साहित्य द्वारा अपने जीवन को खोजने का प्रयास किया। यह एक तरह का अहंवादी दृष्टिकोण है परंतु उसने सुडौल कहानियाँ एवं उपन्यास लिखी। इन मानवतावादी लेखकों की शाखा में ताकेओ आरिशिमा का साहित्य पढ़ने योग्य है। वह अपनी शाखा की कमज़ोरी और सीमा जानता था। इसलिए वह यथार्थ से सामना नहीं करता था, बल्कि उसने यथार्थ को पार करने की कोशिश की। वह बौद्ध धर्म छोड़कर ईसाई धर्म मानने लगा। वह Whitman, Ibsen, Tolstoy से प्रभावित होते हुए Kropotkin के अराजकतावाद के निकट तक आया। उसके "आरु ओन्ना" ("एक महिला" 1911) में एक महिला के जागरण एवं इसके जीवन के पतन को यथार्थपूर्ण दृष्टि से उसने चित्रित किया। मिशानरी स्कूल में पढ़ी नायिका ने उच्च वर्ग के रीति-रिवाज़ो को तोड़ने की कोशिश की परंतु इसके फलस्वरूप उसे काफ़ी कष्ट उठाना पड़ा। अंत में निम्न वर्ग के आदमी के साथ शारीरिक संबंध होने से उसके आदर्शपूर्ण जीवन का पतन होता है। अपने को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य पहले भी था, परंतु महिलाओं के अस्तित्व को लेकर लिखा गया साहित्य इस युग तक बहुत कम लिखा गया। शिराकाबा शाखा के लेखकों ने अमीर या उच्च वर्ग के परिवार होने के नाते किसान, मछुआरों, मजदूरों की ज़िंदगी

का चित्रण नहीं किया पर उसने "उमारे इज़ुरु नायामि" ("जन्म होने की चिंता" 1918), "चिइसाकि मोनो ए" ("बच्चे को" 1918) में उन लोगों की ज़िंदगी को सहानुभूति के साथ चित्रित किया। इन रचनाओं के द्वारा उसका विचार अहमवाद से समाजवाद, आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर होकर अंत में अराजकतावाद तक आया। परिणामतः उसने अपनी सारी ज़मीन खेती मजदूरों को बाँट दी। यह व्यवहार मुशानोकोजि के राम राज्य निर्माण के विपरीत एक आशाहीन क्रिया थी। अपनी सारी ज़मीन बाँटने के बाद भी उसके मन को सुख नहीं मिला। वह उच्च वर्ग को नष्ट नहीं कर सकता था, उच्च वर्ग की नीति को नष्ट नहीं कर सकता था। इस तरह के विचारों से पाप की भावना पैदा हो जाती थी उसके मन में। आखिर 45 वर्ष की आयु में उसने अपनी प्रेमिका के साथ आत्महत्या कर ली।

अगर शिराकाबा शाखा के सानेआत्शु मुशानोकोजि एवं नाओया शिगा को यथार्थ और अपने विचारों का समन्वय करने वाले साहित्यकार कहें, तो जो कासाई अपने विचार और यथार्थ के अंतर को साहित्य का आधार बनाकर लिखने का, विध्वंस का साहित्यकार था उसने स्वयं अपना गाँव छोड़कर शहरों में घूमते गुंडे का जीवन व्यतीत किया और उन अनुभवों को सीधा उपन्यास में लिख डाला। उसके उपन्यास "कोओ त्सुरेते" ("बच्चे को लेकर" 1918) "शिइ नो वाकाबा" ("Pasania का पत्ता" 1924) "कोहान नो शुकि" ("झील के तीर पर डायरी" 1924) हैं। उसका सिद्धांत था कि साहित्य अपने जीवन के संकट को लिखना है। इसलिए लिखने के लिए अपने जीवन को संकट में डालना उसकी ज़िंदगी थी।

इसके अलावा बुद्धिवादी अथवा नया कृत्रिमवादी साहित्यकारों का भी एक दल था। इस दल में प्रमुख थे यूनोसुके अकृतागावा। वह नीति को अवसरवाद एवं पाखंड की दूसरी संज्ञा मानते थे। उसका साहित्यिक सिद्धांत था कि जीने का आधार शुद्ध रुचि से होता है। उन्होंने "हाना" ("नाक" 1916), "इमोगायु" ("अरवी की खिचड़ी" 1916) आदि सरल, रोचक और बौद्धिक कहानियाँ लिखीं। उनकी सरलता, रोचकता और बौद्धिकता अब तक के आधुनिक साहित्य में नहीं मिली थीं। उनका जीवन जन्म से ही कष्टमय रहा। शायद यह इसी वजह से होगा कि उनका दृष्टिकोण निराशात्मक और संदेही होने के साथ संवेदनशील भी था। शहरी और शिक्षित होने के नाते उन्होंने अन्य लेखकों की तरह अपनी ज़िंदगी को उपन्यास में सीधा अभिव्यक्त न करके अपने मन में दबा दिया। उन्होंने जापान और चीन के प्राचीन शास्त्र, ऐतिहासिक घटनाओं, कथाओं से विषय चुनकर आलोचनात्मक दृष्टि से रूपक सूत्रों का उपयोग करके उन्हें नए परिपेक्ष्य में डालकर कई कहानियाँ लिखी। वास्तव में, उनका साहित्यिक दृष्टिकोण पश्चिमी ढंग की बौद्धिक कला के लिए कलावाद था, लेकिन अपने देश की निम्न स्तर की जनता का यथार्थ और अपनी बौद्धिक कृतियों में चित्रित पात्रों के जीवन में गहरे पाए गए अंतर पर वे बाद में विचार करने लगे और अपने साहित्य को संदेहात्मक दृष्टि से देखने लगे। अतः उन्होंने अपने साहित्य का उद्देश्य भी खो दिया था। फिर भी साहित्य का

उद्देश्य खोजते-खोजते उन्होंने अपने जीवन से संबंधित कई कहानियाँ लिखीं। उनकी सब रचनाएँ निराशावादी थीं। पर उन रचनाओं में भी उन्होंने अपने साहित्य का उद्देश्य नहीं देखा और अंत में 35 वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने आत्महत्या करके इस दुनिया से विदा ली।

आकुतागावा की आत्महत्या अपने आंतरिक साहित्यिक सिद्धांत के अनुसार की गई थी जोकि अपने जीवन का सिद्धांत (कता के लिए जीना) के पतन के कारण उन्होंने इस दुनिया में अपने अस्तित्व को खो दिया। उनके लिए इस दुनिया में जीने का मतलब ही नहीं रहा था। उनको मृत्यु एक साहित्यिक युग का अंत भी था। प्रथम महायुद्ध के बाद हमारे देश के साहित्यिक जगत में कई साहित्यिक प्रवृत्तियाँ पैदा हुई थीं। उनकी मृत्यु के साथ उनका अंत हो गया। इसके बाद दुनिया भर के इतिहास और जनवादी साहित्य जापानी साहित्यकारों पर तेज़ प्रभाव डालने वाले थे।

इससे पहले और कुछ जापानी साहित्यकारों के बारे में बताना उचित होगा।

(5)

उपरिलिखित लेख से जापानी आधुनिक साहित्य के निर्माणकाल की प्रवृत्तियों की कुछ जानकारी प्राप्त हुई होगी। हमारे देश के साहित्य का इतिहास अपनी देशीय परंपरागत संस्कृति, मूल्यों और पाश्चात्य देशों से आयातित आधुनिक संस्कृति और मूल्यों के संघर्ष का इतिहास था, अर्थात् अधिकांश लेखक सामंती प्रथा, नीति के प्रति आधुनिक चेतनाओं को लेकर संघर्ष करते रहें। परंतु कुछ साहित्यकार इस तरह के साहित्यिक आंदोलन को संदेहात्मक और आलोचनात्मक दृष्टि से देखते थे। ओगाइ मोरि और सोसेकि नात्सुमे उन साहित्यकारों में प्रमुख थे। ये दोनों साहित्यकार हमारे देश के आधुनिक साहित्य के निर्माण काल में किसी भी दल या आंदोलन में शामिल न होकर अपने देश की आधुनिकता पर आलोचनात्मक दृष्टि से कहानियाँ लिखते रहे थे।

ओगाइ मोरि तोक्यो विश्वविद्यालय से चिकित्साशास्त्र का उपाधि प्राप्त करने के बाद 1884 से 83 तक पढ़ने के लिए जर्मनी गए। स्वदेश लौटने के बाद वह फौज में डॉक्टर बन गए। 1890 में उन्होंने "माइहिमे ("नर्तकी") नामक कहानी लिखकर साहित्य के मंच पर आए। यह राष्ट्र के निर्माणकाल में देश की ओर से जर्मनी भेजे गए एक नवयुवक की कहानी है। जर्मनी के उन्मुक्त जीवन के अनुभव से उसके मन में देश के प्रति अपने दायित्व को निभा पाने के कारण क्षोभ की भावना पैदा हो गई उस समय वह जर्मन नर्तकी के साथ प्रेम करने लगा। अपने देश और अपने परिवार की प्रत्याशा के विपरीत वह जर्मन नर्तकी के साथ रहने लगा, फिर भी उसमें अपने देश के बंधन तोड़ने की हिम्मत नहीं थी। अतः वह नर्तकी को छोड़कर स्वदेश वापस आया। उसके जाने के बाद वह नर्तकी पागल हो गई थी और नायक के मन में भी इस पाप की भावना से गहरी चोट लगी। अपनी प्रेमिका को छोड़ने के पाप की

भावना नायक की सफलता के साथ-साथ बढ़ जानी चाहिए थी। इस उपन्यास में मानसिक महत्त्व की उपेक्षा करके भौतिक प्रगति पर बल दिया गया। उस जमाने के बुद्धिजीवियों के पास की भावना को अभिव्यक्त किया गया। ओगाइ मोरि फौज के उच्च अधिकारी बनने के बाद राष्ट्रीय संग्रहालय के निर्देशक भी बन गए थे साथ ही साहित्य की दुनिया में भी उन्हें यश मिला फिर भी उनकी मृत्यु के समय का अंतिम शब्द यह था "व्यर्थ"। उन्होंने स्वर्गवास होने तक प्रकृति विज्ञान के शिक्षित तर्कणापरक प्रबोधक के रूप में, कभी आदर्शवादी के रूप में, कभी संदेहवादी के रूप में और बुनियादी तौर पर सत्ता पक्ष के रूढिवादी के रूप में अन्य जापानी साहित्यकारों को प्रभावित किया। उनके ही साहित्यिक जीवन में सबसे गंभीर विषय यह रहा कि आधुनिक बुद्धिजीवियों की मानसिक शून्यता को किस प्रकार सुधारा जाए।

उन्होंने कई कहानियाँ लिखी परंतु उनके साहित्यिक जीवन के परवर्ती युग से वह "गोएमोन योत्सुया नो इशो" ("गोएमान योत्सुया नामक क्षत्रिय की वसीयत" 1912) "च्यूसाइ शिवुये" (1916) आदि ऐतिहासिक व्यक्तियों पर आधारित ऐतिहासिक उपन्यास लिखने में डूब गए। उन्होंने ऐतिहासिक तत्वों की खोज करके देश के लिए अथवा तथ्य के लिए बलिदान दिया और आम लोगों का चित्रण किया। उनका विचार था कि स्वार्थ लाभ के लिए किए गए पाश्चात्य देशों की सभ्यता के आयात ने जापान को उपयोगितावाद का देश बना दिया। अर्थात् जापानी लोगों के मन में स्वार्थ की भावना पैदा हो गई है। लेकिन सौ साल पहले के जापानी लोग केवल स्वार्थ लाभ उठाने के लिए नहीं जीते थे। जापानी लोगों की परंपरा में ही जापानी लोगों का सच्चा मार्ग होता है। यह उनका विचार था।

सोसेकि नात्सुमे का साहित्यिक विषय भी मानसिक शून्यता रहा। उन्होंने तोक्यो विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ने के बाद 1900 से 1903 तक इंग्लैंड में पढ़ाई की और स्वदेश लोटने के बाद अंग्रेज़ी साहित्य के प्रवक्ता बन गए। 1905 में वे "वागाहाइ वा नेको दे आरु" ("मैं बिल्ली हूँ।") नामक कहानी लिखकर साहित्य के मंच पर आए। इसके बाद उन्होंने "कोकोरो" ("दिल" 1914) मिचिकुसा" ("रास्ते में" 1915) "मेइआन" ("रोशनी और छाया" 1916) आदि चर्चित कहानियों को प्रकाशित किया। उनका विचार था कि इतनी कम अवधि में पाश्चात्य सभ्यता को आयातित करके जापान ने भौतिक प्रगति अवश्य की, परंतु इसके बदले बुद्धजीवियों के मन में मानसिक शून्यता पैदा हो गई। उन्होंने अपनी रचनाओं में इस प्रकार की आधुनिकता से उत्पन्न हुई बुद्धजीवियों को बाह्य भौतिक ज़िंदगी और भावनाओं के अंतर को अभिव्यक्त किया।

ओगाई और सोसेकि ने जिस प्रकार के साहित्यिक विषय पर गंभीरता से विचार किया उनका साहित्यिक विषय आज का साहित्यिक विषय भी रहा यानी उसका समाधान अभी तक नहीं हो पाया है।

[क्रमशः]

नया गाँव, नया लेखक : मिथिलेश्वर की कहानियाँ

आकिरा ताकाहाशि

प्रस्तावना

शहर के तनावपूर्ण तथा संघर्षमय जीवन से थके-मांदे लोग अपने मन में शांतिपूर्ण और स्नेहमय ग्रामीण जीवन की कल्पना किया करते हैं, जहाँ लोग एक-दूसरे से प्रेम से मिलते तथा बात करते हैं और मर्यादा तथा परंपरागत मूल्यों का पालन करने में कोई कसर नहीं रखते हैं।

शहर के निवासियों द्वारा 'गाँव' शब्द को हमेशा अजीब किस्म के आकर्षण तथा मोह के साथ लिया जाता है। इस मामले में यह निबंधकार भी अपवाद नहीं है, जिसने एक विदेशी होने के नाते भारतीय गाँवों को प्रत्यक्ष अनुभूतियों से वंचित रहने पर भी अपने मन में एक आदर्श भारतीय गाँव का सपना संजोये रखा है। राजधानी के जीवन के संबंध में निबंधकार की ओर से कहने की कोई ऐसी नई बात न होगी, जिसको शहर निवासी पाठकों ने अभी तक नहीं झेला है।

इधर हर रोज़ ग्रामीण जीवन संबंधी विभिन्न खबरें देखने-सुनने में आती हैं, जिनमें से कुछ हमारे इस सपने के लिए घातक सिद्ध होती हैं। यातनापूर्ण शहरी परिस्थिति से आहत होकर लोग गाँव की जिस शरण में आना चाहते हैं, उसकी नींव भी कभी-कभी लड़खड़ाती नज़र आती है। शहर वालों की आशा के विपरीत बुनियादी तौर पर जितनी तीव्रता से आजकल गाँव परिवर्तित हो रहा है, उतनी तीव्रता से शहर भी नहीं बदलता है। हालाँकि अपरिवर्तनीयता ही प्राय: गाँव की सबसे बड़ी विशेषता समझी जाती है, जहाँ चिरकाल से भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न धारा बहती आ रही है।

इस निबंध में बदलती हुई परिस्थितियों के संदर्भ में नए गाँवों के असली स्वरूप का कहानीकार मिथिलेश्वर की रचनाओं के माध्यय से निरीक्षण करने का प्रयास किया गया है। निबंधकार को अभी भारतीय गाँवों को अपनी आँखों से गहराई से देखने का सुअवसर नहीं मिला है, इसलिए इस निबंध में गाँव के जो कुछ दृश्य दर्शाये गए हैं, वे सब उनके द्वारा देखा गया तथा अनुभव किया गया 'सत्य' है। परंतु एक तरह से सर्वशक्तिमान् माध्यम हो सकता है, जिससे कि एकदम से चीजों के गहनतम तथा मौलिक स्तर क पाठक पहुँच सकते हैं। निबंधकार अपने आपको एक मामूली पाठक समझने पर भी दावे के साथ यह कहना चाह रहा है कि मिथिलेश्वर की कुछ कहानियों द्वारा हम सत्य के जितने नज़दीक आ सकते हैं, उतने अपनी आँखों से देखने पर शायद नहीं। इस संबंध में लेखक द्वारा चित्रित की गई एक लड़की का उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है जो गाँव की महिलाओं पर रिसर्च करने के लिए गाँव आई थी।

उसने कुछ महिलाओं से मिलने के बाद अपनी डायरी में लिखा कि बदन दिखाने वाले आधुनिक फैशन से दूर, शहर की महिलाओं की अपेक्षा गाँव की महिलाएँ रहन-सहन और अपने व्यवहार में पूरी तरह लज्जाशील हैं। लेकिन शाम को सड़क के किनारे पर पाखाना करती हुई अनेक औरतों को देखकर उसने पहले लिखी हुई पंक्तियों को काटकर पुनः लिखा कि बदन दिखाने और निर्लज्जता के स्तर पर गाँव की महिलाओं के सामने शहर की महिलाओं का कोई अस्तित्व नहीं।[1] उक्त उदाहरण के साथ इस पंक्ति के मिला देने से लेखक का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है।

"प्लेटफॉर्म पर खड़े होकर गाँव नहीं देखा जा सकता"।[2] बदलते हुए ग्रामीण जीवन का मूल्यांकन करने के लिए जो बाहर से आते हैं, उन्हें जल्दबाजी और अज्ञान के कारण अनेक ग़लतफ़हमियाँ हो जाती हैं। मिथिलेश्वर ने अपने एक पात्र से यह कहलवा दिया है, जो शहर से आए हुए सज्जन को गाँव का परिचय दे रहा है कि "आज के गाँव की सच्चाई क्या है, यह अब गाँव के भीतर घुसने पर आपको पता चलेगा, क्योंकि अभी तक गाँव का सिर्फ़ बाहरी परिचय ही मैंने आपको दिया है"।[3] हमारे लिए कोई ऐसा पथ दर्शक नहीं है जिसके अनुसार हम गाँव के भीतर घुस सकें और अगर कोई मिल जाए, तो भी वह ज़्यादा से ज़्यादा हमें दरवाज़ों के सामने तक ले जाकर छोड़ देगा। परंतु मिथिलेश्वर की कहानियाँ हमें घरों के अंदर तक और ग्राम वासियों के हृदय के भीतर तक ले जाती हैं।

I. यथार्थ की पहचान

गाँव के असली रूपों तथा स्थितियों का चित्रण करना उन लेखकों की ही सामर्थ्य की बात है जो गाँव में पले-बढ़े हैं और चीजों का तटस्थ दृष्टि से निरीक्षण करने की क्षमता रखते हैं। यहाँ तटस्थ होने का अभिप्राय यह नहीं है कि अखबारनवीसों की तरह जो देखा और सुना जाता है, उसको फ़ोटो समेत दुहरा दे। लेखक के चारों तरफ जो घटनाएँ घटित हुआ करती हैं, उन्हें तटस्थ दृष्टि से देख लेना उतना मुश्किल नहीं जितना प्राय: समझा जाता है। परंतु उन घटनाओं समेत उस अपने आप पर भी तटस्थ निगाहें डाल देना आसान नहीं है, जिससे वे घटनाएँ देखी तथा सुनी जाती हैं। तटस्थ दृष्टि से निरीक्षण करने का मतलब अपनी व्यक्तिगत विशिष्टता की उपेक्षा न होकर उसकी सही पहचान करना है, जिससे कि स्थितियों का भी सही अंदाजा लगाया जा सकता है। अखबारनवीसों की तटस्थता इसी उपेक्षा पर आधारित होती है। आत्म-निरीक्षण द्वारा घटनाओं तथा अपने आपके बीच की दूरी को नापने में जो लेखक असमर्थ होते हैं, वे अपनी रचना में पात्रों तथा अपने बीच की आवश्यक दूरी भी नहीं रख सकते हैं। इसके परिणामस्वरूप पात्रों से अधिक लेखक खुद बोलने लगते हैं और परिस्थितियों की प्रासंगिकता की सरासर उपेक्षा की जाती है। जिस तरह यह कल्पनातीत

बात है कि रंगमंच पर निर्देशक खुद चढ़कर और अभिनेताओं और अभिनेत्रियों को हटाकर नाटक पढ़ना शुरू कर दें, उसी तरह पात्रों को चुप कराकर लेखक का खुद बोल देना हास्यास्पद जान पड़ता है। वहाँ साहित्यिक सृजन की बजाय व्यक्तिगत प्रदर्शन अधिक हो जाता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि मोटी-मोटी रचना पढ़ने के उपरांत भी पाठकों को लेखक की तस्वीर तथा आत्म-परिचय के अतिरिक्त कुछ भी याद नहीं रह जाता जो प्राय: किताबों के पृष्ठ आवरण पर छपा हुआ मिलता है। साहित्यिक लेखन में लेखकों को दोहरे सृजन की कोशिश करनी पड़ती है, अर्थात् पात्रों तथा परिस्थितियों के सृजन के बाद उन सबको अपने-अपने अस्तित्व के सृजन के लिए स्वतंत्रता प्रदान करनी पड़ती है, जिससे कि वे अपनी बात कर सकें और अपनी आवाज़ उठा सकें। परंतु हिंदी के कुछ लेखकों में प्राय: यह दोष पाया जाता लगता है कि वे पात्रों में जान फूंक देने की बजाय उनके शरीर में खुद अवतरित होकर मनमानी कर बैठते हैं। आत्म-निरीक्षण की कमी तथा अपने अहं को काबू में रखने की अक्षमता के कारण उन लेखकों की यथार्थ की पकड़ कमज़ोर पड़ जाती है। अगर यह संभव हो तो भी कोई आवश्यक नहीं है कि लेखक का दृष्टिकोण पूर्ण रूप से तटस्थ हो। परंतु साहित्य-लेखन में यह अवश्य घातक सिद्ध होगा कि यथार्थ की पहचान में किसी 'वाद' या बँधी हुई विचारधारा और उससे अधिक अपने अहं की स्वच्छंदता के कारण शिथिलता आ जाए, जिस यथार्थ पहचान के ठोस आधार पर ही उल्टे वह वाद या विचारधारा तथा अहं की सार्थकता कायम हो सकती है। अपने अहं की सही तथा सूक्ष्म पहचान के बिना यथार्थ की पहचान असंभव-सी लगती है। यथार्थ कोई ऐसी चीज़ नहीं जो हाथ से छुई जा सके तथा आँखों से देखी जा सके, वह लेखक के आंतरिक तथा बाह्य जगत की सापेक्ष दूरी तथा आपसी संबंध की पहचान का दूसरा नाम है। वह लेखक के अनुभवों का लक्ष्य न होकर खुद एक अनुभूति है जो लेखक तथा बाह्य जगत के साक्षात्कार का परिणाम है। इसलिए जहाँ आत्म-निरीक्षण अपूर्ण तथा अधूरा रह जाता है, वहाँ यथार्थ की पकड़ भी अपूर्ण तथा अधूरी पड़ जाती है। हिंदी साहित्यिक जगत में जिस यथार्थवाद का ज़ोर-शोर से आरंभ हुआ था, वह स्पष्ट रूप से समाजवादी चेतना और समाज की प्रगतिशील शक्तियों की पहचान पर आधारित था। परंतु यथार्थ पहचान के उस पहलू की तरफ ध्यान नहीं दिया गया है, जिसका ऊपर विवेचन किया जा चुका है। इसके परिणामस्वरूप अर्थात् आत्म-निरीक्षण के कमरतोड़ तथा चुनौती भरे प्रयास की उपेक्षा के परिणामस्वरूप यथार्थ पहचान, जिस पर ही देश-काल से परे हर प्रकार का श्रेष्ठ साहित्य आधारित होता है, एक वाद बनकर कह गया। कोई भी लेखक जो यथार्थ पहचान के इस पहल से परिचित है, वह लगातार अपने आपको आत्म-निरीक्षण की सख्त कसौटी पर कसता है और अपने विचारों तथा अनुभवों को सार्थकता पर विवेचनात्मक दृष्टि डालता रहता है।

II. नया गाँव और मिथिलेश्वर की कहानियाँ

प्रतिष्ठित हो चुके लेखकों की आड़ से धीरे-धीरे उन जवान लेखकों के ताज़ा चेहरे भी दिखाई देने लगे हैं, जो खोखली पड़ गई यथार्थवाद की परंपरा को पुनर्जीवित करने में संलग्न हैं। इस नई पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करने वालों में से आजकल मिथिलेश्वर का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। मिथिलेश्वर यथार्थ को आधुनिक गाँव तथा ग्रामीण जीवन के संदर्भ में जिस सच्चाई तथा सजीवता के साथ प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं, वह आजकल इने-गिने लेखकों में ही पायी जा सकती है। हिंदी साहित्य प्रेमियों के लिए यहाँ मिथिलेश्वर का सविस्तार परिचय देने की आवश्यकता न होगी। परंतु यह निबंध उन जापानी लोगों को भी लक्ष्य करके लिखा गया है, जो हर संभव माध्यम से भारत को समझने का प्रयास कर रहे हैं। इसलिए नीचे संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है, जो लेखक की दूसरी कहानी संग्रह 'बंद रास्तों के बीच' में दिया गया है।

जन्म : 27 अक्टूबर, 1948, बिहार के भोजपुर जिले के बैसाडीह नामक गाँव में संप्रति : महाराजा हाता कातिरा, आरा में जीविकोपार्जन में संघर्षरत, दिसंबर 1976 में 'बाबूजी' नामक प्रथम कहानी-संग्रह प्रकाशित।

'बाबू जी' के बाद अब तक उनके छह कहानी-संग्रह और दो उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। साथ ही उनकी अनेक कहानियाँ तरह-तरह की पत्रिकाओं में छपती आ रही हैं। इस बीच 'बाबू जी' कहानी-संग्रह मध्य प्रदेश साहित्य परिषद् द्वारा भारतीय गजानन माधव मुक्तिबोध पुरस्कार से पुरस्कृत व सम्मानित हो चुका है। आज जब जहाँ ग्रामीण कथा-साहित्य की गंभीर चर्चा की जाती है, तब, वहाँ हमेशा मिथिलेश्वर की किसी-न-किसी रचना की गर्मा-गर्म चर्चा भी की जाती नज़र आती है।

अपने गाँव बैसाडीह के संबंध में उन्होंने एक जगह पर लिखा है, "मैं आपको बता दूँ, मेरा जन्म भोजपुर जिले के एक ऐसे इलाके में हुआ है जो चोरी-डकैती, लूटपाट, मनमानी और ज़्यादती को लेकर पूरे जिले में मशहूर है। इस इलाके में कोई भी बात जो पहले लाठी के सहारे तय की जाती थी, अब बंदूक की नोक पर तय की जाती है।"[4] गाँवों में परिवर्तन लाठी से, बंदूक से ही नहीं, ग्रामीण जीवन के हर क्षेत्र में घोर परिवर्तन होते साफ़-साफ़ दिखाई देते हैं। शहर में बैठकर गाँव को आदर्श मानने की कल्पना करने वालों को चेतावनी देते हुए लिखते हैं, "बुरा मत मानिएगा भाई साहब, आप लोग अपने दिमाग में गाँव का जो नक्शा लेकर आते हैं, वह आज से सौ साल पहले का गाँव होता है। आज के अनुपात में बिल्कुल काल्पनिक और रोमानी।"[5] गाँव में तेजी से हो रहे नगरीकरण के बारे में भी लेखक एक ही आदमी से कहलवा देते हैं, "अब शहर की वे तमाम ऊपरिया चीजें गाँवों में भी आ गई हैं, जैसे-सिगरेट, शराब, चाय, पान, हिप्पी-कट बाल, बेलबॉटम पैट, नाभि-दर्शना साड़ियाँ, मिनी स्कार्ट, छोरेबाजी और चलती-फिरती प्रेम कहानियाँ।"[6] इन परिवर्तनों के अतिरिक्त यह भी कम

महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं है कि गाँवों में नई पीढ़ी के अनेक कथाकारों का आगमन हो रहा है, जिनका प्रतिनिधित्व मिथिलेश्वर करते जान पड़ते हैं।

आगे लेखक द्वारा अपनायी गई चरित्र-चित्रण की दो शैलियों का विवेचन किया जाएगा। जीते-जागते व्यक्ति को अपने संदर्भों के साथ पाठकों के सामने ज्यों का त्यों ला खड़ा कर देना लेखक के चरित्र-चित्रण की प्रमुख विशेषता है। नीचे कुछ उद्धरण दिए जा रहे हैं, जिनसे पता चलता है कि लेखक के साहित्य-लेखन के साथ इस शैली का कितना गहरा संबंध है। "तब आप मेरे ऊपर कहानी क्यों लिख रहे हैं? हो सकता है, कहानी में मेरा सही रूप न आ सके। मुझे ही वहाँ भेज दीजिए। मैं पुरस्कार लेता आऊँगा'। विग्रह बाबू की इस बात से मैं कट कर रह गया था। उनकी इस बात का गहरा असर मेरे ऊपर पड़ा था। महीनों मुझसे कुछ भी लिखा नहीं गया था। आज भी जब मैं कोई कहानी लिखने बैठता हूँ, विग्रह बाबू की यह बात मेरे दिमाग में गूंजने लगती है।"[7] "वह सोचता है, क्यों न कल वह स्वयं इलाहाबाद चला जाय और संपादक महोदय के सामने जाकर कहे कि मेरे पास एक बहुत बढ़िया कहानी है। मुझे पुरस्कार दे दीजिए। कागज़ पर शायद मैं अच्छी तरह नहीं उतार सकता था, इसलिए स्वयं आपके पास चला आया।"[8] जब-जब लेखक अपनी इस शैली का सफल प्रयोग करते हैं, तब हमेशा आकर्षक तथा प्रभविष्णु व्यक्तित्व के सृजन में भी वे सफल होते हैं। 'नरेश बहू', 'रात अभी बाक़ी है', 'न चाहते हुए भी', 'बीच रास्ते में', 'विग्रह बाबू', 'अभी भी' इन कहानियों के नाम इस शैली के सफल उदाहरणों के रूप में गिने जा सकते हैं। उनमें हर एक पात्र अपनी बात करता तथा अपनी साँस लेता दृष्टिगोचर होता है। मिथिलेश्वर की कहानियों का यह अद्भुत गुण किसी संयोग से उन्हें प्राप्त नहीं हुआ है। सिर्फ़ गाँव में पैदा होने भर से कोई लेखक अच्छी ग्राम कथाएँ नहीं लिख सकता। गाँव वालों तथा उनके जीवन के साथ मानसिक तादात्मय बनाये रखना अत्यावश्यक है। मिथिलेश्वर प्रथम कहानी संग्रह 'बाबूजी' की भूमिका में लिखते हैं, "मेरे गाँव के वे लोग जिनके साथ मैं पला-बढ़ा हूँ और इस उम्र तक पहुँचा हूँ, वे मेरी कहानियों के प्रथम पाठक हैं। पांडुलिपि उन्हें सुनाकर उनकी स्वीकृति के बाद ही मैं कहीं प्रकाशनार्थ भेजता हूँ। उनके साथ बाढ़ में डूबते अकाल में छटपटाते, बीमारी से कराहते, मँहगाई से आक्रांत तथा इसी तरह ज़िंदगी की तमाम विपरीत परिस्थितियों से जूझते हुए मेरी दिनचर्या खत्म होती है।"[9] वे आगे अपने कहानी-लेखन के मर्म पर भी प्रकाश डालते हुए लिखते हैं, 'मेरी नंगी छोटी बच्ची जब मुझसे जाँघिये की माँग करती है और मैं अपनी जेब खाली पाता हूँ, मेरी कहानियाँ तभी जन्म लेती हैं।...... अपमानबोध से बुरी तरह ग्रसित मैं रात भर सो नहीं पाता हूँ। मेरी कहानियाँ उसी रात जन्म लेती हैं। पत्नी की माँगों को नज़रअंदाज़ करते, बच्चों की आवश्यक इच्छाओं का हनन करते, रोज़गार दफ्तर से लौटते छोटे भाइयों के चेहरों की निराशा को पढ़ते मैं सुबह को शाम में बदल देता हूँ। फिर बाबू जी की मृत्यु से लेकर अपनी छोटी बच्ची की मृत्यु तक

यातनादायी सिलसिले मेरी आँखों के सामने से गुज़रने लगते हैं। बस, तभी मेरी कलम दनादन कहानियाँ उगलने लगती हैं।"[10] अपने गाँव तथा ग्रामीण साथियों के प्रति प्रगाढ़ प्रेम और आत्मीयता की भावना का अनुमान भी उपर्युक्त उद्धरणों से किया जा सकता है। गाँव वालों का दु:ख और दर्द लेखक का अपना अनुभव किया हुआ दु:ख तथा दर्द हैं। उनके दु:ख और अपने दु:ख में मिथिलेश्वर कोई भेद नहीं मानते हैं। कष्टदायक चीज़ों से कतराना मनुष्य के लिए स्वाभाविक ही है और लोग उन चीज़ों की अनदेखी करने से पीड़ाओं से सुरक्षित रहने की कोशिश करते हैं। इस देश की घोर विसंगतियों तथा अंतर्विरोधों को जानने के लिए मोटे-मोटे शोध ग्रंथों तथा विभिन्न आँकड़ों में सिर खपाने की आवश्यकता नहीं है। जिस जगह पर इस वक़्त हम खड़े या बैठे हैं, उसके बगल में कोई-न-कोई विसंगति तथा अंतर्विरोध किसी-न-किसी आदमी के रूप में दिखाई दे सकता है। केवल हमारी निगाहों के पड़ने भर की देर है, अगर हम उस पर निगाहें डालेंगे तो इस देश की हर गली व कूचे में हमारी निगाहों की प्रतीक्षा करते मनुष्य छटपटा रहे हैं। परंतु हम उनकी उपेक्षा करने के इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि वे पहले से हैं ही नहीं। अब हमारा यह सिद्धांत बन गया जान पड़ता है कि जो दिखाई नहीं देता है, वह वास्तव में नहीं है। हम आँखें मूंदे और नाक दबाए आराम से बैठ लेते हैं कूड़ाखाने के बीच में; जो कोई कूड़ाखाने की सफाई करने लगे, तो उठती हुई बदबू तथा धूल से घबराकर हम उस पर गुस्सा करेंगे कि क्यों गंदा कर रहे हो। जिसकी आँखें खुल गई हैं और जिसका हाथ नाक से हट गया है, उसको अपने चारों ओर की गंदगी को देखना तथा सूँघना पड़ता है, जो कि हर अच्छे साहित्यकार की क़िस्मत में बदा है।

कहानी 'रात अभी बाक़ी है' में लेखक की इस संवेदनशीलता तया यथार्थ पहचान का चरमोत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है। बूढे निझावन के घर में एक दिन भी ऐसा नहीं गुजरता है कि उनके पाँच पुत्रों के बीच घर के ख़र्च को कोई-न-कोई तकरार तथा हाथापाई न हो। परंतु निझावन हर लड़के की अपनी-अपनी विवशता को देखते हुए किसी को भी दोषी नहीं ठहरा सकता है। अपने सब लड़कों को निर्दोष पाने के बाद वह यह सोचने को विवश हो जाता है कि अगर उनका कोई कसूर नहीं, तो आखिर इस नरकमयी ज़िंदगी का कौन ज़िम्मेदार है। सोलह साल पहले जब गाँव में पड़े भीषण अकाल के कारण वह परिवार के साथ बाहर भागा चला गया, तब एक साहब के यहाँ मेहनत करते-करते एक दिन सड़क पर उसकी पत्नी की मृत्यु हो गई। इकलौती जवान लड़की सोनिया को देखकर भी उसकी विवशता का विचार आने पर निझावन का गुस्सा दया में बदल जाता है। जया की गर्भवती की बहुएँ मन में चाहती हैं कि निझावन जल्दी मर जाए और घर का ख़र्च कम हो जाए। परंतु निझावन उनमें दोष नहीं देख पाता है। उसके बड़े लड़के का गंभीर रूप से बीमार पड़ जाने पर इलाज के लिए कर्ज में आए हुए पच्चीस रुपये को सबसे छोटे लड़के मोती द्वारा चुराये गए पैसा समझकर पुलिस ले चली जाती है। उसके तुरंत बाद में बड़े लड़के की मृत्यु हो जाती है। कहानी का अंत इस प्रकार

है, "और फिर निझावन के रोते ही चीख-चिल्लाहट और रुलाई की आवाजों से पूरा घर काँपने लगता है। लाठी टेकते हुए निझावन आंगन में आया है। फिर बूढ़ी आँखों से आकाश की ओर ताकता है। उसे साफ़ महसूस होता है, रात अभी बाक़ी है।"[11]

लेखक ने इस कहानी में किसी भी चीज़ को छिपाने की कोशिश नहीं की है और साथ ही किसी भी प्रकार की अतिशयोक्ति तथा नाटकीयता लाने की कोशिश भी नहीं की है। उन्होंने गाँव के गरीबों के घर में जो हुआ करता है उसको वैसे ही अंकित किया है। लेखक की सहानुभूति तथा भावुकता ने अपनी निरीक्षात्मक दृष्टि पर कोई अड़चन नहीं डाली है। लेखक के दिमाग की सृष्टि होने पर भी इस कहानी में चित्रित स्थितियाँ वास्तविकता से अधिक वास्तविक लगती हैं।

पहले यह कहा जा चुका है कि मिथिलेश्वर की कहानियों को चरित्र-चित्रण की शैली की दृष्टि से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। उनमें से एक वर्ग का प्रतिनिधित्व 'रात अभी बाक़ी है', 'विग्रह बाबू' आदि कहानियाँ करती हैं। वे ठोस-यथार्थ पहचान और लेखक की संतुलित व वस्तुनिष्ठ दृष्टि पर आधारित हैं और उन कहानियों में ऊपर से आदर्श को थोप देने तथा वास्तविकता को ढक देने की लेशमात्र भी कोशिश नहीं की गई है।

दूसरे वर्ग वाली कहानियों में वास्तविकता को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने से अधिक उन पात्रों की सृष्टि करने का प्रयास किया गया है जो आधुनिक ग्रामीण समाज की विभिन्न विसंगतियों, कुप्रथाओं और अत्याचारों के खिलाफ अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व तथा आधुनिक चेतना के बल पर लड़ते हैं। इन कहानियों में भी लेखक की यथार्थ पहचान तथा उसका यथार्थ अंकन इतना सूक्ष्म तथा ज़बरदस्त होता है कि उनके पात्र कोरी कल्पना तथा आधारहीन आदर्श नहीं प्रतीत होते। परंतु यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रथम वर्ग की कहानियों में सच्चाई और जनता की जितनी हृदयविदारक शक्ति थी, जो कभी-कभी पाठकों की संवेदना तथा सहृदयता के लिए चुनौती बनती है, वह शक्ति इन कहानियों में उतनी नहीं दिखाई देती है।

'पहली घटना' में बाल-विधवा मीना अनेक संघर्षों के बाद अपने पैरों पर खड़ी होने लायक बन जाती है और प्रेमी के साथ विवाह करके आडंबर और सामंती मानसिकता से भरे परिवार वालों को पछाड़ देती है।

जिस प्रेमी के साथ उसकी शादी हुई है, वह भी एक शिक्षित तथा सुलझे हुए विचारों का नवयुवक है और गाँव के विभिन्न सुधार-कार्यों में जी-जान से संलग्न है।

'संगीत बनर्जी' उस महिला की कहानी है जो आत्मविश्वास और योग्यता के बल पर सामाजिक बंधनों तथा पूर्वाग्रहों का सामना करके असहाय नारियों के कल्याण के लिए गाँव में एक संस्था की स्थापना करती है। इन दो कहानियों के अतिरिक्त 'पत्थर की लकीर', 'बाबूजी' और 'बीजारोपण' के नाम गिने जा सकते हैं। इन कहानियों के पात्रों की समान विशेषता यह है कि वे सब अपने जीवन की अपने ढंग की व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं। समाज

द्वारा दी गई घिसी-पिटी व्याख्याओं को वे स्वीकार नहीं करते, जो मर्यादा तथा संस्कृति के नाम पर सदियों से मानवता पर हावी रही हैं। संकीर्ण तथा ढोंगपूर्ण मर्यादा से टक्कर खाकर कुछ पात्रों की ज़िंदगी तबाह हो जाती है। इसके अच्छे उदाहरण 'बीजारोपण' और 'बाबू जी' में चित्रित किए गए मिलते हैं।

'बीजारोपण' का ग़रीब बनिहार धरीछन अपनी मृत पत्नी के हाथ-पैर पर प्रथानुसार कीलें ठोंक देने से इंकार करता है। गाँव वाले यह कहकर उसको समझाने की कोशिश करते हैं कि गर्भवती औरत के शव के हाथ-पैर पर कीलें ठोंक देना चाहिए, नहीं तो वह चुड़ैल बनकर रात-दिन घर पर मँडराती रहेगी। धरीछन की मानवता कराह उठती है। उसके इंकार करने के कारण गाँव, गाँव वालों की नज़रों में वह 'डाय' तथा उसकी मृत पत्नी 'चुड़ैल' बन जाते हैं। उसके बाद गाँव में जो कुछ दुर्घटनाएँ हुई हैं, उन सबके लिए वे दोनों दोषी ठहराए जाने लगे। अपमानित तथा तिरस्कृत धरीछन गाँव छोड़कर चला जाता है।

'बाबू जी' अपने ढंग की एक अद्भुत कहानी है, जिसका लेखन और पाठन चुनौती भरा कार्य प्रतीत होता है। 'बाबूजी' उस आदमी की कहानी है जो अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के पूर्ण विकास तथा उपभोग के अतिरिक्त किसी भी चीज़ की परवाह नहीं करता है। वह अपने परिवार वालों को भर्त्सना देते हुए स्पष्ट शब्दों में घोषणा करता है, "मैं कह रहा हूँ, मैं इज्ज़त-विज्ज़त कुछ नहीं जानता। मैं सिर्फ़ मर्द हूँ और इसलिए कभी-कभी किसी औरत के साथ रह लेता हूँ। और जिस औरत के साथ रह लेता हूँ, उसके साथ कभी ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं करता हूँ। वह औरत जबरन मेरे पास नहीं रहती है। मुझे उसके शरीर की आवश्यकता है, तो उसे भी मेरे मर्द-शरीर की चाह रहती है। हम साथ-साथ रहते हैं।"[12] इस पुरुषत्वपूर्ण गर्वोक्ति के सामने इज्ज़त-आबरू का अनुग्रह कितना खोखला और कमज़ोर लगता है। स्त्री-पुरुष के संबंध की इतनी साफ़-सुथरी और दो टूक परिभाषा हिंदी साहित्य में कभी-कभार ही दी गई मिलती है। रूढ़िगत कुंठाओं से ग्रस्त मर्द, नामर्द बन जाता है और स्त्री सती या देवी बन जाती है। वह नौटंकी पार्टी तैयार करके घर-बार छोड़कर चला जाता है। एक शादी समारोह में अपनी पार्टी की नर्तकी की बेइज्ज़ती की जाती देखकर वह गरज उठता है। वह अच्छे-अच्छे घरों की औरतों को मर्दों पर आश्रित रहने के कारण उस नर्तकी से कम इज्ज़तदार कह देता है। उसी जगह पर अपने लड़कों ही के षड्यंत्र से उसकी जमकर पिटाई की जाती है। उस नर्तकी की सेवा-सुश्रूषा के बावजूद थोड़े दिनों बाद उसकी मृत्यु हो जाती है। अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की उसकी इच्छा गाँव की कुंठित तथा संकीर्ण परिस्थिति में पूरी नहीं हो पाती है।

मिथिलेश्वर की शैलियों की दो प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण किया गया है। आगे संक्षेप में उनकी एक अन्य शैलीगत विशेषता पर भी कुछ विवेचन किया जाएगा। उनकी भाषा इतनी सरल तथा धारावाहिक होती है कि लगता है कि लेखक सामने बैठे हुए लोगों को सीधे कहानी सुना रहे हैं। 'आँचलिकता' के अनावश्यक आग्रह से भी उनकी कहानियाँ स्वतंत्र हैं।

प्रांतीय लोकभाषा का प्रयोग भी नहीं किया गया है और भाषा की सुबोधता सुरक्षित रहती है। परंतु दूसरी तरफ अनपढ़ गाँव वालों के वार्तालाप में कहीं न कहीं कृत्रिमता लक्षित होती है। बिहार के अशिक्षित तथा ग़रीब किसानों को मानक खड़ी बोली हिंदी में बात करते हुए देखकर थोड़ी कुछ कृत्रिमता का प्रतीत होना स्वाभाविक बात है। यह समस्या मिथिलेश्वर की ही नहीं, बल्कि हर ऐसे लेखक की समस्या लगती है जिसका ध्यान शहर से अधिक गाँव की ओर आकर्षित होता है। 'आँचलिकता' के संबंध में यह बात स्पष्ट कर देना अप्रासंगिक न होगा कि फणीश्वरनाथ रेणु के लिए जो गाँव आँचलिक था, वह गाँव मिथिलेश्वर के लिए किसी मायने में भी आँचलिक नहीं है। रेणु का गाँव, बाहर से देखा गया गाँव था परंतु मिथिलेश्वर का गाँव गहराई से भोगा गया तथा झेला गया अपना गाँव है।

III. गाँव से शहर

अपने नवीनतम कहानी-संग्रह की भूमिका में उन्होंने यह लिखा है, "मेरी मान्यता है कि लेखन अपने संपर्कों के दायरे में गाँव या शहर, जहाँ से लिखने के बाध्य हो, वहीं पर लिखें। मेरे जानते किसी भी अच्छी रचना का महत्त्व गाँव और शहर के आधार पर नहीं, जीवन-सापेक्ष होने के आधार पर होता है। शहर के मजदूरों की पीड़ा और गाँव के हलवाहों-चरवाहों की पीड़ा में मुझे कभी कोई फर्क नज़र नहीं आता है, ठीक उसी तरह जिस तरह शहर के नेताओं, अफसरों और सेठों की मुस्कान से गाँव के सामंतों की मुस्कान में कोई फर्क नहीं होता है। इसीलिए सृजनात्मक स्तर पर शहर और गाँव का विभाजन किए बग़ैर गाँव और शहर दोनों पर लिख रहा हूँ"।[13] उनके साहित्य-सृजन के इस नए प्रयास तथा आयाम को कितनी सफलता मिलेगी, यह उनकी आगे की रचनाएँ स्वयं स्पष्ट करती जाएँगी। परंतु उनकी कुछ नई कहानियाँ लेखक के उक्त संकल्प तथा पाठकों की आशा पर पानी फेर देतीं जान पड़ती हैं। उनकी कदाचित् नवीनतम कहानी 'जंगल होते शहर', जैसे कि शीर्षक ही से अंदाज़ा लगाया जा सकता है, एक शहर के हिंसात्मक वातावरण के प्रति क्षोभ, भय तथा आक्रोश की भावना से प्रेरित होकर लिखी गई दिखाई पड़ती है। कॉलेज के प्राध्यापक सिन्हा बाबू के सामने उनके साथी प्राध्यापक की छात्रों द्वारा हत्या की जाती है। मातमपुरसी की वापसी में भी वह फिर दूसरी हत्या का साक्षी बन जाता है। इन आँखों देखी हत्याओं से अधिक मानसिक धक्का सिन्हा बाबू को इस बात से लगता है कि उन्हें छोड़कर सब लोग हिंसात्मक घटनाओं की तरफ तनिक भी ध्यान नहीं देते हैं। आखिर सिन्हा बाबू का दिमाग भय के मारे संतुलन खोने लगता है। यहाँ लेखक का व्यंग्य स्पष्ट समझा जा सकता है, अर्थात् किसका दिमाग विक्षिप्त हो गया है। सिन्हा बाबू का, जो पाशविक हिंसा को देखकर घबरा जाता है, या उन लोगों का, जो देखते हुए भी अनदेखी करते हैं और उल्टे सिन्हा बाबू को पागल समझने लगते हैं। परंतु लेखक के प्रयास के बावजूद कहानी अत्यंत कमज़ोर तथा बेदम रही है। दो-तीन दिनों के अंदर

दो बार हत्याओं को देख लेना और अखबार में हत्याओं की अनेक खबरें पढ़कर बेचैन हो जाना, मानो इस तरह की खबरों को पहली बार पढ़ा हो, यह सब अस्वाभाविक तथा कृत्रिम लगता है। रास्ते में सिन्हा बाबू का यह चिल्लाना, "यह अन्याय है.... ज़्यादती है... हत्या करना अपराध है... 'जुर्म है।'"[14] यह जितना हास्यास्पद तथा अप्रासंगिक लगता है, उतना सड़कों पर खड़े हुए ज्ञापन-बोर्ड भी नहीं लगते हैं, यानी "रिश्वत देना और लेना दोनों अपराध हैं" या "दहेज देना और लेना दोनों जुर्म है।"

इसी साल की एक और कहानी 'अपने लोग' ग्राम कहानी है, जिसका कथानक संक्षेप में इस प्रकार है। बजरंगी डकैतों के एक गिरोह में छोटी जाति का होने पर भी किसुन चौबे का 'दायाँ हाथ' जिसके बिना कोई काम संभव नहीं होता, एक रात रामौतर चमार की बेटी और बहू के बलात्कार निमित्त वे उसके घर में घुस जाते हैं। परंतु अपनी जाति वाली औरतों पर किए जा रहे अत्याचारों को देखकर सहसा बजरंगी के मन में क्षोभ तथा क्रोध उमड़ आता है। वह चौबे को रोककर दोनों स्त्रियों की इज्ज़त बचा लेता है। उनकी आँखें बजरंगी के प्रति 'स्नेह और श्रद्धा से भर गई हैं'।[15] परंतु क्या यह विश्वसनीय और स्वाभाविक होता है कि विभिन्न कुकर्मों का आदी, एक पक्का डकैत बजरंगी का इतनी आसानी से हृदय परिवर्तन हो जाता है और अपनी जाति की तो सही, लेकिन परायी औरतों की इज्ज़त के लिए जान देने को एकदम से तैयार हो जाता है? इस तरह की कहानियाँ बंबईया फ़िल्मों में तो हर बार देखी जा सकती हैं, परंतु मिथिलेश्वर की कहानियों में देखने की आशा पाठक नहीं करते हैं। उपर्युक्त दो नवीनतम कहानियों में किसी प्रकार की भी यथार्थ पहचान दृष्टिगोचर नहीं होती है, जिसके होते ही उनकी अन्य कहानियाँ विशिष्ट तथा प्रभविष्णु हो पायी थीं। लगातार अपने लेखन-स्तर को ऊँचा बनाये रखना हर मामूली लेखक के वश की बात नहीं है और एक बार प्रतिष्ठित हो चुकने के बाद अधिकतर लेखकों की रचनाओं का स्तर गिरता नज़र आता है। हमें पूर्ण विश्वास है कि मिथिलेश्वर जैसे प्रतिभाशाली लेखक हमारी इस आशंका को अपनी रचनाओं द्वारा निर्मूल साबित करेंगे।

अंत में हमारे परम प्रिय मित्र सुयोग्य नवलेखक हरजेन्द्र चौधरी जी को हम अपनी कृतज्ञता प्रकट कर रहे हैं, जिन्होंने इस निबंध की भाषा का संशोधन करने की कृपा की। इस निबंध में जो कुछ त्रुटियाँ तथा कमियाँ रह गई हैं, उन सबके ज़िम्मेदार हम हैं।

नोट

1. "युद्धस्थल", पृष्ठ 135, प्रथम सं० 1981, सरस्वती विहार.
2. 'वे जब गाँव आए', "दूसरा महाभारत", पृ० 131, सन् 1979, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन.
3. वही, पृष्ठ 126.

4. "बंद रास्तों के बीच", पृ० 10, प्रथम सं० 1978, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन.
5. 'वे जब गाँव आए', "दूसरा महाभारत", पृ० 126, सन् 1979, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन.
6. वही, पृष्ठ 125.
7. "विग्रह बाबू", "बाबूजी", पृष्ठ 85, द्वितीय सं० 1980, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन.
8. 'पहली हँसी', "बंद रास्तों के बीच", पृष्ठ 153.
9. प्रथम संस्करण की भूमिका, "बाबुजी", पृष्ठ 7.
10. वही, पृष्ठ 8.
11. 'रात अभी बाक़ी है', "बंद रास्तों के बीच", पृष्ठ 144.
12. 'बाबूजी', "बाबूजी", पृष्ठ 115.
13. दो शब्द, "गाँव के लोग", प्रथम सं० 1981, राजपाल एंड संस, पृष्ठ 5.
14. 'जंगल होते शहर', "धर्मयुग", 19 जुलाई, 1981.
15. 'अपने लोग', "साप्ताहिक हिन्दुस्तान", 11 जनवरी, 1981.

अफ्रो-एशिया लेखक संघ अंतराष्ट्रीय सम्मेलन जापान में

इस वर्ष नवंबर में जापानी अफ्रो-एशिया लेखक संघ की ओर से अंतर्राष्ट्रीय लेखक सम्मेलन आयोजित किया जाएगा। इस सम्मेलन में अफ्रो-एशिया लेखक संघ के सभी सदस्य देशों से लेखक, आलोचक आदि भाग लेंगे और अफ्रीकी व एशिया के देशों में वर्तमान समस्याओं पर विचार-विमर्श करेंगे। इस सम्मेलन में भारत से भी एक लेखक भाग लेंगे।

कहानी : एक रिक्शावाले की कहानी

तोमिओ मिज़ोकामि

कीर्ति रिक्शा वाला, पंद्रह सालों से रिक्शा खींचता चला आया है। वह ग़रीब तो था ही और रिक्शा चलाने में जी-तोड़ परिश्रम की ज़रूरत होती थी, पर उसे अपने इस धंधे पर गर्व था- गाढ़े पसीने की कमाई और वह अपनी मर्ज़ी का खुद मालिक था।

वह अभी अधेड़ तो नहीं, पर चौतीस साल के पुरुष को युवक भी नहीं कह सकते, यद्यपि उसका हृष्ट-पुष्ट शरीर एक नौजवान के समान था। हाँ, इससे अधिक, वह अपने दिल के भोलेपन, जो पारवती जाति का सामान्य गुण था, के कारण अपनी उम्र से कम मालूम देता था। वह गढ़वाल के गाँव में खानदानी कृषक घराने में पैदा हुआ था। कहते हैं कि उसके पूर्वज वीर राजपूत थे, अतः कीर्ति सिंह को वंश का अभिमान भी था। उसके पिता को अपने एक घनिष्ठ मित्र के हाथों धोखा खाकर लाखों रुपयों की हानि उठानी पड़ी। ज़मीन-जायदाद तक बेचनी पड़ी। उसका पूरा कुनबा ग़रीबी के नरक कुंड में गिर-सा गया। इसके फलस्वरूप कीर्ति को अपनी शिक्षा केवल तीसरी कक्षा में ही छोड़ देनी पड़ी। उसके बड़े भाई बूढ़े माता-पिता और थोड़ी-सी बची ज़मीन की देखभाल के लिए अपने तीन छोटे भाई और बहनों के साथ गाँव में रह गए, परंतु कीर्ति को शहर में मजदूरी के लिए गाँव छोड़ना पड़ा।

अपनी बिरादरी का आश्रय लेकर वह पहले दिल्ली आया था। वहाँ पहले एक रेस्तराँ में बर्तन मांजने का काम किया था, परंतु यह काम दस साल के लड़के के लिए बहुत सख्त था, दिन भर की थकावट के बाद सर को सोने के अलावा कुछ नहीं कर सकता था। अभी उसे पढ़ने की बहुत इच्छा थी। इसलिए वह यह काम छोड़कर एक अमीर आदमी के घर में नौकर बन गया ताकि पैसा कमाकर कुछ पढ़ सके। यहाँ तीन साल तक काम किया।

मालिक अच्छे थे और उनके छोटे मुझे का अच्छा दोस्त भी बना था। छोटी-मोटी किताबें भी पढ़ने को मिल जाती थी। किंतु तन्ख्वाह इतनी नहीं मिलती थी कि पेट भर खा सके और

घर भेजकर माँ-बाप की मदद कर सके। फिर चढ़ती हुई जवानी ने उसे नई दुनिया देखने को प्रेरित किया। वह दिल्ली छोड़कर बंबई आ गया। बंबई में एक फ़िल्म अभिनेत्री के घर में नौकर बना। यह उसके लिए बिल्कुल अलग दुनिया थी। यद्यपि यहाँ कीर्ति के साथ बहुत अच्छा व्यवहार नहीं किया गया, बल्कि कभी-कभी कटु-व्यवहार भी किया जाता था, पर कम से कम खाना तो उसे पेट भर मिलता था, इसलिए दो-तीन साल में वह बहुत हृष्ट-पुष्ट शरीर का नौजवान बन गया।

यहाँ उसने तरह-तरह के आदमियों को देखा : फिल्मी सितारे, फ़िल्म निर्माता आदि फ़िल्म उद्योग से संबंधित लोगों का रोज़ तांता-सा लगा रहता था, हर समय शराब और जुआ के दौर चलते थे। उसे बचपन से यह कड़ी शिक्षा मिली थी कि मदिरापान बहुत बुरी चीज़ है, आत्मा को भ्रष्ट करता है। परंतु वातावरण कुछ ऐसा था कि उसे भी शराब का चस्का लगा, उसकी पूरी कोशिश थी कि इस दुरभ्यास से कोसों दूर रहे। जब तक किसी मेहमान के हाथों ज़बरदस्ती न पिलाया जाता था तब तक उसने शराब न छूने की ठानी थी।

इस घर में उसे प्रायः ऐश करने वाले आदमी ही मिलते थे, कोई सज्जन पुरुष तो इसकी नज़र में नहीं आया। उसकी मालकिन सज-धज कर बाहर जाती थी और प्रतिदिन किसी न किसी नए आदमी को घर ले आती थी। तितली की तरह चंचल थी। यहाँ का भोग-विलास भरा वातावरण उसे अच्छा नहीं लगा, अतः उसने फ़िल्म अभिनेत्री के यहाँ की नौकरी भी छोड़ी। यहाँ उसने यह शिक्षा पाई कि आदमी धनी होने मात्र से सुखी नहीं होता, भले ही मालकिन अपने को सुखी समझती हो, पर कीर्ति को वह सुखी नज़र नहीं आई।

कई बार उसने किसी कंपनी या कारखाने में पक्की नौकरी पाने की कोशिश की। परंतु उसने विशेष कुछ तकनीकी शिक्षा प्राप्त नहीं की थी। यह योग्य नहीं था--ऐसी बात नहीं थी, सिर्फ़ अवसर से वंचित था। उसकी निरीहता, कर्मठता, सहनशीलता और उसका भोलापन इनमें से कोई गुण पक्की नौकरी दिलाने में काम नहीं आया। फिर भी उसने कभी किसी से असंतोष प्रकट नहीं किया। संयोग से उसे दादर स्टेशन पर कुली का काम मिला। यह मजदूरी भी सख्त थी, पर उसका स्वस्थ वदन भारी सामान उठाने के काबिल था। यहाँ भी उसने नाना प्रकार के यात्रियों को देखा, विरह-मिलन सब देखा। उसे लगा कि स्टेशन जीवन का एक रंगमंच है उसने कुली का काम करते-करते मराठी, गुजराती और थोड़ी अंग्रेज़ी भी सीखी।

वह अब साल में दो बार छुट्टियाँ लेकर गढ़वाल चला जाता था, परंतु दिन-रात कड़ी मेहनत करके कुछ बचत भी कर लेता था। उसने बैंक में अकाउंट खोला। बूढ़े माँ-बाप की इच्छा थी कि कीर्ति की शादी जल्दी कर दी जाए। अब वह उन्नीस साल का पूरा नौजवान था, हर तरह से शादी के लायक था। बड़े भाई ने अपने गाँव की सत्रह साल की एक लड़की को कीर्ति की वधू के रूप में सुझाया जो उस जैसी बिल्कुल भोली-भाली लड़की थी। माँ-बाप और बड़े भाई के आग्रह को टालने का विशेष कोई कारण नहीं था। अतः उसने उन लोगों के

कहने के अनुसार उस लड़की से शादी कर ली। अब उसकी नई ज़िंदगी शुरू हो गई, पर उसके साथ विडंबना तो यह थी कि अपने इस गाँव में ज़मीन की तंगी की वजह से गुजारा नहीं हो सकता था। अतः उसे फिर नौकरी की तलाश में शहर जाना पड़ा।

:2:

कीर्ति जीवन में हर प्रकार का दुःख झेलता आया है, परंतु कभी अपने भाग्य पर रोया नहीं। किसी भी कष्ट को चुपचाप हँसते-हँसते सहन करता आया है। भगवान ने एक ओर उसे धन से वंचित किया था तो दूसरी ओर उसे अद्भुत सहन-शक्ति और लगन प्रदान की थी। वह जीवन में उन्नति करना चाहता था। कई बार पेशा बदलने के पीछे यह भाव काम करता था। असंतोष का कारण इसकी तुलना में कम था। अब वह किसी के यहाँ नौकरी करना नहीं चाहता, बल्कि 'सेल्फ़-एम्प्लोई' बनना चाहता था। लेकिन कीर्ति जैसे अल्प-शिक्षित तथा अल्प पूँजी वाले व्यक्ति के लिए, जिसने कभी 'स्किल्ड लेबर' नहीं सीखा, 'सेल्फ़-एम्प्लोई' बनना इस प्रकार कठिन था, मानो एक ग़रीब का महलों के ख्वाब देखना। कीर्ति सीधा-सादा आदमी था, पर उसमें बुद्धि का अभाव नहीं था। उसने मेरठ शहर में अपना रिक्शा चलाने का सोचा। अब तक की अपनी कुल बचत पाँच सौ रुपये, एक नया रिक्शा खरीदने के लिए पर्याप्त नहीं थी, पर आधा तो नकद में दे सकता था। बाक़ी ख़र्चे के लिए उसने रिक्शा संघ के नाम बैंक से उधार ले लिया। इस प्रकार उसे नया चमचमाता रिक्शा मिला। जब उसने पहली बार इस नए रिक्शे को देखा तो वह गद्गद् हो गया। ऐसी अद्भुत् तृप्ति मिली जैसी उसे जीवन में पहली बार 'अपनी चीज़' प्राप्त हुई हो।

मेरठ के अधिकांश रिक्शा चालकों के पास अपना रिक्शा नहीं था, उन लोगों के मालिक उनकी कमाई का अधिकांश भाग हड़प लेते थे। इस दृष्टि से कीर्ति अन्य रिक्शावालों से कहीं अधिक सौभाग्यवान् था, लेकिन उसे पूरा विश्वास था कि अगर पूरी मेहनत और ईमानदारी से काम करें तो इस शहर के सभी रिक्शा चालक अपना रिक्शा खरीद सकेंगे और मालिकों के शोषण से मुक्ति पा सकेंगे। उसने रिक्शे पर बैठकर पैडल चलाया, हल्का और द्रुतगामी था! वह चलता क्या था मानो हवा से बातें कर रहा हो। उसे लगा मानो वह महाराणा प्रताप बनकर चेतक पर बैठा हो। लेकिन कुछ दूर जाने के बाद जब बाईं ओर मोड़ना चाहा तो नहीं मोड़ सका। जल्दी से हैंडल घुमाया, लेकिन जिस दिशा में वह जाना चाहता था उस दिशा में न जाकर एक बिजली के खम्भे से टकरा गया। उसको साइकिल चलाना तो आता था, किंतु साइकिल और रिक्शा चलाने में बड़ा अंतर मालूम हुआ। रिक्शे का हैंडल बहुत भारी था, इसलिए हैंडल घुमाना बहुत मुश्किल लगा। उसे मालूम हो गया कि देखने में आसान लगता है, लेकिन रिक्शा चलाने में बड़ी कुशलता की आवश्यकता है, हर कोई तो नहीं चला सकता। विशेषतः जहाँ गाड़ी और आदमियों की भीड़ लगी रहती हो वहाँ से निकलने के लिए

एकाग्रचित्त होकर हैंडल पकड़ना पड़ता है, नहीं तो दुर्घटनाग्रस्त होने की बहुत संभावना थी। कीर्ति को इस दक्षता को प्राप्त करने के लिए पूरा हफ्ता लगा था। अब उसे पूरा विश्वास हो गया कि रिक्शा चलाना भी 'स्किल्ड लेबर' की कोटि में आ जाना चाहिए। एक तो बह 'सेल्फ़-एम्प्लोई' था, और अब 'स्किल्ड-लेबर' बना! सोने में सुहागा-सा लगा। अब वह शहर के एक कोने से दूसरे कोने तक सवारियों को बिठाकर ले जाता था। इतवार को भी काम करता था, किंतु जिस दिन आराम करने की इच्छा हुई तो आराम करता था वह खुद मालिक था, किसी से अनुमति लेने की ज़रूरत नहीं थी। शहर में एक छोटी-सी कोठरी भी ले ली। नाश्ता और रात को खाना खाता था। दिन को खाना नहीं खाता था- हाँ, चाय तो बहुत पीता था : मेहनत का काम था, पसीना जल प्रपात की तरह बह निकलता था। एक दिन की उसकी औसत कमाई लगभग दस रुपये थी। उसका दृढ़ संकल्प था कि रोज़ पाँच रुपये बचाकर प्रति मास डेढ़ सौ रुपये घर भेजेगा। उस जमाने में गाँव में डेढ़ सौ रुपये बहुत नहीं, तो भी एक परिवार के गुज़ारे के लिए काफ़ी थे।

यहाँ भी उसने तरह-तरह के मनुष्यों को देखा- बूढ़े, बच्चे, स्त्री, अमीर, ग़रीब, बड़े, छोटे आदि। सवारियों का आपस में वार्तालाप वह ध्यान से सुन लेता था। उसकी जिज्ञासा थी कि लोग किस प्रकार का जीवन बिताते हैं। कीर्ति ईमानदार आदमी था। कभी किसी सवारी से ज़्यादा पैसा नहीं माँगा। कुछ रिक्शा वालों के ज़्यादा पैसे माँगने से रिक्शावाले बदनाम थे। कीर्ति को अफ़सोस था कि थोड़े से आदमियों की वजह से यह पेशा खामखां बदनाम है। लेकिन उसे पूरा विश्वास था कि बेईमानी से पैसे कमाने वाले रिक्शा वाले बहुत ही कम हैं। कीर्ति को इस बात का भी दुःख था कि कुछ सवारी रूखे शब्दों में बात करती थी, थोड़ा दिशा भ्रम होने से या धीरे चलाने से उन लोगों के मुख से इस प्रकार के अपशब्द निकलते थे– "अबे, साले! क्या करता है!" स्वाभिमानी व्यक्ति के लिए यह अपमान असहनीय था, पर कीर्ति यह भी हँसकर सुन लेता था। उसकी अद्भुत सहिष्णुता को देखकर किसी ने कीर्ति को 'वैशाख नंदन' कहा था। कीर्ति यों समझता था कि गाली देने से गाली खाने वाला अपमानित नहीं होता, अपितु गाली देने वाला स्वयं अपमानित हो जाता है। कीर्ति ने देखा कि समाज में सम्मानित कुछ आदमी भी रिक्शावालों से रूखे ढंग से बोलते हैं। कीर्ति को ऐसा लगता है कि ऐसे आदमी पाखंडी हैं। वह अपनी पीठ के पीछे मनुष्य के चरित्र का सही रूप देख सकता है। यही उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि थी। उसे यह समझ में नहीं आता था कि आदमी क्यों अक्खड़ हो जाता है। उसके विचार में यह उनके दिल की कमज़ोरी के अलावा कुछ भी नहीं है। कीर्ति यह मानता था कि समाज में बड़े आदमी और छोटे आदमी का फर्क अनिवार्य है, किंतु उसका विचार था कि यह भेद कर्म से जनित होना चाहिए, जन्म से नहीं। कीर्ति साम्यवाद, समाजवाद सरीखे शब्द से परिचित नहीं था, किंतु उसने जीवन के प्रति अपनी यह धारणा बना रखी थी कि आदमी को समान अवसर प्राप्त होना चाहिए, किंतु आदमी की क्षमता में

मात्रा भेद होने के कारण अंततः आदमी बराबर नहीं हो सकता इस दृष्टि से वह समाज में वर्ग-भेद को स्वीकार करता था, परंतु उच्च वर्ग के लोगों का घमंड होने का कारण उसकी समझ में नहीं आता था। आदमी को वहन करने का काम क्यों निम्न हो सकता है? आखिर विमान का पायलट भी चालक तो है न? फिर पायलट के प्रति इतना आदर क्यों? शायद इसलिए कि वह मशीन चलाता है और ज़्यादा सवारियों का वहन करता है? जितनी बड़ी संख्या में सवारियों का वहन करेगा उतनी ही इज्ज़त मिलेगी? तब रेलगाड़ी के चालक का स्थान पायलट से ऊँचा होना चाहिए।

यदि यह बात है तो सवारी के स्थान के अनुसार चालक का स्थान निर्धारित होना चाहिए क्या? इसका मतलब यह हुआ कि अगर शहर के प्रतिष्ठित न्यायाधीश संयोग से कीर्ति की सवारी बनें तो वह महान है? और उसके साथी के रिक्शे में कोई मेहतर बैठा हो तो वह नीच है? नहीं, आदमी 'संयोग' से छोटा बड़ा नहीं हो सकता।

यों सोचते-सोचते दस साल हो गए, लेकिन न तो जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन आया, न उसके भोलेपन में। हालाँकि, उसके पारिवारिक जीवन में बड़ा परिवर्तन आया था। अब वह दो बच्चों का बाप था। साल में दो-तीन बार गाँव वापस जाकर बच्चों के साथ समय बिताने का आनंद पाकर उसका जीवन और सार्थक हो गया था। वह 'परिवार नियोजन' को मानता था, इसलिए अब और बच्चे पैदा नहीं करेगा।

सवारियों के प्रति उसका कौतूहल ज्यों का त्यों बना हुआ था। अब उसने आगरा जाकर रिक्शा चलाने का फैसला किया, क्योंकि आगरा में बहुत विदेशी पर्यटक आते हैं। उसने बंबई में थोड़ी अंग्रेज़ी सीखी हुई थी, अतः विदेशी सवारियों के साथ अंग्रेज़ी में बोलना कितना आनंदपूर्ण अनुभव होगा! दस साल में वह तीन-चार बार नया रिक्शा खरीद चुका था। इस बार भी उसने यह सोचकर पुराना रिक्शा बेच दिया कि आगरा में फिर नया रिक्शा खरीद लेगा। अब नए रिक्शे का दाम आठ सौ हो गया था।

:3:

कीर्ति को आगरा शहर में रिक्शा चलाते चार-पाँच साल तो गए। इस शहर में रिक्शा वालों की बदनामी के बारे में मेरठ से कुछ ज़्यादा सुनने को मिला था। कहते हैं कि वे विदेशियों को ठगते हैं, एक विदेशी पर्यटक को आगरा छावनी स्टेशन से ताजमहल तक के किराये के लिए बीस रुपये देने पड़े। कीर्ति को फिर भी विश्वास था कि बेईमान आदमी तो हर जगह हर क्षेत्र में हैं, ज़्यादातर रिक्शा वाले ईमानदार होते हैं।

कीर्ति ने यहाँ बहुत से स्वार्थहीन और निष्काम सेवा करने वाले रिक्शा वालों को देखा है। एक समय बस्ती का एक छोटा-सा बच्चा अचानक रोगग्रस्त हो गया था, जान खतरे में थी और चिकित्सालय बहुत दूर था। तब कीर्ति का एक साथी अपने रिक्शे पर बच्चे और

उसकी घबराई हुई माँ को बिठाकर कड़ी धूप और गर्मी की परवाह न करते हुए, तेज़ी से रिक्शे को चलाते हुए दोनों को डॉक्टर के पास ले गया जिसके कारण उस बच्चे की जान बच गई। माँ के बहुत आग्रह करने पर भी उसने एक भी पैसा नहीं लिया था। उसकी आत्मा को यह संतोष मिला था कि उसने एक इंसान की जान बचाई। कीर्ति ने सोचा कि ऐसे आदमी को ही समाज में सम्मान मिलना चाहिए।

कीर्ति ने भी खुद दो नौजवान लड़कियों को गुंडों के आक्रमण से बचाया था। एक दिन सांझ ढल चुकी थी। दो नौजवान लड़कियाँ, जो कॉलिज की छात्राएँ मालूम होती थीं, कीर्ति के रिक्शे पर बैठीं। उसने दिल में यह सोचा था कि रात को लड़कियों को बाहर नहीं निकलना चाहिए। हजार में से एक रिक्शा वाला तो बदमाश हो सकता है। फिर शहर में गुंडे आवारा भी तो बहुत है। कीर्ति सावधानी से दायीं-बायीं ओर देखता हुआ तेज़ी से रिक्शा चला रहा था कि रास्ते में दो गुंडे अचानक रिक्शे के सामने आ गए और लड़कियों को ज़बरदस्ती ले जाने की कोशिश की। कीर्ति पहले एक गुंडे का सामना तो कर चुका था, पर कभी दो गुंडों का सामना नहीं किया था। वह बिना आगा-पीछा सोचे दोनों पर टूट पड़ा और इतनी ज़ोर से घूंसों और लातों की बारिश की और शीघ्र ही दोनों को खदेड़ दिया कि दोनों गुंडे भाग खड़े हुए। लड़कियों को उनके घर तक सकुशल पहुँचाया। लड़कियों के घर वालों ने कीर्ति को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया। एक लड़की ने कहा, "आप हमारे यहाँ चाय पीकर जाइए।"

कीर्ति पहले तो कुछ हिचकिचाया, परंतु उस लड़की के बार-बार आग्रह करने पर उसने स्वीकार कर लिया। उस लड़की के घर वालों ने कुछ इनाम भी देना चाहा, परंतु उसने इनाम तो यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि यह तो उसका फर्ज़ था। हाँ, चाय उसने बड़े शौक से पी। वह यह देखकर फूला नहीं समाता था कि उसे घर के बाक़ी लोगों के साथ खाने की मेज-कुर्सी पर बिठाया गया और चाय भी मिट्टी के प्याले में नहीं बल्कि कप में दी गई थी जिससे घर के और लोग चाय पी रहे थे। और उसे अपने जीवन में पहली बार 'आप' कहकर संबोधित किया गया, सुकर्म का फल था! तो, उसके दिल का यह संशय अभी नहीं सुलझा था कि मध्यम पुरुष सर्वनाम 'आप', 'तुम', 'तू' की सापेक्षता का निर्णय करने वाला कौन है?

कीर्ति की सवारियों में बहुत-से विदेशी पर्यटक भी थे- अंग्रेज़, अमरीकी, जर्मन, फ्रांसीसी, रूसी, इटालियन, जापानी आदि प्रायः हर देश के लोग कीर्ति की सवारी बन चुके थे। कीर्ति को टूटी-फूटी अंग्रेज़ी बोलने में मज़ा आता था। विदेशी सवारियों से बातचीत करने से एक तो उसे दुनिया भर की नई-नई बातें जानने का मौका मिलता था, दूसरी ओर उसे थकावट का ज़रा भी आभास नहीं होता था। जिस तरीके से भारतीय सवारियों द्वारा कीर्ति की कभी-कभी उपेक्षा की जाती थी वह उपेक्षा विदेशी सवारियों द्वारा कभी नहीं की गई। जिस उल्लास से कीर्ति बात करता था, उसी उल्लास से विदेशियों से जवाब मिलता था और प्रत्युत्तर में विदेशी भी कीर्ति से नाना प्रकार के प्रश्न करते थे। हाँ, विदेशियों में भी सब एक जैसे नहीं थे।

कीर्ति को लगा कि सबसे ज़्यादा खुलकर बोलने वाले अमरीकी हैं, उससे थोड़ा कम बोलने वाले रूसी हैं और सबसे कम बोलने वाले जापानी हैं।

कुछ विदेशियों के मुख से कुछेक रिक्शा वालों की बेईमानी की शिकायत सुनकर तो कीर्ति का मुँह शर्म से नीचा हो जाता था, लेकिन आज उसे विदेशियों द्वारा भोले-भाले रिक्शा वालों के साथ विश्वासघात किए जाने की एक अत्यधिक चौकाने वाली खबर मिली।

बात यों थी कि तीन जर्मन लड़कियों ने तीन रिक्शावालों से वायदा किया था कि वे उनसे शादी करेंगी। शादी करने के बाद वे उनको जर्मनी ले जायेंगी और वहाँ उन्हें मजदूरी करने की कोई ज़रूरत नहीं होगी अपितु एक ऐश्वर्य की ज़िंदगी होगी। चूँकि रिक्शा वालों से विदेशी लड़कियों की शादी इस शहर में ही नहीं, बल्कि पूरे भारत में एक नई घटना थी, यह खबर समाचार-पत्रों में छपी और शहर में क्या, पूरे देश में फैल गई। इस घटना के प्रति लोगों की विविध प्रतिक्रियाएँ थी; कुछ लोगों ने कहा कि पागल लड़कियाँ हैं, जिन्होंने ऐसी नीच जाति के लोगों से शादी कर ली, किसी ने कहा कि बेचारियों ने रिक्शा वालों से धोखा खाया होगा। किसी ने रिक्शा वालों के 'कौशल' की व्यंग्यपूर्ण प्रशंसा की और कहा कि कमबख्तों ने गोरी मेमों को अच्छा फँसाया है और किसी ने खुलकर अपना ईर्ष्या-भाव प्रकट किया कि काश! गोरी मेम से एकात्म होने का सौभाग्य मुझे भी मिलता!

लेकिन यह समाचार छपने के पाँच दिन बाद ये 'पत्नियाँ' अपने 'पतिदेवों' को छोड़कर कहीं भाग गईं ये लड़कियाँ 'हिप्पी' थीं और उनके की अवधि खत्म होने वाली थी और उसे बढ़ाने का एकमात्र साधन उन्हें भोले-भाले रिक्शा वाले नज़र आए थे। कीर्ति ने सोचा कि बेचारे रिक्शा वाले अवश्य सहानुभूति के पात्र हैं, लेकिन आदमी को इतना सीधा-सादा भी नहीं होना चाहिए। कीर्ति को यह विश्वास हो गया कि कुछ विदेशी लोग बदमाश होते हैं। अब वह कुछ सतर्कता से विदेशी पर्यटकों को देखने लगा।

इधर एकाध साल से विदेशी सवारियों में से कोई-कोई हिंदी बोलने वाले भी मिलने लगे——कीर्ति के लिए यह नया अनुभव था। कीर्ति ने अपने पिता से यह सुना था कि अंग्रेज लोग भारतीयों के साथ कभी 'आप' का इस्तेमाल नहीं करते थे; अंग्रेज शासक थे, इसलिए उनको दबदबा बनाये रखना था। शुरू में कीर्ति की यह कल्पना थी कि सभी विदेशी यही 'साहबी हिंदी' बोलेंगे। लेकिन प्रायः सभी विदेशियों ने कीर्ति को 'आप' कहकर संबोधित किया। कीर्ति को अजीब-सा लगा कि ऐसा क्यों है? उसने यह भी सोचा कि उन लोगों की भाषा में संबोधन के लिए सिर्फ़ 'आप' ही मौजूद होगा, बाहर के लोग एक-दूसरे का हमेशा आदर से संबोधन करते होंगे। लेकिन उन विदेशी पर्यटकों से बात-चीत के दौरान उसे इसका कारण पता चला कि वे लोग किताब से हिंदी सीखकर आते हैं और किताब में सिर्फ़ 'आप' ही लिखा होता है। किसी अमरीकी ने कीर्ति को यह समझाया है कि यूनिवर्सिटी में शिष्ट भाषा ही सिखाई जाती है और अमरीका की दर्जनों यूनिवर्सिटियों में हिंदी पढ़ाई जाती है। कीर्ति को

यह सुनकर खुशी हुई कि बाहर के लोग भी हमारी हिंदी शौक से सीख रहे हैं। अब तक कीति की यह धारणा थी कि विदेशी लोग हिंदी बहुत नहीं जानते होंगे।

जापानियों की मितभाषिता की ओर कीर्ति का ध्यान पहले से था। परंतु हिंदी बोलने वाले जापानी दूसरे देशों के लोगों से कुछ ज़्यादा थे और जो जापानी हिंदी बोलते थे काफ़ी उत्साह से बोलते थे, हालाँकि धीरे-धीरे बोलते थे। कीर्ति को 'आप' से संबोधित किया जाना बुरा तो नहीं लगा लेकिन अस्वाभाविक लगा, क्योंकि उसमें अति शिष्टता और परायापन था। कीर्ति को 'तुम' से संबोधित किये जाने में कोई आपत्ति नहीं थी : 'तुम' में हमेशा निरादर का भाव नहीं है, बल्कि उसमें आत्मीयता का भाव भी है।

कीर्ति का ध्यान विदेशियों में सबसे अधिक जापानियों की ओर आकृष्ट होने लगा, क्योंकि एक तो उन लोगों की शक्ल भी गढ़वाल के लोगों से कुछ मिलती थी, दूसरे उनका व्यवहार बहुत नम्र था।

एक दिन एक जापानी पर्यटक उसे मिला था जो सज्जन पुरुष था और धाराप्रवाह हिंदी बोलता था। उम्र लगभग कीर्ति जितनी ही मालूम देती थी। उसकी धारणा थी कि जापानी लोग भी उम्र से कम दिखते हैं वह ऐसे कम विदेशियों में से एक था जिन्होंने शुरू से ही कीर्ति को 'तुम' कहकर संबोधित किया था। कीर्ति को बहुत अच्छा लगा, क्योंकि उसमें अत्यधिक स्वाभाविकता थी और बिल्कुल भी उपेक्षा का भाव नहीं था, बल्कि आत्मीयता से परिपूर्ण था। इतना ही नहीं, वह बिल्कुल स्वाभाविक हिंदी बोलता था। उच्चारण भी मोटे तौर पर शुद्ध था। उस जापानी के साथ भी आगरा शहर के बारे में, ताजमहल के बारे में, और कीर्ति के जीवन के बारे में इत्यादि तमाम बातें होने लगीं।

"तुम कितने साल से रिक्शा चलाते हो?" उस जापानी ने पूछा।

"पंद्रह साल से, साहब।" "कितने बच्चे हैं तुम्हारे?"

"दो हैं—लड़का और लड़की।"

"तुम कभी-कभी रिक्शे पर अपने बच्चों को बिठाते हो?"

"नहीं, वे तो गाँव में हैं।"

"गाँव किधर है?"

"गढ़वाल में है!"

"अच्छा, यह रिक्शा कितने में मिलता है? और कहाँ मिलेगा?" "यह आठ सौ रुपये का है और मेरठ में बनकर आता है। क्यों? आप रिक्शा खरीदेंगे क्या?"

"हाँ यही सोच रहा हूँ।"

यह सुनकर उसे बहुत हैरानी हुई। आज तक किसी विदेशी ने रिक्शे के प्रति रुचि प्रकट नहीं की थी। रिक्शे की उपयोगिता पर कीर्ति के संशय को दूर करते हुए उस जापनी ने

समझाया कि वह रिक्शा यहाँ बनवाकर जापान ले जाना चाहता है और अपने बच्चों को रिक्शे में बिठाकर शहर की सैर कराना चाहता है।

कीर्ति यह सुनकर और हैरान हुआ—"क्यों, आपके यहाँ रिक्शा नहीं चलता?" इस पर जापानी ने आधुनिक जापान का संक्षिप्त इतिहास और रिक्शे का इतिहास बताते हुए कहा कि रिक्शा जापानी शब्द है और अंग्रेज़ी के माध्यम से हिंदी में अपनाया गया है। मौलिक रिक्शा तो उसी को कहते थे जो दो पहिए वाला है, जिसे आदमी ही खींचता है और जो आजकल कलकत्ते में ही उपलब्ध है। तीन पहिए वाला साइकिल-रिक्शा तीन दशक पहले जापान के कुछ खास शहरों की खास जगहों पर खास उद्देश्य के लिए चलता था जिसका नाम भिन्न था। जो भी हो, आजकल जापान में रिक्शा कहीं नहीं चलता। रिक्शे का स्थान बहुत पहले टैक्सी ने ले लिया था।

"हमारे देश में औसतन हर दो घरों में से एक के पास गाड़ी है। और कई अमीरों के पास हवाई जहाज भी है, लेकिन रिक्शा किसी के पास नहीं है। इसीलिए मैं इसे जापान ले जाना चाहता हूँ। मेरे बच्चे भी बहुत खुश होंगे। और मेरे व्यायाम के लिए भी अच्छा होगा। एक पंथ दो काज नहीं, तीन काज हैं न?" कीर्ति हार गया उसकी बुद्धि तथा उसके निरालेपन से।

"साहब! तब तो मुझे जापान ले चलिए, आपको खुद रिक्शा चलाने की ज़रूरत नहीं होगी।"

इस पर भी जापानी ने लंबी-लंबी व्याख्याएँ दी और कहा कि चाहते हुए भी कानूनी पाबंदी होने की वजह से यह संभव नहीं है। कानूनी पाबंदी की बात कीर्ति की समझ में नहीं आई, क्योंकि उसे मालूम था कि बहुत से भारतीय विलायत और मध्य एशिया में जाकर मजदूरी करते हैं। इस पर उस जापानी ने समझाया कि जापान का कानून विदेशियों के लिए अत्यंत कड़ा है।

कीर्ति ने अपनी बात पर बल देना ठीक नहीं समझा और विषयान्तर किया "साहब, आप अपने रिक्शे का नाम चेतक रखियेगा। बहुत सुंदर नाम है न? यह आपके बच्चों की रक्षा करेगा।"

कीर्ति को उस दिन की याद आ गई जिस दिन पहली बार उसने अपना रिक्शा चलाया था। अब कीर्ति के लिए जापान जाकर 'चेतक' को चलाना एक अतृप्त स्वप्न-सा बन गया।

जापानी बी०ए० हिंदी छात्र-छात्राओं के निबंध

मन्नू भंडारी " आपका बंटी "

मिकि कावामुरा

[इस पत्रिका के अंत में जापानी बी०ए० हिंदी के छात्र-छात्राओं के तीन निबंध प्रस्तुत किए जा रहे हैं। जापान में दस-पंद्रह विश्वविद्यालयों में हिंदी पढ़ाई जाती है। इनमें से दो विश्वविद्यालयों में बी०ए० हिंदी का पाठ्यक्रम है। यहाँ इनमें से एक ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय के बी०ए० हिंदी छात्र छात्राओं के निबंध प्रस्तुत हैं। -**संपादक**]

आजकल भी हर साल बहुत अधिक लोगों के विवाह होते हैं, लेकिन उन लोगों में से बहुत-से पति-पत्नी अलग हो जाते हैं।

विवाह एक सामाजिक बंधन है जो मानव-जीवन को व्यवस्थित करने के लिए समाज ने बनाया है। किंतु आजकल तलाक हमारे समाज की बहुत बड़ी समस्याओं में से एक है। विशेषकर अगर पति-पत्नी के बीच एक बच्चा हो, तो दोनों का तलाक केवल उनके लिए नहीं, बच्चे के लिए भी बहुत बड़ी बात है।

यह अवश्य सच है कि माता-पिता को अपना सारा जीवन सिर्फ़ बच्चे को पालने में लगाने की ज़रूरत नहीं। लेकिन दोनों को बच्चे की सही ढंग से परवरिश करनी चाहिए और उसे सबसे अच्छा रास्ता दिखाना चाहिए। इसका कर्त्तव्य माता-पिता दोनों पर है। अगर माता-पिता अलग हो जाएँ तो माता को यह कर्त्तव्य निभाना है या पिता को।

शकुन और अजय अलग हो गए। पहले दोनों का बच्चा बंटी शकुन के साथ रहता था। बंटी की इच्छा थी कि शकुन अजय से फिर दोस्ती कर ले और बंटी ने शकुन के हर दु:ख को अपना दु:ख और उसकी हर कही-अनकही इच्छा को एक आदेश-सा बना लिया। बिना शकुन के चाहे या कहे भी वह उसे प्रसन्न करने का भरसक प्रयत्न करता रहा था। और बंटी ने अपने प्यारे पिता को भी भूलने की कोशिश की। शायद बंटी शकुन के साथ अपनी नई ज़िंदगी की शुरूआत करना चाहता था। लेकिन शकुन ने डॉक्टर जोशी से दूसरी शादी कर ली। बंटी को लगा जैसे उसकी मम्मी अब उसकी नहीं रही, डॉक्टर जोशी की हो गई और अमि और जोत की, मम्मी ने उसे बिल्कुल छोड़ दिया। शकुन बंटी को प्यार करती थी, पर वह बंटी का भाव ठीक-ठीक नहीं समझती थी। इसलिए बंटी के मन में एक संतोष हुआ था। कुछ ऐसा कर डालने का जो नहीं करना चाहिए, मम्मी को परेशान करने का। वास्तव में बंटी रोज़ एक हंगामा खड़ा कर देता था। अंत में वह अपने को फालतू और उपेक्षित महसूस करने

लगा और उसके मन की कचोट किसी-न-किसी बात से गहरी हो गई। शायद बंटी अकेलापन महसूस करता था। वह अपनी और शकुन का ध्यान खींचने के लिए कभी-कभी हंगामा खड़ा कर देता था। आखिर शकुन और बंटी आपस में निराश हो गए और थक गए।

मेरी राय में इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि शकुन बंटी की सही ढंग से परवरिश नहीं करती थी। बंटी आठ-नौ साल का लड़का है, अब शिशु नहीं। लेकिन शकुन पहले कॉलेज के बाद सारा समय और सारा ध्यान एक तरह से उसी पर केंद्रित कर देती थी। बंटी भी स्कूल के अलावा सारे दिन शकुन के साथ रहता था या फूफी के साथ। यह सब बहुत नॉर्मल नहीं है। मुझे लगता है जैसे सचमुच बंटी से प्रेम नहीं करती थी, उसे बच्चे से केवल मोह था। कभी-कभी प्यार और देखभाल के नाम पर माता-पिता अपने को इतना थोपे रहते हैं बच्चे पर कि वह कभी पूरी तरह पनप ही नहीं पाता। तलाक के बाद शकुन अपना अकेलापन खत्म करने के चक्कर में बंटी का भविष्य ही खत्म करने वाली थी और कभी-कभी वह मन में सोचती थी कि बंटी केवल उसका बेटा ही नहीं है, वह हथियार भी है, जिससे वह अजय को टॉर्चर कर सकती है, और करेगी। कुछ लोग ऐसी बात कहते होंगे कि शकुन को दोष नहीं देना चाहिए, इस तरह की स्थिति में ऐसा हो जाया करता है। लेकिन उन लोगों से मेरा मतभेद है। अगर पति-पत्नी मुक्त होते तो भी किसी कारण से क्यों न हो, दोनों को अपने बच्चे को परेशान न करना चाहिए। अगर शकुन ने बंटी का मन समझकर उसे कष्ट न दिया होता तो बंटी के मन की कचोट भी धीरे-धीरे समाप्त होती। पहले मैंने कहा कि माता-पिता पर बच्चे का ठीक-ठीक पालन करने का कर्त्तव्य है। यदि शकुन ने कम-से-कम यह कर्तव्य निभाया होता तो वह बंटी को विभिन्न मानसिक यातनाओं से बचा सकती थी।

मुझे शकुन और जोशी की शादी बुरी तो नहीं लगती, किंतु बंटी के मन में अब भी अजय और शकुन के तलाक को लेकर दुःख था। इसलिए शकुन को कुछ दिनों के लिए अपना विवाह टालना चाहिए था और शादी के पहले बंटी को अच्छी तरह समझाना चाहिए था कि वह क्यों जोशी से विवाह करना चाहती है। शकुन ने केवल बंटी से यह कहा "तुझे डॉक्टर जोशी अच्छे लगेंगे, वहाँ भी अच्छा लगेगा" यह किसी को समझाने की बात नहीं है। पहले मैंने कहा कि शकुन ने सही ढंग से बंटी का पालन नहीं किया। शकुन भी यह बात मानती थी। शादी के बाद शकुन बंटी से अपने को काटकर उसको और अधिक आत्मनिर्भर बनाने की कोशिश करने लगी। यह बहुत अच्छी बात है। लेकिन बंटी हर बात के लिए उस पर निर्भर करता था। अगर शकुन बिना कुछ कहे एकदम पूरी तरह बंटी से मुक्त हो जाएगी तो बंटी को यह बात बिल्कुल अच्छी नहीं लगेगी।

सचमुच बंटी अपने को फालतू महसूस करने लगा। इसलिए चाहे शकुन बंटी को अपने पास रखे, चाहे उसे अजय के पास भेजे, उसे बंटी को अपना विचार समझाना चाहिए। अगर में शकुन की जगह होती, तो मैं बंटी से यह कहती कि, "मैंने अपनी नई ज़िंदगी की शुरूआत

करने के लिए डॉक्टर जोशी से शादी की है। अब भी मैं तुझे खूब प्यार करती हूँ। आज तक मैं हमेशा तेरे पास रहती थी पर तू इतना बड़ा हो गया है कि अब तुझे मुझ पर निर्भर न करना चाहिए। लड़के को हर काम अपनी शक्ति से करना चाहिए।"

बंटी छोटा लड़का है। शायद अभी वह इस बात को ठीक से समझ नहीं सकेगा, किंतु आज से आठ-नौ साल बाद की बात सोचिए, जब बंटी की अपनी ज़िंदगी होगी अपने स्वतंत्र संबंध होंगे तब अवश्य वह अपनी माता की बात समझ सकेगा और बिना किसी पर निर्भर किए अपना जीवन जी सकेगा। यह बंटी को बचाने के लिए एक अच्छा रास्ता है।

मैं डॉक्टर जोशी के बारे में कुछ कहना चाहती हूँ। वे अवश्य बंटी की बात के संबंध में शकुन परामर्श तो देते हैं लेकिन वे अपने आप बंटी से कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं करते। शायद बंटी डॉक्टर जोशी को प्यार करना चाहता है। डॉक्टर जोशी को उसका बाप बनकर उसके बारे में सोचना चाहिए। वे भी बंटी को मानसिक यातना से उबार सकते हैं।

इस उपन्यास में अजय बंटी को अपने घर ले जाता है और फिर वह बंटी को हॉस्टल भेज देता है। मेरी राय में यह बंटी को बचाने के लिए एक अच्छा विकल्प है। बंटी की उम्र के बच्चों को हॉस्टल में रहना चाहिए। अपने बराबर के बच्चों के साथ रहना बंटी के लिए एक अच्छा अनुभव है। माता-पिता का तलाक, माता और जोशी की शादी आदि से बंटी बेहद आहत हो गया। इसलिए अब वह बड़ों पर विश्वास नहीं कर सकता। पर हॉस्टल सचमुच दूसरी दुनिया है। अगर बंटी वहाँ दूसरे बच्चों के साथ रहेगा तो उसे तसल्ली मिलेगी। होस्टल में बंटी किसी पर निर्भर नहीं कर सकेगा। वहाँ उसे अपने आप काम करना होगा। मुझे यह आशा है कि वहाँ बंटी और भी आत्मनिर्भर और शक्तिशाली बनेगा। संसार में वही व्यक्ति सुखी हो जाता है जो आस-पास की दुनिया के अनुसार अपने को बना सकता है। बंटी यह बात भी हॉस्टल में सीखेगा। इसलिए बंटी को हॉस्टल भेजना एक अच्छा रास्ता है।

जापानी बी०ए० हिंदी छात्रा का निबंध

नागार्जुन कृत "बाबा बटेसरनाथ" पढ़कर

एदेरा कोदामा

"बाबा बटेसरनाथ" (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय संस्करण, 1975) को पाठ्य-पुस्तक के रूप में पढ़ने पर हमें विविध प्रकार की बातें ज्ञात हुईं। हमारे अध्यापक ने जिन बातों पर व्याख्या कीं, वे हमें बहुत दिलचस्प लगीं। इसका एक कारण यह है कि मैं इतनी अज्ञानी थी कि भारत के पंचांग के बारे में भी कुछ नहीं जानती थी। उदाहरण के लिए, मुझे नहीं मालूम था कि पूर्ण चंद्र होने से चंद्रमास की अंतिम तिथि निश्चित की जाती है। तो उपन्यास में महीने के अंत को जापानी में अनुवाद करके "त्सुगोमोरी" कहना गलत है क्योंकि इसका मतलब है "चंद्र का कहीं छिप जाना।"

हमको यह भी दिलचस्प लगा कि भगवान शिव "ब" की ध्वनि पसंद करते हैं और इसीलिए शिव का दूसरा नाम "बम्भोलेनाथ" हुआ है। इससे समझ सकते हैं कि हिंदू लोगों के लिए भगवान उनके निकट-निकट रहते हैं। यह लिखते हुए मुझे याद आई है कि विष्णु के अवतार कृष्ण ने मक्खन को इतना चाहा कि उन्होंने चुराकर मक्खन खाया। इस कारण उनका नाम 'माखन चोर" पड़ गया है।[1] फिर हमें यह सुनकर आश्चर्य हुआ कि इस समय में भी शुभ-अशुभ होता है।

इसके अलावा हमको बिहार में लोकप्रिय कई कथाएँ मालूम हुई हैं।[2]

पहले मुझे जो मुझे दिलचस्प लगे, उनमें से दो-तीन विषय पर बताना शुरू करूंगी।

1. जिस तरह जापान और भारत में आबो-हवा का बहुत-सा अंतर है उसी तरह जापानी और भारतीय मनोभाव में भी बड़ा भेद है। जेठ की पूनम का वर्णन करके नागार्जुन ने कहा कि पूर्ण चंद्र की चाँदनी दिन की झुलसी मुर्दा प्रकृति के लिए "अमृत वर्षा" है।[3] हम ऐसी कल्पना तो अनुभव कर सकते हैं परंतु हमारे लिए पूर्णचंद्र की भावना इससे बिल्कुल दूसरी है।

अब "ठंडा" शब्द लेकर विचार करूँगी।

"बेताल पच्चीसी"[4] में निम्नलिखित हिस्सा है। पद्मावती कुँवर के पास बैठकर पंखा झलने लगती है। यह देखकर कुँवर बोलता है, "हम तुम्हारे देखने से ही ठंडे हुए, इतनी मेहनत क्यों करती हो?" लेकिन जापानी कम से कम ऐसा अभिव्यंजन नहीं करेगा। हम यों कहेंगे, "मेरे लिए ऐसा न कीजिए, मेरे पास तुम्हारे रहने से ही मुझे गर्मी भूल गई है।"

इन दोनों का अर्थ एक नहीं है। जापान की हवा में नमी बहुत है। गर्मी के दिनों में आदमी गीली गर्मी से मुक्त नहीं हो सकता है चाहे वह छाँह में बैठता हो या सूरज डूब चुका हो। यहाँ गर्मियों में उमस ही होती है, इसलिए हमें उसे भूलने के सिवाय क्या उपाय होगा। हम जलवायु को बदल न सकते, सो अपने-अपने मन की अवस्था बदल देते हैं।

भारत में कड़ी धूप चढ़ती है, खूब गर्मी पड़ती है, पर वहाँ के लोगों को उससे छुटकारा, आराम देने वाला ठंडा भी मिलता है। अतः "ठंडा" शब्द से शीतलता चैन की भावनाएँ प्रकट की जा सकती है।

2. जब भारी अकाल पड़ा तब लोगों ने क्या-क्या चीज़ें खाईं। उन दिनों उनका खाना ये थे जैसे—रोटियाँ, अल्हुआ, मछलियाँ, आम की सूखी गुठलियाँ चूर-चूर कर मंडुआ का ज़रा-सा आटा उसमें मिलाकर बनाया टिक्कड़, बेर, आम, जामुन, अमरूद, इमली वगैरह की पत्तियाँ उबाल कर इंट का चूरन इसमें मिलाकर खाया करते थे।[5]

हम उस देश में रहते हैं जहाँ एनर्जी के कम ख़र्च पर ज़ोर दिया जा रहा है। यह कोई मामूली बात नहीं। आज भी भारत में बाढ़ और अकाल के कारण हज़ारों लोग मर जाते हैं। जो रुपये सरकार उनकी आर्थिक सहायता के रूप में देते हैं उन्हें अधिकतर अफ़सर लोग पकड़ लेते हैं।[6]

3. हिजरी सन् 1280 के अकाल में पंडितों ने चंडी पाठ किए, साधकों ने एक-एक मंत्र को जपा।[7] परंतु इस तरह बादल को बुलाने से क्या हुआ, कुछ नहीं। आज हमको ऐसी विनती अर्थहीन लगती है। लेकिन जब "बाबा बटेसरनाथ" लिखा गया तब भी लोगों के लिए विज्ञान जादू के बराबर था।[8]

इस प्रकार के विषय में बातें करना यहाँ छोड़ दूँगी।

बस्ती रुपउली के पिछले युगों की घटनाएँ बाबा बताते हैं। क्यों बाबा के मुँह से ये बतलाए गए?

क्या इसलिए कि बाबा वही बरगद है जिस पर मृत्यु का खतरा है और जिसके प्रति लोगों का गहरा स्नेह है? अथवा इसलिए कि लेखक पुराने समय की बातें ऐतिहासिक ग्रंथ की तरह लिखने से बचना चाहता था?

पुस्तक में किसी की "बोलचाल" पढ़कर हमें उससे घनिष्ठता मिलती है। तो लेखक का अभिप्राय यह था कि पढ़ने में, सरलता? यह हिंदी भाषा की समस्या भी है। किंतु मेरा अनुमान है कि जो "बाबा बटेसरनाथ" पढ़ सकते हैं वे अधिकतर पढ़े-लिखे सज्जन है। पर जहाँ शिक्षितों की संख्या बहुत कम होती है वहाँ ऐसा उपन्यास पढ़ा भी नहीं जाता। पर मेरी राय में सुनने के लिए "बाबा बटेसरनाथ" जैसा उपन्यास अशिक्षित लोगों के लिए आरामदेह

है। ("बाबा बटेसरनाथ" पढ़कर मुझे ज्ञात हुआ कि पुस्तकों का पारायण गाँव में अक्सर होता है।)

लेकिन यह महत्त्वपूर्ण समस्या नहीं लगती कि इस उपन्यास का आधा भाग बाबा की बोली है या नहीं। वास्तव में मुझे इस तरह के मूल विषय को उपन्यास के रूप में पेश करना ठीक नहीं लगता। फिर भी मैं महसूस करती हूँ कि इस लेखक के हृदय में इतना गुस्सा उत्पन्न हुआ है कि वह कुछ लिखे बिना नहीं रह सकता।

किस के प्रति गुस्सा? पाठक के प्रति, अंग्रेज़ शासक के प्रति, जो अपना ही लाभ देखता है वही व्यक्ति के प्रति हो सकता है कि बरगद के प्रति लोगों की ममता भी पाठक आदि स्वार्थी व्यक्तियों के प्रति उसका गुस्सा प्रकट करने के लिए लिखा गया है। किंतु सिर्फ़ जमींदार और धनी किसान ही लालची होते हैं? नहीं। गाँव के और लोगों में भी स्वार्थ ज़रूर होगा। "गोदान" में इसका भी ब्यौरेवार वर्णन किया गया है।

"बाबा बटेसरनाथ" में यह निश्चित है कि कौन अच्छे मनुष्य हैं और कौन बुरे। बुरे पक्ष के व्यक्तियों में सिर्फ़ सतदेव (जैनरायन का भानजा) ईमानदार और मेहनती व्यक्ति है। इसके सिवा पाठक और जैनरायन इत्यादि "बदमाश" सब ज़ालिम, बेशर्म हैं और उनके बच्चे मूर्ख हैं और कंजूस।

अब देखो बाबा बटेसरनाथ की बातें जो आदर्श से भरी युवक की तरह सच्चरित है-- "जीने के लिए जीना, जीना नहीं है, परोपकार के लिए जीना ही जीना है।"[9] "बीते युगों की सड़ांध का समर्थन किसी भी कीमत पर नहीं कर सकूँगा। भविष्य तेरे-जैसे तरुणों के हाथों में है।"[10] इत्यादि।

इसकी अपेक्षा "गोदान" में तो ऐसे आदमी का वर्णन किया गया है जिसकी आत्मा बहुत ऊँची नहीं है बल्कि उसका स्वभाव अच्छा भी है और बुरा भी। ग़रीब असामी का विषाद, ज़मींदार के प्रति गुस्सा, गाँव की दशा पर प्रश्न– ये गोबर से हमारे सामने रखे गए हैं। अंत में गोबर ने मान लिया कि दुःख ग्रामवासियों को एक सूत्र में बाँध देता है और "बंधुत्व के इस दैवी बंधन को क्यों अपने तुच्छ स्वार्थों में तोड़े डालते हो, उस बंधन को एकता का बना लो।"[11]

"गोदान" पढ़कर हमको ऐसा लगा कि गाँव के लोगों का व्यवहार अक्सर स्वार्थी होता है। उनकी भावना लाभ-हानि से आसानी से बदलती है। सबको कुछ न कुछ शिकायत है, पर ऐसे आदमी बहुत कम हैं जिनमें गोबर की तरह पक्का अवज्ञाकारी भाव हो।

और 1980 फरवरी के नरायनपुर, पिपरा इत्यादि बस्तियों के कांड क्यों हुए? इसलिए हमें ऐसी आशावान कहानी बड़ी सच्चाई की नहीं लगती जो "बाबा बटेसरनाथ" में लिखी गई है।

नोट

1. "बहता पानी निर्मला", पृष्ठ सं० 26.
2. "बाबा बटेसरनाथ", पृष्ठ सं० 12, 34, 37, 49, 91, आदि.
3. "बाबा बटेसरनाथ", पृष्ठ सं० 1, 10.
4. "बेताल पच्चीसी', पृष्ठ सं० 13.
5. "बाबा बटेसरनाथ", पृष्ठ सं० 52-62.
6. "बागा फुरुसातो नो इन्दो", मोहनती, अनु० कोनिशि, पृष्ठ सं० 42.
7. "बाबा बटेसरनाथ", पृष्ठ सं० 53.
8. "बाबा बटेसरनाथ", पृष्ठ सं० 2.
9. "बाबा बटेसरनाथ", पृष्ठ सं० 14.
10. "बाबा बटेसरनाथ", पृष्ठ सं० 50.
11. "गोदान", सरस्वती प्रेस बनारस, पृष्ठ सं० 356.

जापानी बी०ए० हिंदी छात्र का निबंध

"बाबा बटेसरनाथ" एक विवेचन

यूइचिरो मिकि

नागार्जुन कृत "बाबा बटेसरनाथ" (1954) की पृष्ठभूमि कांग्रेसी सरकार के द्वारा 1952 ई० का जमींदारी उन्मूलन है। इस उपन्यास का घटनास्थल बिहार का एक गाँव है, जहाँ की बोली मैथिली है।

इस लेख में पहले हम उपन्यास के कथानक की कुछ विशेषताओं पर ज़िक्र करेंगे। फिर औपनिवेशक युग में भूस्वामी से असामी के संबंध तथा गाँव पर अंग्रेज़ी शासन के प्रभाव पर विचार करेंगे, जिससे ग्रामीण जीवन के बारे में लेखक का दृष्टिकोण स्पष्ट किया जाएगा। लेख का अंतिम उद्देश्य उस दृष्टिकोण की कुछ समस्याओं पर प्रकाश डालने से है।

1. "बाबा बटेसरनाथ" के कथानक को कुछ विशेषताएँ

उपन्यास के प्रारंभ में जब जमींदारी उन्मूलन-बिल स्टेट असेम्बली में पास हो जाने वाला था, तब ज़मींदार गाँव के सार्वजनिक उपयोग की बरगद वाली भूमि को अपनी व्यक्तिगत जायदाद मानकर बेचने जा रहा था। गाँव के बड़े किसानों को उस ज़मीन पर कब्जा होने का सुअवसर मिला। उनके प्रति साधारण किसानों की ओर से प्रतिक्रिया भी छिड़ गई। लोग बरगद वाली ज़मीन को सार्वजनिक जगह मानते थे, इसलिए उस पर कोई भी व्यक्ति गत अधिकार नहीं कर पाया था। जैकिसुन यादव उस आंदोलन का एक कार्यकर्ता था। यहाँ, बाबा बटेसरनाथ (उक्त बरगद का मानव रूप) ने उससे 16वीं शताब्दी के मध्य काल से लेकर स्वराज्य आंदोलन की अवधि तक के गाँव का इतिहास सुना दिया। लेखक इस पर ज़ोर देता है कि जो भी जमाना हो, उसमें साधारण जनता पर दमन किया गया है। उसके बाद फिर लेखक ने बरगद वाली ज़मीन के बारे में असामी-ग़रीब किसानों के संग्राम की चर्चा शुरू की। 1951 को जमींदारी उन्मूलन-बिल स्टेट असेम्बली में पास हो चुका था, मगर उसमें यह बात स्पष्ट नहीं थी कि हाट, बाजार, पोखर, झील, बाग-बगीचा एवं बरगद वाली ज़मीन की शुमार जमींदार की व्यक्तिगत जायदाद के अंदर होगी या नहीं। दो वर्गों के बीच झगड़ा होने का वह एक महत्त्वपूर्ण कारण था। लेखक इस तरह कांग्रेस पर दोष लगाता है कि वह व्यक्तिगत संपत्ति के वाजिब हकों का दायरा बेहद बढ़ाकर ज़मीदारी प्रथा का नकली श्राद्ध कर रहा है यानी उसका कहना है कि कांग्रेस भूस्वामी बड़े किसान बनिया और बड़े ऑफिसर इत्यादि की पार्टी है, साधारण जनता की नहीं।

उपन्यास के अंत में किसानों की माँग स्वीकार की गई, यद्यपि उन्हें विजय आसानी से न मिली। लेखक का विश्वास है कि वह जमाना ज़रूर आएगा जिसमें असामी और ग़रीब किसान वगैरह आम लोग गाँव के स्वामी हों।

"बाबा बटेसरनाथ" के कथानक की विशेषताओं पर प्रकाश डालने के लिए हमें लेखक की दूसरी रचना का अध्ययन करना भी आवश्यक है। "दु:खमोचन" (1956) लेखक का एक और उपन्यास है। उसमें जमींदारी उन्मूलन के बाद मिथिला के गाँव की व्यवस्था का चित्रण मिलता है। किसानों का संगठन मज़बूत हो गया है और ग्राम पंचायत के द्वारा स्वराज्य मिला है। गाँव वालों के रहन-सहन का स्तर या जजमानों की मजदूरी में भी बहुत-कुछ उन्नति हुई है। भूस्वामियों और बड़े किसानों के द्वारा बेदखली जैसा प्रत्यक्ष दमन कम हो गया है। इसके बदले में दोनों वर्गों का परस्पर विरोध अप्रत्यक्ष रूप धारण करने लगा, जैसे रिलीफ़ फंड के बंटवारे और नई सड़क के निर्माण के बारे में गड़बड़ी, अधार्मिक विवाह को लेकर नई-पुरानी इन दोनों पीढ़ियों के बीच झंझट आदि-आदि।

लेकिन समाचार पत्रों या पत्रिकाओं को पढ़िए, तो तुरंत समझ में आएगा कि आजकल भी बहुत से कि गाँव को ग़रीब किसान और खेत मजदूर भूमि हड़प, हत्या, ज़िंदा जलाना और बलात्कार वगैरह से उत्पीड़ित रहते हैं। अतएव भूस्वामी और असामी के बीच प्रत्यक्ष प्रतिद्वन्द कम नहीं होता है। इसलिए ऐसा लगता वास्तविक दशा की अपेक्षा "दु:खमोचन" में वर्णित की गई अवस्था अधिक शांतिपूर्ण और सुखद है। अतः यह परिणाम निकाला जा सकता है कि दोनों "बाबा बटेसरनाथ" और "दु:खमोचन" ज़्यादा आदर्शवादी है। इन रचनाओं में हम लेखक के विश्वास और इच्छा अधिक देखते हैं। आखिर नागार्जुन ने अपने उपन्यास में गाँव वालों के ऐसे संगठन और आंदोलन का चित्रण किया जैसे अपनी विचारधारा या राजनीतिक दृष्टिकोण के अनुकूल थे।

अब हमें "बाबा बटेसरनाथ" के कथानक की दूसरी विशेषता पर ध्यान देना चाहिए। उसमें 16वीं सदी के मध्य काल से लेकर स्वराज्य आंदोलन की अवधि तक के ग्रामीण जीवन का सविस्तार चित्रण मिलता है। उदाहरण के लिए, अंग्रेज़ी राज का गाँव पर असर बाढ़ और अकाल की दुर्दशा, रिआया पर ज़मींदार का ज़ुल्म, गाँव में तरह-तरह के रीति-रिवाज़, स्वराज्य आंदोलन से गाँव का संबंध, बड़े किसानों के पूर्वज का जीवन-चरित आदि-आदि। इनके विस्तृत अध्ययन से हम बिहार के ग्रामीण जीवन के बारे में बहुत-कुछ समझ सकते हैं। हमने इस लेख में खास तौर से लेखक के राजनीतिक और वैचारिक दृष्टिकोण पर विवेचन किया, किंतु हो सकता है कि इस उपन्यास में चित्रित किए गए ग्रामीण जीवन के अनेक पहलुओं पर ध्यान देना और भी हितकर हो।

यहाँ ग्रामीण जीवन के बारे में लेखक के आधारभूत दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए हम विशेषकर उपर्युक्त दो विषयों पर विचार करेंगे।

2. ज़मींदार-बड़े किसान और असामी-ग़रीब किसान- इन दो वर्गों का परस्पर संबंध

"बाबा बटेसरनाथ" में तीन श्रेणियाँ आती है, अर्थात् ज़मींदार, बड़े किसान और गाँव के अन्य साधारण लोग अब हम इन तीनों के संबंध पर विचार करेंगे।

पहले इस पर ध्यान देना चाहिए कि औपनिवेशिक काल में ज़मींदार का कितना बड़ा अधिकार था। जो एक गुंडा ज़मींदार की जी-हुजूरी करता था, उसने राजपूत खेतिहर के खिलाफ उसके कान भरवाए। चटपट किसान को ज़मींदार के प्यादे से बुलवाया गया और कर्ज की चुकाई मजबूर की गई। पर उसके पास पैसे नहीं थे। अंत में प्यादे ने निर्दय ढंग से उसकी हत्या कर दी। इस घटना से ज्ञात होता है कि उस समय ज़मींदार के हाथ अपनी रिआया की जान छीन लेने का अधिकार भी था।

फिर उसके बेटे की बारात के शानदार जुलूस में बहुत से खेतिहर मुफ्त में भारी-सा तस्तपोश ढोये जा रहे थे। अपनी रिआया से बेगार लेना ज़मींदार का सहज अधिकार था। लेखक ने ठीक ही लिखा कि सौ वर्ष पहले दरअसल अपने इलाकों में जमींदार सर्वे-सर्वा हुआ करता था।

"बाबा बटेसरनाथ" में हमें ज़मींदार ही नहीं बल्कि बड़े किसानों के वृत्तांत भी काफ़ी मिलते हैं। बड़े किसान टुनाई पाठक ने उक्त बरगद वाली ज़मीन अपनाने को चाहा। उसके बाप ने नेपाल के मोरड इलाके में राणा परिवारों की खुशामद करके बहुत रुपया कमाया था। मिथिला के बड़े किसानों से नेपाल के संबंध का जिक्र "दु:खमोचन" में भी मिलता है। यह कांग्रेस वालों की पहली मिनिस्ट्री के जमाने (1937-38) की बात थी कि टुनाई पाठक ने पाँच बीघा उपजाऊ धनहर खेत सिर्फ़ दो सौ नकद देकर ज़मींदार से लिखवा लिए। यह घटना हमें फणीश्वरनाथ रेण कृत "मैला आँचल" (1954) की याद दिलाती है। इसमें भी कांग्रेस वालों की पहली मिनिस्ट्री के जमाने में मिथिला के एक गाँव का सविस्तार चित्रण मिलता है। जब कांग्रेस के द्वारा दफ़ा 44 नामक एक कानून असेम्बली में पास हो गया तब से ज़मीन का क्रय-विक्रय, लेन-देन प्रांतीय सरकार की ओर से स्वीकार किया गया। उन ग़रीब किसानो की ज़मीन को जब्त करने में मशगूल होने लगे, जिनके उधार की चुकाई पूरी न हुई थी। ग़रीब किसानों के खेत नीलाम पर चढ़ने लगे।

हम दो लेखकों के उपन्यास से यह अनुमान लगाते हैं कि कांग्रेसी प्रांतीय सरकार की राजनीति भू-स्वामियों और बड़े किसानों के लिए ज़्यादा लाभ में थी। यह मालूम होता है कि बड़े किसान ज़मींदार की मदद करते हुए अथवा उसका अनुचर बनकर ग़रीब किसानों को दबोच देते थे और यदा-कदा स्वयं भी छोटे ज़मींदार हो जाते थे। उनके ये दुर्व्यवहार अंग्रेज शासन काल में ही नहीं बल्कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी चालू रहते हैं, जिनका एक उदाहरण "बाबा बटेसरनाथ" में बरगद वाली गड़बड़ी है।

अब हम बड़े किसानों से गाँव के साधारण लोगों के संबंध पर विचार करेंगे। बड़े किसानों के लड़के उच्च शिक्षा पाकर शहर में वकील, बड़े ऑफिसर, प्रोफ़ेसर जैसे ऊँचे ओहदों पर हो गए हैं। अपने गाँव के बारे में उनकी केवल यही परवाह है कि गरीबों के गले घोंटकर लाभ उठाएँ और ज़मीन जब्त करें। इसलिए लोग उनके नाम ले-लेकर थूकते हैं।

यहाँ हम संक्षिप्त में "बाबा बटेसरनाथ" में तीन श्रेणियों का परस्पर संबंध स्पष्ट करेंगे। पहले ज़मींदार ग़रीब किसान अर्थात् अपनी रिवाया पर पूर्णाधिकार रखता था। पर यह मुख्यतः औपनिवेशिक काल की बात थी। फिर बड़े किसान ज़मींदार का अनुयायी बनकर ग़रीब किसानों का दमन करते हैं और खुद मोटे-मोटे ज़मींदार हो जाते हैं। इस वर्ग में उन लोगों की संख्या भी अधिक है, जो उच्च शिक्षा पाकर शहर में ऊँचे पद पर विराजमान हैं। अंत में गाँव के साधारण लोग उनसे घृणा करते हैं।

इस उपन्यास में तीन श्रेणिया आती हैं, किंतु हम उन्हें दो वर्ग भी मान सकते हैं। अर्थात् भूस्वामी बड़े किसान और असामी-ग़रीब किसान है। उपन्यास के अंत में बरगद वाली ज़मीन को लेकर एक ही समय इन दोनों वर्गों में विवाद तेज़ हो जाता है। लेखक गाँव के इतिहास के वर्णन में भी इस पर ज़ोर देता है कि शोषक वर्ग ने क्योंकर गरीबों को उत्पीड़ित किया। निस्संदेह नागार्जुन ज़मींदार—बड़े किसान और असामी-ग़रीब किसान, इन दो वर्गों के प्रतिद्वन्द के जरिये ग्रामीण जीवन का चित्रण करता है। उसका राजनीतिक दृष्टिकोण भी सुस्पष्ट है कि भूस्वामी-बड़े किसान के अत्याचार के विरुद्ध असामी-ग़रीब किसान के संघर्ष का समर्थन वह खुलेआम करते हैं।

3. गाँव पर अंग्रेज शासन का प्रभाव

"दु:खमोचन", "बलचनमा" और "मैला आँचल" की तुलना में "बाबा बटेसरनाथ" में गाँव पर अंग्रेज शासन के प्रभाव के बारे में सविस्तार चित्रण मिलता है। जैकिसुन के परदादे का जमाना इतिहास में साम्राज्यवाद का युग कहा जाता है, जो 16वीं शताब्दी के अंत से 20वीं के प्रारंभ तक चलता था। उस समय "बाबा बटेसरनाथ' के गाँव में भी अंग्रेज़ों ने आकर नील की एक कंपनी खोल दी। किसान लोग नील की खेती करने के लिए मजबूर किए गए। इसके फलस्वरूप पचास-पचपन वर्ष के बाद गोरा साहब अपनी ज़मीन बेचकर कलकत्ता चला गया, तब नील की खेती पीछे फायदे की नहीं रह गई। अतएव उस समय किसानों के ऊपर एक तरफ तो ज़मींदार का दबदबा, दूसरी तरफ अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद का दमन जम बैठा था।

फिर हमें गाँव वालों के प्रति अंग्रेज़ों के आचार पर ध्यान देना चाहिए। गोरे साहब के साले को सलाम न देने के कारण जैकिसुन का दादा बुरी तरह पिट गया। जो व्यवहार मानवतावाद के बिल्कुल खिलाफ था, वह बिना संकोच किया जाता था, "बाबा बटेसरनाथ"

में अंग्रेज बहादुर शब्द आता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि औपनिवेशिक युग में हिन्दुस्तानियों के दिल में अंग्रेज़ों के प्रति एक किस्म का भय होता था।

गाँव पर अंग्रेज शासन के असर पर विचार करने के लिए हम जो रेल पथ निर्माण नहीं भूल सकत, वह अकाल में किसानों के उद्धार के बहाने से सरकार की ओर से प्रोत्साहित किया गया। रानी विक्टोरिया के जमाने की बात थी। इस योजना का असली लक्ष्य अंग्रेज़ों के द्वारा व्यापारिक लाभ उठाने में था, किसानों के बचाव में कदापि नहीं। अनेक किसान अपने गाँव छोड़कर रेल पथ निर्माण में मशगूल होने लगे। वे कम-से-कम मजदूरी पर ज़्यादा-से-ज़्यादा काम करने पर विवश किए गए। सुना है कि आजकल भी बहुत कुछ अंग्रेज गर्व से कहते हैं कि वह तो अंग्रेज शासन था जिसने हिन्दुस्तान में रेल पथ का निर्माण किया। अगर वे लोग यह उपन्यास पढ़ें तो उन्हें कैसा लगेगा?

अंग्रेज शासन के बारे में इनके अतिरिक्त भी चित्रण मिलते हैं। उदाहरण के लिए, गाँव में उन लोगों की संख्या समय के साथ-साथ बढ़ती जाती थी जिन्हें अंग्रेज़ी आती थी और औपनिवेशिक काल में ब्राह्मण, राजपूत, भूमिहार जैसी बड़ी जाति वालों के कुछ लड़कों को फौज में जगह मिली थी।

इसी तरह लेखक ने "बाबा बटेसरनाथ" में गाँव पर अंग्रेज शासन के प्रभाव के अनेक पहलुओं का चित्रण किया है "बलचनमा" और "मैला आँचल" में स्पष्ट रूप से यह दृष्टिकोण दिखाई नहीं पड़ता है। लेखक का राजनीतिक दृष्टिकोण सुस्पष्ट है कि वह अंग्रेज राज के द्वारा गाँव में पहुँचाई गई हानियों पर दोषारोपण करता है। वे हानियाँ इस प्रकार हैं :- 1. पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली से उत्पन्न की गई किसानों की दुःख तकलीफ का एक उदाहरण नील कंपनी की चर्चा में मिलता है, 2. हिन्दुस्तानियों के प्रति अंग्रेज़ों का अपमानजनक और क्रूर व्यवहार से जैकिसुन के दादा का शिकार होना, 3. रेल पथ निर्माण, पाखंडी और धूर्त्त शासन आदि-आदि।

4. ग्रामीण जीवन के बारे में नागार्जुन के दृष्टिकोण की कुछ समस्याएँ

हमें आशा है कि उपर्युक्त विवेचन से ग्रामीण जीवन के बारे में नागार्जुन का आधारभूत दृष्टिकोण थोड़ा-बहुत स्पष्ट किया गया है। वह ज़मींदार, बड़े किसान और असामी-ग़रीब किसान इन दो वर्गों के प्रतिद्वन्द्व के जरिए से गाँव का चित्रण करता है, फिर औपनिवेशिक काल में अंग्रेज़ी साम्राज्यवादी शासन के द्वारा गाँव पर पहुँचाई गई हानियों पर भी ध्यान देता है। लेखक की जीवन यात्रा से भी इसमें संदेह नहीं है कि इस दृष्टिकोण का आधार मार्क्सवाद है।

यहाँ हम उस दृष्टिकोण की कुछ समस्याओं पर विचार करेंगे। लेखक के उपन्यास में जो श्रेणियाँ आती हैं वे ज़मींदार, छोटा ज़मींदार (यह श्रेणी "बलचनमा" में मिलती है वह न तो

ज़मींदार है और न तो बड़े किसान) देना चाहिए। क्या उन्हें गाँव में दलित वर्ग के रूप में एकत्र करना संभव है? फणीश्वरनाथ रेणु कृत "मैला आँचल" के गाँव में प्रभावशाली ये तीन टोले आते हैं- राजपूत, यादव और कायस्थ। इनके अलावा ब्राह्मण, धानुक और संथाल (एक आदिम जाति) वगैरह अनेक जातियाँ मिलती हैं। अस्पताल की स्थापना के बारे में हरेक टोले के भिन्न-भिन्न विचार थे और सारा गाँव अनायास एकमत नहीं हो गया। प्रत्येक टोला अलग-अलग पार्टी का समर्थन करता था। इसी तरह गाँव में श्रेणियों की संरचना इतनी जटिल से जटिल है कि हम गाँव के साधारण लोगों को या असामी-ग़रीब किसानों को दलित वर्ग के रूप में एकत्र नहीं कर सकते।

लेखक ने "बाबा बटेसरनाथ", "बलचनमा" और "दु:खमोचन" में हरिजनों और आदिम जातियों के बारे में बहुत ही कम लिखा। लेकिन वे गाँव की निम्नतम श्रेणियाँ हैं और उनके जीवन की दशा साधारण ग़रीब किसानों से और भी दयनीय है। जैसे हम पहले कह चुके हैं कि "मैला आँचल" में दफ़ा 44 के बाद ज़मींदार, बड़े किसान असामी-ग़रीब किसान की ज़मीन जब्त करने लगे। अवश्य असामियों और ग़रीब किसानों की ओर से प्रतिक्रिया तेजीज़ी से छिड़ गई। फिर भी जब ज़मींदार संथालों को खेत से बेदखल करने लगा तब गाँव वालों ने मिलकर उसकी सहायता की। संथालों और गाँव के अन्य लोगों के बीच भीषण लड़ाई हुई। बहुत से संथालों की हत्या की गई और उनकी बस्ती लूटी गई। संथाल और अन्य ग़रीब किसान, दोनों गाँव के दलित वर्ग के लोग हैं। क्यों उन्होंने एक होकर ज़मींदार के प्रति मोर्चा नहीं बाँधा? इसमें शक नहीं कि दलित वर्ग के अंदर भी तरह-तरह की श्रेणियाँ हैं।

इसी तरह नागार्जुन जिन साधारण गाँव वालों के अंतर्गत बहुत-सी श्रेणियाँ, उनके आपस में प्रतिद्वन्द, अवांछनीय कलंक और कमज़ोरियों की उपेक्षा जान-बूझ कर करता है, उलटे उन्हें असामी-ग़रीब किसान या दलित वर्ग के रूप में एकत्र करता है। इससे उनका राजनीतिक दृष्टिकोण स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि गाँव में दलित वर्ग को संगठित होकर शासक के प्रति संग्राम करना चाहिए तथा किसी दिन साधारण जनता का स्वर्ण युग ज़रूर आएगा। उनके उपन्यास का उद्देश्य हिन्दुस्तान की सामाजिक कुप्रथाओं और कमजोज़ोयों को दूर करके समाज की उन्नति के लिए योगदान देने में है। लेखक का यह दृष्टिकोण आदर करने योग्य है। परंतु ठीक इसीलिए ऐसा प्रतीत होता है कि उसके उपन्यास आदर्शवादी हैं और राजनीतिक अर्थ में ज़्यादा प्रचारक है। हमें वे कभी-कभी अवास्तविक भी लगते हैं।

नागार्जुन ने "बाबा बटेसरनाथ" में जाति व्यवस्था के संदर्भ में कम लिखा है। बेशक इसका मुख्य कारण लेखक का उपर्युक्त राजनीतिक दृष्टिकोण है जिसमें असामी ग़रीब किसान की वर्गीय एकता पर अधिक बल दिया जाता है। लेखक मार्क्सवादी हैं, पर क्या भारतीय ग्रामीण जीवन का चित्रण करते हुए भी जाति-पाँत पर महत्त्व नहीं देना मार्क्सवाद के मौलिक सिद्धांत के खिलाफ नहीं होगा? क्योंकि मार्क्सवाद के अनुसार अनेक तत्त्व में से उनकी

समानता निकालने के साथ-साथ हरेक तत्त्व के विशिष्ट पहलू या उसके भेद पर भी ध्यान देना चाहिए। गाँव के लोगों में हम असामी-ग़रीब किसान या दलित वर्ग नामक एक समान वर्ग देखते हैं। किंतु उस समान वर्ग के अंतर्गत हरेक तत्वों पर ध्यान देना चाहिए। हम उसे श्रेणी मान सकते हैं। दलित वर्ग नामक समान वर्ग में हरेक तत्त्व अर्थात् श्रेणी का भेद होने का मुख्य कारण जाति-व्यवस्था में है। "मैला आँचल" के संथाल की घटना हम बिना जाति-पाँत पर विचार किए नहीं समझ सकते। अगर लेखक जाति-व्यवस्था के मामले में भी वर्णन करता तो "बाबा बटेसरनाथ" हमें और भी रोचक लगता।

यह सही बात है कि लेखक का दृष्टिकोण आदर करने के योग्य है, मगर वह अपने राजनीतिक दृष्टिकोण और विचारधारा पर इतना ज़ोर देता है कि उसका चित्रण कहीं-कहीं अधिक आदर्शवादी और प्रचारक है।

परिशिष्ट 1

गत वर्ष जापान में प्रकाशित भारतीय साहित्य एवं भारतीय भाषा संबंधी निबंधों की सूची। (सन् 1980 से जून, 1981 तक)

1. श्री तेइजि साकाता, "उत्तर भारत की लोककथाओं में ढाँचेदार कथाएँ", 'ताकुशोकु दाइगाकु रोनशू', अंक 129 व 130, 1980.
2. श्री तेइजि साकाता, (संकलन व अनुवाद), "उत्तर भारत की लोककथाएँ", हिराकवा शुप्पनशा, 1981.
3. श्री हिदेआकि इशिदा, "दलित साहित्य", "महाराष्ट्र", अंक 3, 1980.
4. श्री तोमिओ मिज़ोकामि, "पंजाबी व्याकरण", एशिया-अफ्रीकी व्याकरणमाला : 13, 1981.
5. श्री कोकि नागा, "प्रेमचन्द जन्मशती के अवसर पर-प्रेमचन्द और उनके साहित्य", कोमेइ शिनबुन,1980.
6. श्री कोकि नागा, (संकलन व अनुवाद), "भारतीय लोककथाएँ", फुकुइन शोतेन, 1981.
7. श्री कात्सुहिको कामिमुरा, "भारत की पौराणिक कथाएँ", तोक्यो शोसेकि, 1981.
8. श्री तेइजि साकाता, "भारत के नगरों के कुछ मंदिरों व वेदियों पर एक विचार", "यू० पी०", यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन 1980.
9. श्री कात्सुरो कोगा, "राजस्थानी लोककथाओं में चरित्र: एक अध्ययन", "सेकाइ कोशो बुनगे केंक्यू", 1981.
10. तात्सुओ मोरिमोतो आदि, (अनु०), "रवीन्द्रनाथ ठाकुर ग्रंथावली 8", दाइसान बुन् मेइशा, 1981.
11. काज़ुओ मोरिमोतो, (सं०) "टैगोर" कोदनशा, 1981.
12. श्री कोकि नागा, "हन्दुस्तानी मुहान", जियूकोकुमिनशा, 1980.
13. श्री तेइजि साकाता, "हिंदी का वाक्य विन्यास - एक लोक कथा के उदाहरण पर आधारित प्रारम्भिक अध्ययन", "गोगाकु कॅक्यू, 1980.
14. श्री तेइजि साकाता, "जापान में मध्यकालीन भक्ति साहित्य का अध्ययन" (अंग्रेज़ी में), "Early Hindi Devotional Literature in Current Research", 1980.

परिशिष्ट 2

इस अंक के लेखक एवं लेखिकाएँ

1. सुश्री तामाकि मात्सुओका, संपादिका- मासिक पत्र "इन्दो त्सूशिन", 20-8, शिमो 2 च्योमे, किता-कु, तोक्यो, जापान
2. सुश्री एदेरा कोदामा, ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय छात्रा, 15-42 निशि ओकामोतो 2 च्योमे, हिगाशि नादा-कु, कोबे-शि, ह्योगो केन, जापान
3. सुश्री मिकि कावामुरा, ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय छात्रा, 51-2 आगेशिओ-ज्यो 3- च्योमे, मिनामि कु. ओसाका-शि, ओसाका, जापान
4. श्री तोमिओ मिज़ोकामि, असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग, ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, 2-6 गोतेनयामा 2 च्योमे, ताकाराजुका-शि, ह्योगो केन, जापान
5. श्री शिगेओ अराकि, जापान अफ्रो-एशिया लेखक संघ सदस्य, 249-7 मोमुरा, इनागिशि तोक्यो, जापान
6. श्री आकिरा ताकाहाशि, दिल्ली विश्वविद्यालय छात्र, कमरा नं० 106, जुबिली हाल, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत
7. श्री यूइचिरो मिकि, ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय छात्र 157-1 गेइन, मिनो-शि, ओसाका, जापान

परिशिष्ट 3

विशेष सहयोगी

1. श्री मासुओ त्सुजिमुरा, (आवरण-पृष्ठ डिज़ाइन) 4-5 हिगाशि कानामाचि 4 च्योमे, कात्सुशिका-कु, तोक्यो, जापान
2. श्री कैलाशचंद्र पाण्डे, वाई-81 हौज खास, नई दिल्ली, भारत

(तीसरे अंक का) संपादकीय

योशिअकि सुज़ुकि

"ज्वालामुखी" का तीसरा अंक आप के हाथ में है। जापानी लोगों द्वारा लिखित हिंदी के बारे में इस बीच हमें काफ़ी कुछ सुझाव मिलते रहे हैं हम स्वयं भी महसूस करते हैं कि हिंदी में निबंध लिखना हम लोगों के लिए कोई आसान काम नहीं है। साधारण जापानी लोगों के लिए विदेशी भाषा लिख पाना या बोल पाना आसान काम नहीं है। पर इसका मतलब यह भी नहीं है कि जापानी विदेशी भाषा नहीं सीखते। हम ज़रूर विदेशी भाषा सीखते हैं पर न जाने क्यों हमें बोलना और लिखना भली प्रकार नहीं आ पाता। इसका सबसे बड़ा दोष शायद जापानी शिक्षा पर ठहरता है। जापान में विदेशी भाषा शिक्षण में व्याकरण और अनुवाद पर ही अधिकतर बल दिया जाता है और दूसरे, व्यवहार में जापान में केवल जापानी भाषा ही बोली जाने के कारण विदेशी भाषा बोलने की आवश्यकता ही महसूस नहीं होती। इस प्रकार के वातावरण में हम कैसे जीवित विदेशी भाषा सीख सकते हैं? हमारे देश में हिंदी का शिक्षण भी इसका अपवाद नहीं है। जापान में हमारे हिंदी प्रेमी हिंदी सीख रहे हैं, व्याकरण सीखने के बाद लोककथाओं या कहानियों का अनुवाद करते हैं अर्थात् किताबी हिंदी सीख रहे हैं। इसलिए मूल हिंदी लिखने में बड़ी कठिनाई होती है। बाएँ हाथ में शब्द कोश, दाएँ हाथ में कलम पकड़ कर मुश्किल से शब्द कोश में से शब्द चुनकर निबंध लिखते हैं, चाहे इस शब्द का सही प्रयोग भी न आता हो। मेहनत का काम है। पर हमारे कुछ निबंधकार उच्चकोटि की हिंदी लिखते हैं। यह बहुत प्रशंसनीय है फिर भी यह पत्रिका केवल उन्हीं लोगों के लिए ही नहीं, वरन् सभी हिंदी प्रेमियों के लिए है। क्योंकि मुझे दृढ़ विश्वास है कि केवल उच्च कोटि की हिंदी ही अच्छा निबंध नहीं, बल्कि सरल हिंदी में भी अच्छा निबंध लिखा जा सकता है। हिंदी निबंध का अर्थ गहन हिंदी लिख लेना भर ही नहीं, बल्कि महत्त्वपूर्ण यह है कि हिंदी में निबंधकार क्या लिखना चाहता है। इसी कारण से मैं सदा सभी प्रकार के हिंदी निबंधों का स्वागत करता हूँ। जो इस पत्रिका में उच्च कोटि की हिंदी में लिखे गए निबंधों से लेकर बिल्कुल सरल हिंदी में लिखे गए निबंधों का समावेश आपको देखने को मिलेगा।

जैसा कि मैं लिख चुका हूँ कि जापानी लोगों के लिए विदेशी भाषा सीखना आसान काम नहीं। अंग्रेज़ी भी इसका अपवाद नहीं। अगर पाठकगण जापान पधारेंगे तो आपको जापान में बहुत से अंग्रेज़ी शब्द सुनने और देखने को मिलेंगे और आप शायद सोचेंगे कि जापानी लोग अंग्रेज़ी बोल सकते हैं। मगर आप अंग्रेज़ी में बोलेंगे तो अधिकांश जापानी आपकी भाषा नहीं समझ पाएँगे। तब शायद आपको खीझ हो कि इन जापानी लोगों को अंग्रेज़ी नहीं आती, इतने

विकसित देश में अंग्रेज़ी जैसी अंतर्राष्ट्रीय भाषा तक नहीं चलती। हाँ, अंग्रेज़ी अंतर्राष्ट्रीय भाषा अवश्य है पर अपने देश में अंतर्राष्ट्रीय भाषा की क्या आवश्यता है? भारत में भाषा समस्या को लेकर हमें कभी-कभी यहाँ तक सुनने को मिलता है कि अंग्रेज़ी अंतर्राष्ट्रीय भाषा है इसलिए हिंदी से बेहतर है। पर क्यों अपनी भाषा की उपेक्षा करके अंतर्राष्ट्रीय भाषा की प्रशंसा की जाती है? जो आदमी अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करते हैं उनके लिए अंतर्राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता ज़रूर है पर साधारण जनता के लिए अंतर्राष्ट्रीय भाषा की क्या आवश्यकता है? अंग्रेज़ी अंतर्राष्ट्रीय भाषा तो है पर इस अंतर्राष्ट्रीय भाषा का प्रयोग भारतीय स्वयं भारत में ही कर रहे हैं। इस प्रकार के भाषाई वातावरण में जब तक अंग्रेज़ी को महत्त्व दिया जाता रहेगा तब तक शायद भारत की अन्य भाषाओं की उपेक्षा ही होती रहेगी।

जापान में हिंदी शिक्षण की समस्याएँ

तोमिओ मिज़ोकामि

(1) अध्ययन-अध्यापन का संक्षिप्त इतिहास[1]

जापान में हिंदी अध्ययन-अध्यापन के दो केंद्र हैं--तोक्यो विदेशी भाषा विश्वविद्यालय तथा ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय--दोनों सरकारी विश्वविद्यालय हैं। तोक्यो विदेशी भाषा विश्वविद्यालय का निर्माण लगभग अस्सी वर्ष पहले तथा ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय का निर्माण लगभग साठ वर्ष पहले हुआ था। परंतु द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति से पूर्व ये दोनों विश्वविद्यालय इंटरमीडिएट कॉलेज स्तर के त्रिवर्षीय कोर्स के 'विद्यालय' मात्र थे, जिनमें विश्व की विभिन्न विदेशी भाषाओं का अध्ययन (कम) अध्यापन (अधिक) होता था। भारतीय भाषा विभाग दोनों विद्यालयों में लगभग प्रारंभ से ही मौजूद था, परंतु वहाँ हिंदी का अध्यापन नहीं होता था, बल्कि 'हिन्दुस्तानी' के नाम से आसान उर्दू ही पढ़ाई जाती थी। जो भारतीय अध्यापक पढ़ाने के लिए बुलाए जाते थे अधिकतर हिंदू होते थे। इसलिए उर्दू से कोई धार्मिक भाव संबद्ध नहीं था। यह 'भाषा शिक्षण' की दृष्टि से भले ही सही भी था, पर भाषा के साथ उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को काटा गया। परिणामतः छात्र भारतीय संस्कृति के साथ गहराई से परिचित नहीं हो सके। जिज्ञासु छात्र इस बात से संतुष्ट नहीं थे। तोक्यो और ओसाका में इस हिन्दुस्तानी के प्रवर्तक थे- क्रमशः प्रो० रेइचि गामो तथा प्रो० एइज़ो सावा। दोनों उर्दू के साथ फ़ारसी भाषा में भी निपुण थे।

उल्लेखनीय है कि उक्त हिन्दुस्तानी विभाग में सहायक या ऐच्छिक भाषा के रूप में समय-समय पर तोक्यो में तमिल का तथा ओसाका में अरबी या फ़ारसी का अध्यापन भी होता था।

द्वितीय महायुद्ध के बाद इन दोनों विद्यालयों को विश्वविद्यालय का स्तर प्रदान कर दिया गया और चार कक्षाओं की व्यवस्था के साथ बी०ए० की उपाधि भी प्रदान की जाने लगी, परंतु विभाग तथा अध्यापक वही रहे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जब भारत ने हिंदी को राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्वीकृत किया तब से इन दोनों विश्वविद्यालयों में धीरे-धीरे हिंदी का महत्त्व बढ़ने लगा परंतु हिंदी के अध्यापक की नियुक्ति में अभी कुछ समय की आवश्यकता थी। ऐसी हालत में उर्दू पढ़े हुए छात्रों से ही हिंदी के विशेषज्ञ बनने की आशा की जा सकती थी। प्रो० क्यूया दोई ही हिंदी के ऐसे पहले विशेषज्ञ बने। उन्होंने हिंदी का अध्ययन पहले-पहल वर्मा में स्वयं शिक्षक के रूप में प्रारंभ किया था जब वे द्वितीय महायुद्ध के समय सेना में भर्ती होकर वहाँ गए थे। सन् 1949 के बाद प्रो० दोई अपने तोक्यो विदेशी भाषा विश्वविद्यालय में उर्दू

पढ़ाते हुए हिंदी का अध्ययन श्रीमती रत्नम् के नेतृत्व में करते रहे जिनके पति तोक्यो स्थित भारतीय दूतावास के प्रथम सचिव थे। सन् 1953 में उनको दो साल के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिंदी का अध्ययन करने का अवसर मिला। सन 1955 में हिंदी विषय में पारंगत होकर जापान वापस आने पर वे हिन्दुस्तानी (उर्दू) विभाग से अलग हिंदी विभाग को स्थापित करने में जुट गए और उनका यह प्रयत्न सन् 1959 में सफल हो गया। विभाग का नाम भी 'हिन्दुस्तानी विभाग' से 'भारत-पाकिस्तान विभाग' में परिवर्तित किया गया। वैसे हिंदी तथा उर्दू' संपूर्ण रूप से अलग-अलग विभाग न होकर इसी 'भारत-पाकिस्तान विभाग' के दो अलग कोर्स (उपविभाग भी कह सकते हैं) बने। तब से हिंदी और उर्दू के लिए पंद्रह-पंद्रह सीटों की परंपरा चली आ रही है।[2]

प्रो० दोई के हिंदी के प्रथम छात्र के रूप में प्रो० तोशिओ तानाका का नाम उल्लेखनीय है जो प्रो० दोई के अवकाश ग्रहण करने के बाद वर्तमान काल में उक्त हिंदी उप-विभाग के अध्यक्ष के रूप में कार्यरत हैं। उन्होंने सन् 1965 से सन् 1967 तक दिल्ली विश्वविद्यालय में हिंदी का अध्ययन किया। आधुनिक हिंदी साहित्य उनका विषय है। प्रो० काज़ुहिको माचिदा इस समय जापान में हिंदी के कनिष्ठ अध्यापक हैं। उन्होंने सन् 1979 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सीधे हिंदी में एम०ए० किया। तब तक उक्त विश्वविद्यालय में भी एम०ए० का कोर्स शुरू हुआ था, अतः प्रो० माचिदा ने अपने तोक्यो विदेशी भाषा विश्वविद्यालय से भी एम०ए० किया। भाषा विज्ञान और काव्य शास्त्र उनके विषय हैं। इस विश्वविद्यालय से संबद्ध 'एशिया तथा अफ्रीका भाषा संस्कृति संस्थान' में भारतीय आर्य भाषाओं का ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन करने वाले डॉक्टर त्युयोशि नारा का नाम भी उल्लेखनीय है। वे बंगला के साथ हिंदी पर भी शोध कार्य करते हैं।

ओसाका में उक्त प्रो० एइज़ो सावा स्वयं उर्दू के साथ हिंदी भी पढ़ाते थे, उर्दू की कक्षा में 'मैदान-ए-अमल' तथा हिंदी की कक्षा में 'कर्मभूमि' पढ़ाते थे। उन्होंने सन् 1948 में 'हिंदी प्रवेशिका' नामक पुस्तक लिखी थी। यह जापान में देवनागरी में लिखी गई प्रथम हिंदी की पुस्तक के रूप में प्रसिद्ध है। इस किताब के अलावा भी उन्होंने कई किताबें लिखी थीं। उनमें से सबसे मोटी और विख्यात किताब थी— 'इन्दोबुन्तेन', जिसमें संपूर्ण हिंदी व्याकरण का परिचय विस्तार से दिया गया है। हिंदी के प्रति विशेष प्रेम होने पर भी प्रो० सावा का अधिकार उर्दू पर अधिक था। अतः इस विश्वविद्यालय में भी हिंदी-उर्दू उप-विभाग विभाजन के बाद ही हिंदी के विशेषज्ञ बनने लगे। ऐसे ही विशेषज्ञ प्रो० कात्सुरो कोगा, जो आजकल इसी भारत पाकिस्तान विभाग' के अध्यक्ष हैं, प्रो० दोई के अवकाश ग्रहण करने के बाद इन दो विदेशी भाषा विश्वविद्यालयों (तोक्यो तथा ओसाका) में हिंदी के वरिष्ठतम अध्यापक है। उन्होंने सन् 1961 से सन् 1963 तक पिलानी तथा आगरा में, फिर सन् 1975 से 1976 तक केंद्रीय हिंदी संस्थान, नई दिल्ली में हिंदी का अध्ययन किया। हिंदी गद्य का इतिहास, लोक साहित्य,

भाषा विज्ञान में उनका गहरा ज्ञान है। इस समय वे नवीन हिंदी जापानी शब्दकोश के निर्माण में लगे हुए हैं। विख्यात भारतीय भाषाविद् डॉक्टर नोरिहिको उचिदा, जो दिल्ली विश्वविद्यालय तथा जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में जापानी भाषा के अध्यापक रह चुके हैं, सन् 1960 से सन् 1963 तक इसी ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय में हिंदी तथा बंगला के अध्यापक रहे। दिल्ली से प्रकाशित 'हिंदी फ्रॉनोलोजी' उनकी अन्यतम प्रसिद्ध पुस्तक है। प्रस्तुत प्रपत्र लेखक (तोमिओ मिज़ोकामि) इन दो अध्यापकों का छात्र रहा, जिसने भारत में इलाहाबाद, शांतिनिकेतन तथा दिल्ली में शिक्षा प्राप्त की। इसलिए लेखक का संबंध केवल हिंदी से न होकर बंगला तथा पंजाबी के साथ भी है और वह भाषा विज्ञान में विशेष रुचि रखता है।

विश्वविद्यालय का स्तर प्राप्त होने के उपरांत इन दो संस्थाओं में अध्यापन के साथ-साथ अध्ययन तथा शोध कार्य पर भी विशेष ज़ोर दिया जाता है और भाषा-शिक्षण के साथ साहित्य तथा भारतीय संस्कृति का भी परिचय कराया जाता है। भारतीय इतिहास, भारतीय दर्शन, भारत की आर्थिक व्यवस्था आदि विषयों पर अपने यहाँ विशेषज्ञ न होने के कारण दूसरे विश्वविद्यालयों से विशेषज्ञों को बुलाकर छात्रों को इन विषयों से अवगत कराया जाता है। परंतु ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय के प्रो० शो कुवाज़िमा इन दो विश्व विद्यालयों में ऐसे प्रथम अध्यापक हैं, जिनका संबंध सीधे हिंदी से न होकर भारतीय संस्कृति से है। वे आधुनिक भारतीय इतिहास के विशेषज्ञ के रूप में सन् 1966 में इसी विभाग में नियुक्त हुए। उन्होंने एक लंबी अवधि तक दिल्ली, चंडीगढ़ तथा बंगलौर में शोध कार्य किया। ओसाका में तोक्यो से अध्यापकों की संख्या ज़्यादा होने के कारण छात्रों की संख्या भी कुछ ज़्यादा है। यहाँ हिंदी के लिए अट्ठारह सीटें हैं।

प्रो० दोई ने जापान में हिंदी अध्ययन-अध्यापन का श्रीगणेश किया। उन्होंने हिंदी जापानी शब्द कोश का निर्माण कर जापान के हिंदी जगत को बड़ा योगदान दिया, परंतु उनकी देन यहीं तक सीमित नहीं थी बल्कि उन्होंने अपने छात्रों में से ऐसे विद्वान् तैयार किए, जो आजकल जापान के विभिन्न विश्वविद्यालयों में विभिन्न भारतीय विषयों का अध्ययन-अध्यापन करते हैं। उनमें से प्रो० तेइजि साकाता का नाम उल्लेखनीय है, जो आजकल तोक्यो स्थित एक प्राइवेट यूनिवर्सटी--ताकुशोकु विश्वविद्यालय के अध्यापक हैं। भाषा विज्ञान, लोक साहित्य का संकलन तथा हिंदी साहित्य का इतिहास आदि विषयों पर उनके शोध प्रबंध प्रकाशित होते रहते हैं।

तोक्यो तथा ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालयों में हिंदी अध्ययन-अध्यापन के स्तर को ऊँचा बनाने में भारतीय अध्यापकों का योगदान भी कम नहीं रहा है, जिनमें कुछ विशेष भारतीय अध्यापक डॉक्टर लक्ष्मीधर मालवीय, श्री श्यामसुंदर जोशी, श्रीमती इन्दु जैन तथा कु० बुद्धी राजा इत्यादि हैं।

इन दो विदेशी भाषा विश्वविद्यालयों के अलावा भी गत दस-पंद्रह वर्षों में ऐसे विश्वविद्यालयों को संख्या बढ़ी है जहाँ हिंदी की पढ़ाई की सुविधा है। उक्त ताकुशोकु विश्वविद्यालय के बाद तोकाई विश्व विद्यालय ऐसी प्राइवेट यूनिवर्सिटी है जिसमें हिंदी के कुछ विद्यार्थी हैं। प्रो० दोई आजकल इसी विश्वविद्यालय में पढ़ाते हैं। संस्कृत तथा भारतीय दर्शन (जिसमें बौद्ध दर्शन के अध्ययन का विशेष रूप से प्रबंध है) के उच्चकोटि के अध्ययन केंद्र के रूप में तोक्यो विश्वविद्यालय तथा क्योतो विश्वविद्यालय की ख्याति है। इन दो विश्वविद्यालयों में हिंदी को बहुत पहले से एक वैकल्पिक विषय के रूप में पढ़ाया जाता रहा है, यहाँ प्रति वर्ष दो-तीन विद्यार्थी हिंदी पढ़ने आते हैं। कुछ साल पहले से निम्नलिखित प्राइवेट यूनिवर्सिटियों में भी हिंदी की पढ़ाई ऐच्छिक विषय के रूप में चल रही है - ताइशो विश्वविद्यालय, ओतानि विश्वविद्यालय, ओत्तमोन गाकुइन विश्वविद्यालय तथा कान्साई विदेशी भाषा विश्वविद्यालय। कान्साई विदेशी भाषा विश्वविद्यालय में हिंदी पुस्तकों का अच्छा संग्रह है। इस विश्वविद्यालय में हिंदी पठन-पाठन का कार्य-भार संभालने वाले डॉक्टर रमेश माथुर हैं। इस प्रकार जापान में इस समय कुल मिलाकर दस विश्वविद्यालयों में हिंदी पढ़ने-पढ़ाने की सुविधा उपलब्ध है और अनुमान किया जा सकता है कि हिंदी पढ़ने वाले छात्रों की संख्या 150 से ज़्यादा होगी।

विश्वविद्यालय के अलावा भी प्राइवेट संस्थान में या निजी तौर पर हिंदी की सेवा करने वाले व्यक्ति भी हैं, जिनमें 'ज्वालामुखी' के संपादक श्री योशिअकि सुज़ुकि भी हैं। 'सर्वोदय' के अनुयायी श्री कोकि नागा एशिया-अफ्रीका भाषा विद्यालय (तोक्यो स्थित एक प्राइवेट संस्थान) में हिंदी पढ़ाते हैं। उनके सहयोगी डॉक्टर नरेश मंत्री हैं। श्री हिदेआकि इशिदा एक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय में अंग्रेज़ी का अध्यापन करते हुए हिंदी तथा मराठी के शोध कार्य में रत हैं। इस प्रकार से हिंदी पढ़ने वाले विद्यार्थियों को तथा हिंदी पर शोध-कार्य करने वाले विद्वानों की संख्या तेज़ी से बढ़ रही है और बढ़ती जाएगी।

(2) कठिनाइयों के उदाहरण

जापान में हिंदी सीखने वाले छात्रों को भाषा की दृष्टि से कतिपय कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। परीक्षा भवन में विद्यार्थी जिस प्रकार की भूल करते हैं उनके उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय के पहली कक्षा से चौथी कक्षा तक के हिंदी के विद्यार्थियों की अभिव्यक्ति क्षमता की परीक्षा ली। उनको संवादहीन हास्यचित्र (कार्टून) दिखाया गया, जिसके छः भाग हैं :-

पहले भाग में दोनों बच्चों में मार-पीट हो रही है।

दूसरे भाग में एक बच्चा रोता हुआ अपने पिता के पास आता है।

तीसरे भाग में रोते हुए बच्चे का पिता अपने बेटे को लेकर जा रहा हैं तो उधर से दूसरा बच्चा भी अपने पिता को लेकर आ रहा है।

चौथे भाग में एक दूसरे के बच्चे को दोषी ठहराते हुए दोनों पिताओं में प्रतिवाद शुरू होता है।

पाँचवें भाग में दोनों पिताओं में मार-पीट हो जाती है।

छठे भाग में दोनों पिताओं का झगड़ा उग्रतम रूप धारण करता है, पर दोनों बच्चे फिर खेलने लग जाते हैं।

छात्रों को इस चित्र की व्याख्या हिंदी में अपने शब्दों में लिखने का आदेश दिया गया। शब्दों की संख्या तथा अभिव्यक्ति पर कोई पाबंदी नहीं लगाई गई परंतु शब्दकोश तथा पुस्तक की सहायता का निषेध किया गया और आधे घंटे का समय दिया गया। नीचे दिए गए उदाहरणों में कोष्ठक की संख्या उस छात्र की कक्षा को सूचित करती है।

(1) लिंग की अशुद्धियाँ :

दूसरे की कपड़ा (1), बड़े आँखें (1), उनका लड़ाई (1), अपना बात (1), लड़ाई के जगह (1) मेरा जीत (1), बच्चों के बात (1), बच्चों ने ध्यान नहीं दी (1), पिता लड़ाई लड़ रही थी (1), पिता जी के लड़ाई (2), दोस्ती हुआ (2), देर हो गया (2), बुरा-सूरत चीज़ (2), शिकायत करना चाहिए (2) मेरा पाप नहीं थी (3), हारने का वजह (3), मेरी दिल (3), उनका हालत (3), अपनी मित्र (3), शत्रु की मुँह (3), दूसरे बच्चों का निंदा (3), उसकी मुँह से (4), मार-पीट शुरू हुआ (4), लड़ाई के बात (4), कैसा शिक्षा (4)।

(2) वचन की अशुद्धियाँ :

दूसरे बच्चे भी अपने पिता जी के साथ आया था (1), दो बड़े के बीच में (1), दोनों बच्चा (1), दो बच्चा खड़ा था (1), घंटे बीत रहा है (1), दो लड़के के साथ खड़ा होते हुए (2), सभी बात (2), दोनों लड़के पहुँचा (2), दो बच्चे खड़ा होकर (3), दूसरे लड़का (3), इस बच्चे के घर कहाँ है? (3), अपने बच्चा (3)।

(3) वर्तनी की अशुद्धियाँ :

पुरुषों (1), ड़लाई (1), सचमच (1), शत्रों (1), घानीष्ठ मित्र (1), मालम (1) चाहुता हू (1), भुल गया (1), शमील (1), तुमहारा (1), नराज (1) दुसरे (1), बच्छा ('बच्चा' के लिए) (2), दुन्या (2), छपछाप (2), जब (2), लेकल ('लेकर' के लिए) (2), क्षामा (3), अंसुन (3), बुला ('बुरा' के लिए) (3), जगला ('झगड़ा' के लिए) (3), जगड़ा (वही) (3), तकावत

(‘ताकतवर’ के लिए) (3), जोड़ (‘ज़ोर’ के लिए) (3), कंडकों (‘कंकड़ों’ के लिए) (4), सन्कर (‘सुनकर’ के लिए) (4)।

(4) परसर्ग की अशुद्धियाँ :

आपस में पकड़ने लगे (1), बड़े आँखों में से देख लिए (1), लड़के साथ के साथ (1), पिता जी को आपस में नाराज़ थे (1), पिताजी को नाराज़ हो गए थे (1), दूसरे पर मार दिया (1), उसका पिता जी (1), बोलने कि कोशिश की (1), देखना को बंद किया (1), बड़ों आने की कहानी थी (1), अपने बच्चों का रोते हुए देखकर (2), पिता जी बिगड़ते को देखने में थक गए (4), आँसुओं पोंछते-पोंछते (4)।

(5) जापानी शैली की हिंदी :

व्याकरण की दृष्टि से चाहे अशुद्ध न हो, पर जापानियों द्वारा लिखे गए हिंदी वाक्यों पर यत्र-तत्र जापानी का प्रभाव पाया जाना स्वाभाविक है। इसका कारण है- जापानी भाषा में सोचकर सीधे हिंदी में रूपांतरित करना। यद्यपि कभी-कभी इसका प्रमाण देना कठिन है, क्योंकि इस तरह की शैली छात्रों के अभ्यास के अभाव के कारण भी हो सकती है। इस प्रकार की ‘जापानी शैली की हिंदी’ के उदाहरण नीचे दिए जाएँगे :-

कारण सुने (पूछे’ के लिए) (1), कह झगड़ने लगे (1), कम बातें के लिए (1), हत्या किया गया बच्चा (1), चुकने के समय तक खेलेंगे (1), इधर से आने वाले वह बच्चा और उसके पिता जी थे (1), शक्ति से (‘ज़ोर से’ के लिए), उनकी लड़ाई कठिन बन रही है (1), उनका झगड़ा बहुत कठिन होता है (1), रुचि की आँखों से देख रहे हैं (1), नया शत्रु हो जा रहे थे (2), जी तोड़कर लड़ रहे थे (2), छोटे दो लड़के (2), झगड़े में जय किया है (3), हाथ-पैर हिलाकर लड़ रहे हैं (3), मेरा पाप नहीं थी (3), वे तो हमेशा मित्रता में हैं (3), पिता जी बिगड़ना रुक कर के अपने अपने घर लौट जायें (3), पिता जी मुँह लाल करके (3)।

समय की असुविधा इत्यादि कारणों से सभी छात्र यह परीक्षा नहीं दे पाए। जिन छात्रों ने यह परीक्षा दी, उनकी संख्या इस प्रकार है :-

पहली कक्षा	16
दूसरी कक्षा	15
तीसरी कक्षा	9
चौथी कक्षा	5
कुल -	45

यह संख्या हिंदी के छात्रों की कुल संख्या की लगभग 65 प्रतिशत है।

जब सभी छात्रों को यही उत्तर-पुस्तिका फिर घर से लिखकर लाने का आदेश दिया गया तो लगभग सभी छात्रों ने बड़ी उन्नति दिखाई क्योंकि घर में समय की कोई पाबंदी नहीं थी और वे शब्दकोश भी देख सकते थे। ऐसे ही छात्रों में से चौथी कक्षा के एक छात्र द्वारा लिखी गई व्याख्या नीचे ज्यों-की-त्यों प्रस्तुत की जाएगी। यह सबसे अच्छा लेख था :-

(1) दो बच्चे मार-पीट कर रहे थे। वे मन्नू और अन्नू थे। दोनों छह साल के लड़के और पाठशाला में सहपाठी थे। जैसे बच्चों की दुनिया में बहुत से दोस्त अपनी घनिष्ठता के कारण ही अक्सर झगड़ा करते हैं वैसे ही मन्नू और अन्नू थे।

(2) अन्नू कमज़ोर था और हारकर रोते-रोते अपने घर लौटा। उसने आँसुओं पोंछते हुए हिचकियाँ लेकर अपने बाप से कहा, "पापा, मन्नू तो बहुत शैतान है। मैंने उससे कुछ नहीं किया, न कहा। फिर उसने अकारण मुझे बुरी तरह पीटा और लातें मार दीं। उसे बदला न दे सकूँ तो मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता। मन्नू को खूब डाँट दो, उसे सख्त सज़ा मिलना चाहिए।"

(3) बाप ने कहा, "अच्छा बेटा, मैं अभी तक नहीं जानता था कि मन्नू इतना नटखट है। उसका पापा और मैं पुराने दोस्त हैं। मैं उसे अपने उपद्रव के बारे में चेतावनी दूँगा। मन्नू बचपन से ही इतना शैतान है कि आगे कैसा दुष्ट आदमी हो जाए। चिंता करने की बात नहीं। मैं अभी जाऊगा, तुम भी साथ आओ।" वह अन्नू के हाथ खींचकर चलने लगा। तो क्या बात, मन्नू का पापा भी अपने बेटे के साथ इधर आ रहे थे।

(4) रास्ते पर उन चारों की मुलाकात हुई। अन्नू के बाप और मन्नू के बाप आपस में गाली देने लगे। "तुम्हारा बच्चा बहुत शैतान है। तुम घर में उसे कैसी शिक्षा दे रहे हो? बेटा अपने बाप की देखा-देखी करता है। इसलिए उसका बाप ईमानदार है, तो बच्चा भी ईमानदार होता है, अगर बाप बदमाश है, तो बच्चा तुम्हारे बेटे का सा व्यवहार करता है।" दोनों पक्ष उत्तेजित हो गए। मुँह से गंदे शब्द निकले और आँखें लाल हो गई। पर यह अन्नू और मन्नू समझ में कुछ भी समझ में नहीं आई कि क्यों इतने बड़े आदमी इतनी आसानी से नाराज़ हो जाते हैं। दो बच्चे मौन से आपस में ताकते ही रहे।

(5) दो बड़े आदमी और भी उत्तेजित हो गए। एक ने दूसरे की गरदन पकड़ ली, तो दूसरे ने हाथ उठाया। मार-पीट शुरू होने वाली थी। दो बच्चे दाँत तले उंगली दबाकर एक साथ खड़े हुए थे।

(6) अंत में मार-पीट होने लगी। अन्नू के पापा ने एक घूंसा मारा, उल्ट मन्नू के पापा ने ठोकरें जमा दी। मुक्केबाज़ी हो रही थी। लेकिन बच्चों का मन चंचल होता है और वे कुट्टी करने पर भी तुरंत मेल-मिलाप करते हैं। अब अन्नू और मन्नू को अपने बाप की घूंसेबाज़ी कोई दिलचस्पी की बात नहीं थी। वे दोनों एक साथ उकड़े बैठकर कंकड़ों से खेलने लगे।

उच्चारण के संबंध में यह प्रसिद्ध है कि जापानियों के लिए /र/ /ल/ तथा /ड़/ का भेद करना बहुत कठिन है परंतु अल्पप्राण तथा महाप्राण का भेद अभ्यास से संभव हो जाता है। इस विश्वविद्यालय में पहली कक्षा के छात्रों को प्रत्येक सप्ताह 90 मिनट का लैंग्वेज लैबोरेट्री (भाषा प्रयोगशाला) की कक्षा होती है, जिसमें यंत्र के माध्यम से उच्चारण का अभ्यास कराया जाता है।

(3) समस्याएँ और दिशाएँ

जापान में हिंदी पढ़ने के इच्छुक छात्रों के समक्ष उनके विविध उद्देश्य होते हैं। ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय के छात्रों के सर्वेक्षण के आधार पर निम्नलिखित विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :-

भारतीय दर्शन सीखने की इच्छा, भारतीय इतिहास पढ़ने की इच्छा, योगदान का अभ्यास तथा कोई भारत भ्रमण की इच्छा से इस विभाग में प्रवेश लेता है। हिंदी में विशेष रुचि लेकर प्रवेश लेने वाले विद्यार्थी बहुत कम होते हैं। इससे संकेत मिलता है कि विद्यार्थियों की रुचि भाषा की अपेक्षा संस्कृति की और अधिक है। वस्तुत: भाषा और संस्कृति तो मानवीय सृष्टि के दो अभिन्न पक्ष हैं। विशेषकर ओसाका विदेशी भाषा विश्व विद्यालय की स्थापना का उद्देश्य स्पष्ट रूप से विदेशी भाषा के माध्यम से विदेशी संस्कृति को सीखना है। अतः विदेशी भाषा शिक्षा का महत्त्व किसी रूप में कम नहीं है।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे छात्र भी होते हैं जो बिना किसी उद्देश्य के यों ही आते हैं- शायद इसलिए कि दूसरे विभागों की तुलना में 'भारत-पाकिस्तान विभाग' में प्रवेश लेना आसान है। विश्वविद्यालय में प्रवेश लेने के इच्छुक जापान के हाईस्कूल के छात्रों को मुख्यतः उनके रेकार्ड के आधार पर दिशा निर्दिष्ट किया जाता है, रुचि के आधार पर नहीं। ऐसे भ्रमित छात्रों का विश्वविद्यालय में प्रवेश लेना ही मुख्य उद्देश्य है। प्रवेश लेने के बाद पढ़ना नहीं या पढ़ना भी हो तो हिंदीतर विषय। ऐसे छात्र अध्यापकों के लिए बोझ बन जाते हैं क्योंकि हिंदी की ओर उनकी रुचि नहीं होती।

साधारणतः जापानी विद्यार्थी 18-19 की आयु में हिंदी सीखना शुरू करते हैं तब तक वे विदेशी भाषा के रूप में केवल अंग्रेज़ी पढ़ते हैं। अतः नवीन भाषा के रूप में हिंदी पर अधिकार प्राप्त करने के लिए उन्हें बहुत मेहनत (या कभी-कभी 'तपस्या'!) करनी पड़ती है। यद्यपि हिंदी मूलतः वाक्य-रचना की दृष्टि से और उच्चारण की दृष्टि से भी जापानियों के लिए कठिन नहीं है, अधिक उपयुक्त होगा यह कहना कि अंग्रेज़ी की तुलना में यह बहुत आसान है। पर आम विद्यार्थी अपने हाईस्कूल के अध्ययन-काल में मेहनत करने की क्षमता खो बैठते हैं। जब चार वर्ष के बाद स्नातक होकर वे समाज में प्रवेश करेंगे तो वहीं और भी परिश्रम करना पड़ेगा। इसलिए विश्वविद्यालय के चार साल उनके लिए विश्राम का समय है। सप्ताह में पाँच पीरियड

(नब्बे मिनट x 5) की कक्षा को बोधगम्य करने के लिए प्रत्येक छात्र से प्रतिदिन दो घंटे घर में पढ़ने की आशा की जाती है, पर हिंदी की पढ़ाई के लिए आम छात्रों के लिए प्रतिदिन दो घंटे पढ़ना कठिन है यद्यपि असंभव नहीं है।

फिर भी यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि पूरे जापान के विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के स्तर को देखते हुए अपने यहाँ के छात्रों का बौद्धिक स्तर काफ़ी ऊँचा है। अध्यापकों की ओर से सही मार्गदर्शन हो तो दृढ़ संकल्प वाले छात्र बहुत-कुछ सीख सकते हैं। हमेशा निराशावादी दृष्टिकोण को अपनाना भी ठीक नहीं होता, क्योंकि कुछ ऐसे मेधावी विद्यार्थी भी अपने यहाँ से निकलने लगे हैं जो भारत जाकर हिंदी की पढ़ाई में भारतीय छात्रों के साथ बराबरी कर सकते हैं, यद्यपि ऐसे विद्यार्थियों की संख्या अभी 'समुद्र में बूँद' की तरह है।

विश्वविद्यालय में व्यवस्था का दोष भी है, जिसके लिए जापान सरकार का शिक्षा मंत्रालय जिज़िदार है : एक कक्षा में भाषा-शिक्षा के लिए 18 छात्रों को लेना अन्याय है (कभी-कभी 'फेल' छात्रों की वजह से यह संख्या 25 तक जाती है)। हमारे पड़ोसी देश कोरिया के कान्कोकु विदेशी भाषा विश्वविद्यालय में तो हिंदी के लिए 35 विद्यार्थी लेते हैं, पर अमेरिका के किसी भी विश्वविद्यालय में हिंदी की कक्षा में इतनी संख्या में विद्यार्थी नहीं बैठते, यद्यपि अमेरिका में ऐसे विश्वविद्यालयों की संख्या जापान से तीन-चार गुनी अधिक है जहाँ हिंदी पढ़ाई जाती है। यदि एक कक्षा में केवल 4-5 छात्रों को ही लिया जा सके तो निस्संदेह ही शिक्षण का फल कई गुना अधिक होगा। छात्रों में हिंदी की ओर रुचि पैदा करने के लिए नए ढंग अपनाये जाते रहे हैं। इस दिशा में इस साल से दूसरी कक्षा के विद्यार्थियों को हिंदी फ़िल्म के वीडियो दिखाकर बड़ी सफलता मिल रही है। फ़िल्म दिखाने के पहले छात्रों को फिल्मी स्क्रिप्ट (संवाद पुस्तिका) दिया जाता है जिसे वे घर से पढ़कर आते हैं। कई बार एक ही दृश्य दिखाकर छात्रों से अभिनेताओं या अभिनेत्रियों के संवादों का अनुकरण कराया जाता है। मौखिक अभ्यास के लिए यह बहुत अच्छा साधन है। फ़िल्म से लाभ केवल भाषा शिक्षण का नहीं अपितु इस बात का भी है कि विद्यार्थी भारतीय जीवन को अपनी आँखों से देखकर भारतीय संस्कृति से जीवत रूप में परिचित हो सकते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना भी है कि किसी भी ज्ञान को अर्जित करने के लिए चलचित्र बड़ा प्रभावशाली साधन होता है।

यद्यपि प्रत्येक वस्तु को केवल व्यावहारिक तथा व्यावसायिक दृष्टि से देखना ठीक नहीं है (केंद्रीय हिंदी निदेशालय की प्रवेशिका की परीक्षा हमारे विद्यार्थी इसलिए देना नहीं चाहते कि उससे उन्हें कोई व्यावहारिक लाभ नहीं होता)। परंतु यदि छात्र यह कहें कि हमें हिंदी सीखने से क्या लाभ, क्योंकि जापान में सभी भारतीय लोग अंग्रेज़ी बोलते हैं, तो इस तर्क के आगे हमें क्षण भर के लिए चुप रहना पड़ता है। अतः लेखक की सहृदय भारतीय पाठकों से यही प्रार्थना है कि वे हिंदी पढ़ने वाले जापानी छात्रों से अंग्रेज़ी में बात न करके हिंदी अथवा भारतीय भाषाओं में बात करके उन्हें उत्साहित करें।

अंत में 'ज्वालामुखी' के अतिरिक्त भारतीय पाठकों को दो ऐसी पत्रिकाओं का परिचय देना भी लेखक अपना कर्तव्य समझता है जो हिंदी शिक्षा की ओर प्रेरित करती है। एक तोक्यो विदेशी भाषा विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'इन्दोबुन्गाकु' (भारतीय साहित्य) है, जिसमें हिंदी, उर्दू, बंगला, तमिल, मराठी आदि की कुछ साहित्यिक रचनाओं के जापानी अनुवाद उपलब्ध हैं। आजकल सुश्री तामाकि मात्सुओका हिंदी फ़िल्मों की समीक्षाएँ लिखकर इस पत्रिका के महत्त्व को बढ़ा रही हैं। दूसरी पत्रिका ओसाका विदेशी भाषा विश्व विद्यालय से प्रकाशित 'इन्दो-मिन्ज़ोकु केन्क्यू' (भारतीय मानव जाति विषयक अध्ययन) है, जिसमें केवल साहित्य ही नहीं, भारतीय संस्कृति से संबंधित विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित लेख भी मिलते हैं। ये दो पत्रिकाएँ जापानी भाषा में ही प्रकाशित हैं।

नोट

1. प्रस्तुत लेख से सीधा संबंध न होने के कारण उर्दू के अध्यापकों के नामों का उल्लेख नहीं किया गया। यह बात ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय के संदर्भ में भी उचित है।
2. प्रस्तुत लेख निर्माण में यत्र-तत्र प्रो० दोई द्वारा लिखित 'हिन्दुस्तानी, उर्दू, हिंदी' नामक लेख ('त्सूशिन्' अंक 36, जुलाई 1979, एशिया तथा अफ्रीका भाषा संस्कृति संस्थान, तोक्यो विदेशी भाषा विश्वविद्यालय) से कुछ सहायता प्राप्त हुई है, जिसके लिए लेखक उनका आभारी है।

शांतिनिकेतन और जापानी परंपरा

महेन्द्र साइजी माकिनो

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ जापान के अनुरागी थे। इसकी वजह है कि उन्होंने तीन बार जापान की यात्रा की थी। जापान और भारत के सांस्कृतिक इतिहास में द्वितीय विश्व युद्ध के आगे-पीछे सबसे अधिक प्रभाव डाल दिया था गुरुदेव ने। कवि ने जापान में एक बार जापानियों को संबोधित करते हुए कुछ इस प्रकार की कथा कही थी : "यद्यपि भारत ग़रीब देश है, पर आप हमारा तिरस्कार न करें। भारत में प्राचीन आध्यात्मिक बुद्धि और उदार प्रकाश है। आपको उस संपदा की खोज करनी होगी। उसके लिए आप ख़ुशी से भारत में आ सकते हैं जिसमें आप अपना उचित स्थान पाएँगे। आपने अपनी कला, साहित्य और दर्शन में जो गुण पाये हैं, उनका हमें परिचय कराइए।"

हमारे जापान में गुरुदेव का जीवन चरित्र बहुत सुंदर ढंग से अनुवादित हुआ है और आज मूल बंगला से रवीन्द्र रचनावली का जापानी अनुवाद फिर से 12 खंडों में प्रकाशित होने जा रहा है। कवि की कविता, नाटक, संगीत, साहित्य, दर्शन को मूल बंगला में रसास्वादन करने या मूलतत्त्व का स्पर्श करने के लिए आज के जापानी नवयुवक काफ़ी संख्या में रुचि ले रहे हैं। अतः बंगला भाषा सीखने वालों की संख्या दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है, जिनका स्थान हिंदी के बाद आता है। विश्वभारती में दुनिया के कोने-कोने से बहुत विद्यार्थी आते हैं, पर उसमें जापानी विद्यार्थियों की संख्या सबसे अधिक है।

1901 में जब गुरुदेव ने केवल पाँच छात्रों को लेकर छोटा-सा स्कूल चालू किया था, तब उसके दूसरे वर्ष (1902) में एक जापानी छात्र संस्कृत पढ़ने आया था, जिसे हम प्रथम विदेशी छात्र मान सकते हैं। उसका नाम था–-भिक्षु शितोकु होरि (1876-1903)। वे कवि के आत्मीय विदेशी मित्रों में से एक जापानी बंधु श्री तेंसिन ओकाकुरा की सिफारिश से आए थे। परंतु दुर्भाग्य की बात है कि शांतिनिकेतन से पाकिस्तान जाने के रास्ते में टेटनस (Tetanus) के प्रकोप से लाहौर के एक अस्पताल में उनका देहांत हो गया। फिर 1904 में प्रो० जिनोसुके सानो (1882-1938) जूडो और जापानी भाषा सिखाने के लिए शांतिनिकेतन आए, जो केइओ विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी साहित्य के प्रोफ़ेसर थे। वे एकाध वर्ष गुरुदेव के पास रहे। गुरुदेव के ज्येष्ठ पुत्र रतीन्द्रनाथ ने उन्हीं से ही जूडो सीखा। यह बात बहुत से लोग नहीं जानते कि भारत में सबसे पहले गुरुदेव ने ही जूडो को शांतिनिकेतन में शुरू किया था। प्रो० सानो ने अपने बंगाल प्रवास में बंगला भाषा पर अधिकार पाया और जापान वापस जाने के बाद गुरुदेव का लंबा उपन्यास 'गोरा' का जापानी में अनुवाद किया, जो आज

अनोखी पुस्तक के रूप में मूल्यवान है। 1905 में भिक्षु एकाइ कावागुचि (1866-1945) संस्कृत पढ़ने के लिए एक महीना शांतिनिकेतन में रहे। उस समय जापान के कई सुप्रसिद्ध चित्रकार ताइकन योकोयामा, कंजन शिमोमुरा, श्यु सो हिशिदा, श्योकिन कात्सुदा और कंपो आराई आदि भी गुरुदेव के निमंत्रण पर कलकत्ता के कला स्कूल में आए थे। श्री अवनीन्द्रनाथ और श्री नन्दलाल बसु जापानी चित्रकला की तकनीक से काफ़ी प्रभावित हुए और जापानी शिल्पी, भारतीय चित्रकला की शैली से। गुरुदेव के देहावसान के बाद भी यह परंपरागत आदान-प्रदान चलता ही रहा। विश्वभारती के कला भवन में आज भी इन जापानी शिल्पियों को अनेक रचनाएँ सुरक्षित रखी हैं और भारत-जापान के मनोरम सांस्कृतिक संबंधों की शोभा बढ़ा रही हैं।

1921 में गुरुदेव का छोटा-सा स्कूल अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के रूप में विकसित होकर 'विश्वभारती' बन गया। उस समय एक जापानी बढ़ई श्री कितारो कासाहारा काष्ठ-विद्या और उद्यान-शास्त्र के गुरु के रूप में कवि द्वारा निमंत्रित किए गए। वे केवल बढ़ईगीरी में ही होशियार नहीं थे, बल्कि सब्जी बनाना, उद्यान बनाने में भी उस्ताद थे। वे अपने हाथ से कई प्रकार की सब्जी बनाकर हमेशा गुरुदेव के पास भेजते रहते थे। इससे गुरुदेव खुश होकर कासाहारा को बहुत प्यार करते थे। गुरुदेव के निवास-घर 'उदयन' में बहुत से जापानी डिज़ाइन अपनाये गए हैं, वह सब कासाहारा की ही बनावट है। उस मकान के पीछे एक तालाब को केंद्रित करके एक सुंदर जापानी बगीचा बनाया गया है। वह भी उनकी योजना थी। इस प्रकार शांतिनिकेतन के कवि-निवास में मुख्यतः जापानी छाप दिखाई देती है, वह सब कासाहारा की ही देन है। कासाहारा विद्वान तो नहीं थे, पर एक स्वाभिमानी पुरुष थे, कर्मयोगी थे। उन्होंने अपने व्यावहारिक आचरण से केवल गुरुदेव को ही प्रभावित नहीं किया, बल्कि सारे शांतिनिकेतन को हिलाया भी। उनके बारे में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं जो आज भी उनकी याद ताज़ा करती हैं। एक समय उन्होंने श्रीनिकेतन के अपने घर के नज़दीक एक पीपल के पेड़ के ऊपर छोटा-सा घर बनाकर गुरुदेव को आमंत्रित किया था, जो 'कवि का नीड़' कहलाता था। उस समय कोनो नामक दूसरा बढ़ई भी कलकत्ता से आया था, जो कासाहारा का सहयोगी रहा। वह कासाहारा के निर्देश पर कई प्रकार के फर्नीचर बनाया करता था जो आज भी गुरुदेव कक्ष की शोभा बढ़ा रहे हैं। कासाहारा ने अपने पीछे दो लड़कियों को छोड़कर शांतिनिकेतन में ही अपना जीवन समर्पित कर दिया। उनकी एक बेटी अभी भी शांतिनिकेतन में जीवित है।

1925 से 1929 तक कला भवन में श्री देंजिरो हासेगावा नामक एक जापानी छात्र पढ़ता था। उसने अपने अध्ययन के अवकाश में कई बार हिमालय तथा तिब्बत की यात्रा की थी और कई फ़ोटो लेकर इस पर फ़िल्म भी बनायी। उसकी मेहनत का फल उसके देहांत के बाद पुस्तकीय रूप में प्रकाशित हुआ, जो 'हिमालय-यात्रा' के नाम से प्रसिद्ध है।

1929 में कवि ने अपनी अंतिम जापानी-यात्रा के समय दो जापानी उस्तादों को शांतिनिकेतन में आमंत्रित करने का निश्चय किया था। एक प्रो० मिन्जो ताकागाकि (1899-1977) जो जूडो मास्टर थे और दूसरी, श्रीमती माकिको हाशिमोतो (1906-1979) जो 'इकेबाना' और 'चानोयु' (Tea ceremony) की उस्तानी।

जूडो-गुरु ताकागाकि 1929 में शांतिनिकेतन में आए और आश्रम के लड़के-लड़कियों को जूडो सिखाया। किंतु तब आज के जैसी जूडो-चटाई नहीं थी। धान का पुआल फ़र्श पर बिछा कर उसके ऊपर कालीन फैलाया जाता था। इस प्रकार की कई कठिनाइयों तथा असुविधाओं के बावजूद सभी लोग ईमानदारी से सीखे। शांतिनिकेतन का सिंह-सदन एक अच्छा जूडो-अड्डा बन गया था। जब गुरुदेव कलकत्ता जाकर अपने नृत्य नाटय का प्रदर्शन किया करते थे, तब उसी मंच पर जापानी जूडो का प्रदर्शन भी होता था। कवि की दृष्टि से जूडो भी एक कला थी, जो देखने में सुंदर तथा कोमल थी। किंतु कवि का विश्व भारती उस समय काफ़ी आर्थिक कठिनाइयों से गुज़र रहा था। इच्छा होते हुए भी गुरुदेव प्रो० ताकागाकि को दो साल से अधिक अपने पास रखने में असमर्थ थे। उनकी इच्छा थी कि इतनी अच्छी विद्या का कलकत्ता में भी क्यों प्रचार न किया जाए? अतः तत्कालीन महापौर श्री सुभाष चंद्र बसु को पत्र लिखकर प्रो० ताकागाकि को अपने हाथ में लेने की सिफारिश की थी। अफ़सोस की बात है कि उस समय कलकत्ता में कोई भी जूडो के महत्त्व को समझ न सका। आखिर प्रो० ताकागाकि शांतिनिकेतन से विदा होकर जूडो प्रचार के लिए नेपाल तथा अफ़गानिस्तान की ओर चले गए, जहाँ से उनकी अंतर्राष्ट्रीय जूडो-यात्रा शुरू होती है। खेद है कि आज शांतिनिकेतन में जूडो का नामोनिशान भी नहीं है, जबकि सारा भारत जूडो-काराटे के पीछे पागल हो गया है।

कवि फूलों-फलों के प्रेमी थे। उन्होंने अपने शांतिनिकेतन को फूल और फलदार पेड़ों से भर दिया था मानो आश्रम के एक-एक पेड़ में हम 'इकेबाना' या 'बोंसाई' के रूप देख रहे हैं। पर कवि की इच्छा ये थी कि इस प्राकृतिक सुंदरता को प्रकृति की गोद से अपने कक्ष में लाया जाय। इसी उचित पद्धति को कवि ने अपनी जापान यात्रा में देखा था जिसने उन्हें सबसे अधिक प्रभावित भी किया। उन्होंने तत्कालीन शरणगत भारतीय क्रांतिकारी श्री रसबिहारी बसु (1886-1945) से निवेदन करके एक ऐसे व्यक्ति को शांतिनिकेतन भेजने के लिए कहा जो वहाँ 'इकेबाना' और 'चानोयु' का परिचय दे सके। अतः श्री बसु की जापानी पत्नी की भतीजी माकिको को ही चुना गया। वह 1930 से 4 वर्ष गुरुदेव के पास रही।

1931 में भिक्षु त्सूश्यो ब्योदो संस्कृत तथा एशियायी विद्याओं का अध्ययन करने आए। उसके बाद प्रसिद्ध चित्रकार श्री कोसेत्यु नोजु (1885-1973) सारनाथ के जापानी बौद्ध मंदिर का भित्तिचित्र पूरा करने के पहले भारतीय भित्तिचित्रकला सीखने के लिए कला भवन में आकर काफ़ी दिन रहे।

अक्टूबर 1935 में श्रीमती तोमि कोरा कवि से मिलने शांतिनिकेतन आयीं। कवि उस समय 74 वर्ष के हो गए थे। बहुत दिनों के बाद दोनों मिलकर गद्गद् हो गए। क्योंकि कोरा अपने विद्यार्थी जीवन में कवि की प्रथम जापान-यात्रा के समय कारुइजावा नामक पहाड़ी संरगाह पर एक पेड़ के नीचे ज़मीन पर बैठकर कवि का भाषण सुन चुकी थी। कवि की द्वितीय तथा तृतीय यात्रा शुरू हुई तो कोरा उनकी अनुवादक बनी। जिस स्थान पर बैठकर कवि की भाषा सुनी थी, उसी स्थान पर गुरुदेव की एक मूर्ति बनकर तैयार हुई गत वर्ष अगस्त में। श्रीमती कोरा आज 86 वर्ष की हो गई हैं, पर उनके प्रयास से ही 'जापानी टैगोर सोसाइटी' चल रही है।

1939 में एक जापानी नर्तक श्री मिकिओ माकि (1911-1970) ने संगीत भवन में भरती होकर भारतीय नृत्य में जल्दी ही कुशलता प्राप्त कर ली और गुरुदेव के नृत्य-नाट्य के प्रोग्राम में अपनी भूमिका निभायी थी।

इस प्रकार शांतिनिकेतन में एक ओर कई जापानी पढ़ने-पढ़ाने जापान से आते रहे और चले जाते, सो बात नहीं। दूसरी ओर जब गुरुदेव जापान जाते, तब अवश्य वे अपने प्रसिद्ध विद्वान् या शिल्पी को साथ में ले जाते। बाद में भी कवि शांतिनिकेतन से कई शिक्षक-विद्यार्थियों को जापान भेजते रहे। इन सब बालों को आज के युग में यदि विचार किया जाय, तो सब कुछ तुच्छ-सा लगता है, किंतु जब द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्वकाल में साधारणतः प्रवासी छात्र और सांस्कृतिक संबंध अत्यंत कम था, उसी काल में जबकि भारत और जापान दोनों देशों की नज़रें योरोप की ओर थीं, तभी शांतिनिकेतन और जापान के बीच में इतना आदान-प्रदान का मधुर संबंध होता रहा। यह एक आश्चर्य की बात है।

कवि राष्ट्रवादी और जातिवादी थे। अंग्रेज़ी सरकार यह आदेश देती थी कि भारतीय अपने बाल बच्चों को शांति निकेतत में न भेजें। क्योंकि वह मानती थी कि शांतिनिकेतन उपनिवेश-विरोधी एक खेल है। फिर भी गुरुदेव अपने इस विश्वास पर डटे रहे कि भारतीय कुश्ती और जापानी जूडो अपनी जाति का मनोबल तथा शारीरिक शक्ति को बढ़ाने का एक उत्तम साधन है। ऐसी परिस्थिति में जापान से एक जूडो मास्टर बुलाना कितना साहस का काम था! आज यह विश्वास और साहस शांतिनिकेतन में नहीं है।

1958 से विश्वभारती में जापानी अध्ययन का केंद्र खोला गया और बौद्ध धर्म के अनुसंधान के साथ जापानी संस्कृति और भाषा की पढ़ाई शुरू हुई। आज तक जापान से 4 जापानी अध्यापक आकर काम कर गए हैं। शांतिनिकेतन केवल भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण स्थान ही नहीं, बल्कि विश्व संस्कृति का नीड़ भी है। बौद्ध धर्म द्वारा ही भारत और जापान का संबंध एक-दूसरे के निकट आए और यही सांस्कृतिक संबंध गुरुदेव के हाथ से फिर पुनर्जीवित हुए। शांतिनिकेतन ऐसे सांस्कृतिक संबंधों का प्रतीक और संगम-स्थान है। हम विश्वभारती में भारतीय अध्ययन द्वारा जापान को जान सकते हैं और जापानी अध्ययन द्वारा भारत को सच्चे रूप में देख और समझ सकते हैं।

फिल्मोत्सव 82

तामाकि मात्सुओका

1. फिल्मोत्सव में पहला प्रवेश

बहुत दिनों पहले से मेरा एक सपना था--फिल्मोत्सव में हाज़िर होने का। मैं सात साल पहले से हर साल भारत आती रही हूँ। साल में एक बार, दिसंबर अथवा जनवरी में आती थी तो कभी मद्रास में, कभी दिल्ली में फिल्मोत्सव के समय पर ही ठहरती थी।

दो-तीन साल पहले मुझे पता चला कि फिल्मोत्सव में "भारतीय पैनोरमा" नाम का एक प्रोग्राम है और उसमें भारत की हाल की अच्छी फ़िल्में एक साथ दिखाई जाती हैं। हर साल करीब एक माह प्रवास करते-करते मैं बीस या तीस फ़िल्में देखती थी, पर वे ज़्यादातर व्यावसायिक फ़िल्में थीं। शहर में आर्ट्स फ़िल्में देखना बहुत मुश्किल था। "अंकुर", "स्पर्श", "चक्र", "आक्रोश" इत्यादि मैं बहुत देखना चाहती थी, लेकिन एक माह के प्रवास में ऐसी फ़िल्में कहीं पर देखना असंभव था। इसीलिए मुझे लगता था कि फिल्मोत्सव में हाज़िर होकर "भारतीय पैनोरमा" देखना मेरे लिए सबसे उचित तरीका है।

लेकिन मुझे यह मालूम नहीं था कि फिल्मोत्सव में प्रवेश कैसे करें? सबसे पहले मैंने तोक्यो के भारतीय राजदूतावास से मदद माँगी। एक सज्जन ने मेरी बात सुनने के बाद कहा, "इस साल से फिल्मोत्सव की निर्देशन कॅमिटी, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय से अलग हो गई है। इसलिए हम आप की मदद नहीं कर सकते। लेकिन आप चाहें तो मैं दो-तीन परिचय पत्र लिख सकता हूँ।" मैंने जापानी राजदूतावास, नई दिल्ली के एक मित्र को भी पत्र भेजा। लेकिन जवाब नहीं मिला।

तभी तो मैंने सोचा कि और कोई उपाय नहीं है, अब सीधे फिल्मोत्सव की निर्देशन कॅमिटी को पत्र लिखूँ। और वैसे ही किया, तो दो-तीन सप्ताह बाद मंजूर करने का जवाब मिला। उस समय की मेरी खुशी कितनी थी, मैं नहीं बता सकती। मैं औपचारिक प्रतिनिधि के रूप में तो नहीं थी, इसलिए खर्चा अपने आप करना पड़ा, फिर भी फिल्मोत्सव में हाज़िर हो पाना मेरे लिए सचमुच बड़ी बात थी। मैं सुश्री बिंदु बातरा, श्री एम०बी० कृष्णास्वामी, श्री डी० मुखोपाध्याय इत्यादि फिल्मोत्सव की निर्देशन कॅमिटी के सदस्यों की बहुत आभारी हूँ।

2. कलकत्ता में फिल्मोत्सव

फिल्मोत्सव 82 तीन विभागों में बाँटा जाता है। एक है विदेशी फ़िल्मों का विभाग, दूसरा है विदेशी तीन निर्देशकों का विभाग, और तीसरा है "भारतीय पैनोरमा"। विदेशी फ़िल्मों में से

आठ फ़िल्में जापानी थीं। वे हैं- “Buddhist From China”, “Glowing Autumn”, “Lady Oscar”, “Michiko”, “Strangling”, “The Incident”, “The Yellow Handkerchief” और “Vengeance Is Mine”।

विदेशी तीन निर्देशकों के विभाग में ज्याँ लुक गोदार, मिकलस यांचो और यिलमाज़ गुने की फ़िल्में चुनी गई हैं। गोदार के अलावा दो निर्देशकों के नाम मैंने पहली बार सुने हैं। जापान में तो उनके नाम तक परिचित नहीं थे। जापान वापस आने के बाद कानून के फ़िल्म फेस्टिवल में यिलमाज़ गुने की फ़िल्म को सर्वोत्तम फ़िल्म पुरस्कार मिलने का समाचार सुना। सुनकर ऐसा लगा कि भारत का फ़िल्म जगत जापान से काफ़ी आगे है।

“भारतीय पैनोरमा” में नई फ़िल्मों के साथ-साथ पुरानी फ़िल्में भी दिखाई गईं। इस प्रोग्राम में मैंने बट्ठारह नई फ़िल्में और ग्यारह पुरानी फ़िल्में देखीं। पुरानी फ़िल्मों में से अच्छी लगीं- “मल्लेश्वरी” (तमिल), “स्वर्गसीमा” (तेलगू), “स्ट्रीट सिंगर”, “आदमी” (हिंदी) इत्यादि। ऐसी पुरानी फ़िल्मों के शो सुबह नौ बजे से और बारह बजे से शुरू होते थे, लेकिन सबटाइटल अंग्रेज़ी में न देने के कारण विदेशी दर्शक हमेशा कम थे। केवल विदेशी प्रतिनिधि ही नहीं, भारतीय प्रतिनिधि भी कम आते थे। कभी-कभी मैं प्रतिनिधियों के स्थान पर अकेली बैठकर देखती रही। बड़ी अफ़सोस की बात थी।

नई भारतीय फ़िल्में देखकर ऐसा लगा कि वे सब काफ़ी अच्छी हैं। दो-तीन बेकार फ़िल्में भी थीं, पर बाक़ी सब देखने लायक थीं। उनमें से कुछ को चुनकर आलोचना करना चाहती हूँ।

हिंदी फ़िल्म “आधारशिला” युवा निर्देशक अशोक अहूजा की पहली फ़िल्म है। उस फ़िल्म की कहानी निर्देशक की आत्मकथा जैसी है। यह फ़िल्म, फ़िल्म जगत में काम करने वाले युवकों के रहन-सहन को बड़े जीवित रूप में दिखाती है। एक दृश्य में युवा निर्देशक अजय और उसके साथी व्यावसायिक हिंदी फ़िल्मों को पैरोडी दिखाते हैं, वही दृश्य बहुत मनोरंजक था। इस फ़िल्म की मुख्य कहानी अजय की फ़िल्म “आधारशिला” बनाने की है। पहले अजय एक पुस्तक “बुनियाद” को लेकर फ़िल्म बनाने के लिए लेखक के पास जाता है। पहले तो लेखक बहुत महान और उच्च आदमी लगता था, लेकिन समय के साथ-साथ उसका सच्चा रूप निकल आता है। यह रॉयलटी बढ़ाने के लिए झूठ बोलता है और सीधे “हाँ” नहीं कहता। अजय धीरे-धीरे उत्तेजित हो जाता है और उसके साथ दर्शक भी उत्तेजित हो उठते हैं। अंत में अजय “बुनियाद” छोड़कर अपनी कहानी पर आधारित फ़िल्म “आधारशिला” बनाने का फैसला करता है। अजय के साथी भी उसकी बेहद मदद करते हैं। जब “आधारशिला” की स्क्रिप्ट पूरा होकर पर्दे पर उस की शीर्षक लिपि आ गई, तब दर्शकों के मन में भी प्रसन्नता हुई होकर उन्होंने तालियाँ बजा दी। यह एक हृदयग्राही घटना थी। फ़िल्म समाप्त होने के बाद फिर तालियों की आवाज़ आ गई।

श्याम बेनेगल की “आरोहण” और सत्यजीत राय की “सद्गति” दोनों गाँव की कहानियाँ है। “सद्गति” पचास मिनट की लघु फ़िल्म है लेकिन “शतरंज के खिलाड़ी” से काफ़ी अच्छी फ़िल्म बन गई।

दोनों फ़िल्मों में ओम पुरी नायक हैं और उनका अभिनय अति उत्तम है। ऐसी फ़िल्में खासकर गाँव में दिखानी चाहिए।

बंगाली फ़िल्मों में से “बैसाखी मेघ” सबसे मनोरंजक थी। लेकिन मनोरंजन के अलावा कुछ प्रभाव नहीं दे सकी।

“चलचित्र” मृणाल सेन की नई फ़िल्म है और कलकत्ता शहर के आम लोगों के दैनिक जीवन की समस्याओं का सक्रिय रूप में चित्रण करती है। इस फ़िल्म के दृश्यों में एक लय है, चंचल है।

इस फ़िल्म के विपरीत, “दखल” बहुत गंभीर समस्या उठाती है। यह फ़िल्म एक महिला आँधी का अपनी ज़मीन रक्षा करने का संघर्ष दिखाती है। आँधी चलवासी जाति की है और चलवासी लोगों के जीवन भी पर्दे पर दिखाए जाते हैं।

“ईमाणी नींगएम” (मेरा प्यारा बच्चा) विरल मणिपुरी फ़िल्म है। यह फ़िल्म रंगीन नहीं है और इसका टेकनीक कमज़ोर है। अभिनेता-अभिनेत्रियाँ भी बिल्कुल व्यवसायी नहीं लगते। फिर भी इस फ़िल्म में एक आकर्षण है जो फ़िल्म के अंत तक दर्शकों की नज़रों को पर्दे से नहीं हटने देता। यह फ़िल्म अन्य भारतीय फ़िल्मों से अलग है, आम फ़िल्मों का चौखटा नहीं लगा सकता। ये इस फ़िल्म के आकर्षण के कारण है। शायद निर्देशक ने सोच-समझ कर ऐसा नहीं किया, मणिपुर के लोगों के रहने और सोचने के ढंग पर आधारित होकर फ़िल्म बनाते-बनाते ऐसी ही हो गई। इसलिए यह व्यावसायिक फ़िल्म नहीं लगती, मणिपुर के जीवन के वृत्तचित्र-सी लगती है।

दक्षिण भारत की फ़िल्मों में से तमिल फ़िल्म “तन्नीर-तन्नीर” (पानी-पानी) सबसे अच्छी लगी। इस फ़िल्म में पूरी जीवन-शक्ति और राजनीतिक दृष्टिकोण भी है। यह फ़िल्म एक गाँव की कहानी है जहाँ कुआँ, चश्मा, नदी नहीं। एक चश्मा तो है लेकिन बहुत दूर गाँव के लोग एक परदेसी की मदद से किसी-न-किसी प्रकार से पानी लाने के लिए खूब कोशिश करते हैं। लेकिन गाँव का ज़मींदार, जो शहर में रहता है उन लोगों की कोशिश का सामना करता है। क्योंकि गाँव के लोगों ने चुनाव के समय ज़मींदार पक्ष के प्रत्याशी को वोट नहीं दिया। अंत में जब गाँव के सब लोग मिलकर नहर बनाते हैं, तब सरकार उन्हें रोकती है और गिरफ्तार करती है। सरकार का कहना है कि वहाँ की ज़मीन सरकार की है और उस पर नहर बनाने की योजना अब सरकार के पास नहीं है, इसलिए वह ग़ैर-क़ानूनी काम है। इस फ़िल्म में निर्देशक आजकल के भारत की सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों की पूरी आलोचना करते हैं। संवाद भी व्यंग्यात्मक और हास्यकर हैं। ऐसी फ़िल्म देखकर मनोरंजक और कलात्मक दोनों संतोष मिलते हैं।

मलयालम फ़िल्म "ओप्पोल" (दीदी) भी बड़ी सुंदर फ़िल्म है। अभिनेत्री मेनका की सुंदरता, बाल कलाकार का स्वाभाविक अभिनय इस फ़िल्म के गुण हैं।

बाक़ी फ़िल्मों में से दो अंग्रेज़ी फ़िल्में भी थीं। अपर्णा सेन के निर्देशन की पहली फ़िल्म "36 चौरंगी लेन" को मनीला के फ़िल्म फेस्टिवल में गोल्डन ईगल पुरस्कार मिला। इस फ़िल्म की नायिका जेनिफ़र कपूर का अभिनय सचमुच सर्वोत्तम है। पर कहानी मामूली है और निर्देशन में भी कोई नयापन नहीं है। सिर्फ़ एक दृश्य आँखों के सामने से नहीं हटता जो बड़े दिन के समय 'साइलेन्ट नाइट' के गाने के साथ कलकता शहर के दृश्य दिखाती है। बड़ा सुंदर और दु:ख भरा दृश्य था।

दूसरी अंग्रेज़ी फ़िल्म विक्टर बनर्जी की "ॲ औगस्त रिक्वाइअम" है और यह एकदम बेकार फ़िल्म है। विक्टर बनर्जी के अभिनय की क्षमता मैंने "शतरंज के खिलाड़ी" में देखी। वे श्याम बेनेगल की "आरोहण" में भी और सत्यजीत राय की "पिकू" में भी अच्छा अभिनय दिखाते हैं। लेकिन शायद अभिनय की क्षमता और निर्देशन की क्षमता अलग चीज़ है, उनके निर्देशन में कोई प्रभाव नहीं मिला। कहानी भी विदेशी फ़िल्म की नक़ल जैसी लगी।

बापू की फ़िल्म "थ्यागय्या" भी निराशाजनक थी। एकदम "शंकरभरणम" की नक़ल है।

"उमराव जान" के बारे में देखने से पहले बहुत कुछ सुना है। एक महिला मैनेजर इस फ़िल्म के प्रचार के लिए फिल्मोत्सव में आईं और काफ़ी ज़ोर से सब लोगों से इस फ़िल्म की बात करती रहीं। उन्होंने कहा, "इस फ़िल्म की कहानी बहुत हृदयग्राही है। रेखा का अभिनय देखने वाली चीज़ है। फ़िल्म में इस्तेमाल किए गए गहने सब असली हैं और निर्देशक मुज़फ्फ़र अली जवान और खूबसूरत हैं। अगर आप चाहें तो उनसे मिलाऊँगी" वगैरह-वगैरह।

श्री मुज़फ्फ़र अली से तो मैं नहीं मिली, शायद वे खूबसूरत भी होंगे, लेकिन उनका निर्देशन सुंदर नहीं लगा। नायिका रेखा ने व्यावसायिक फ़िल्मों में अनेक बार तवायफ़ का पात्र निभाया। वैसे फ़िल्मों में उनका अभिनय काफ़ी कामोत्तेजक और आकर्षक है। खासकर नाचते-गाते समय के अभिनय की कुशलता सबसे आगे है। "उमराव जान" में रेखा अपने आपको आर्ट्स फ़िल्म की अभिनेत्री दिखाने के लिए दबाव भरा अभिनय करती रही और इसके कारण उनका आकर्षण भी कम हो गया। रेखा के अभिनय की क्षमता ऐसे निर्देशन में नहीं आएगी और नसीरुद्दीन शाह भी इस फ़िल्म में तो कोई प्रभाव नहीं दे सके। शानदार फ़िल्म होते हुए भी यह मूल्यहीन फ़िल्म थी।

"कलयुग", "बरा", "पोक्कुवेयिल" इत्यादि नहीं देख सकी।

"बरा" एम० एस० सथ्यू की सबसे हाल की फ़िल्म है। यह फ़िल्म फिल्मोत्सव के नौवें दिन दिखाने जाने वाली थी, लेकिन शो के कुछ घंटे पहले पता चला कि यह फ़िल्म कस्टम क्लिअरेंस के लिए अब भी दिल्ली में है, इसलिए "बरा" की जगह पर "थ्यागय्या" दिखाई जाएगी। थियटर में दर्शक पूरे जमा होने के बाद यह सूचना दी गई। दर्शकों में से ज़्यादातर

लोग नौजवान थे और उन्हें बड़ा गुस्सा आया। गुस्से से वे लोग शोर मचाने लगे, "हमें 'थ्यागय्या ' नहीं चाहिए, 'बरा' चाहिए"। थियेटर के मालिक आकर उन्हें समझा लगे। मालिक ने वादा किया कि टिकट के पैसे वापस कर देंगे और बाद में "बरा" का शो हो तो उन्हें पूर्वाधिकार से दिखा देंगे। पर दर्शकों ने नहीं माना। फिल्मोत्सव के निर्देशक श्री कृष्णास्वामी बुलाए गए और वे दर्शकों के सामने खड़े होकर समझाने लगे। उस समय तक दर्शकों की माँग बढ़ गई थी कि "बरा" की जगह पर सत्यजीत राय की "पिकू" या "सद्गति" दिखा दें। लेकिन उस समय फिल्मोत्सव के निर्देशक के पास ये दोनों फ़िल्में नहीं थीं। यह जवाब सुनकर युवा दर्शक और ज़ोर से चिल्लाने लगे। अंत में पुलिस को आकर हस्तक्षेप करना पड़ा। इसी वजह से इसी दिन और अगले दिन के "भारतीय पैनोरमा" के सब प्रोग्राम बंद हो गए। बड़ी कष्टप्रद घटना थी।

3. अनमोल मुलाकात

फिल्मोत्सव के बीच में अनेक लोगों से भी मिली। उनमें से कुछ लोग इतने मेहरबान थे कि थोडी देर के लिए इंटरव्यू भी करवा दिया। उनमें से हैं- फिल्मोत्सव की निर्देशन कॅमिटी के सदस्य श्री डी० मुखोपाध्याय पूने के फ़िल्म आर्काइव के श्री पी०के० नायर, मशहूर अभिनेता श्री अमोल पालेकर, उनकी पत्नी व अभिनेत्री श्रीमती चित्रा पालेकर, और महान निर्देशक श्री श्याम बेनेगल। मैं उन लोगों की बहुत आभारी रहूँगी।

श्री और श्रीमती पालेकर ने अपनी फ़िल्म "आक्रीत" के बारे में बात की। और उसी दिन शाम को मैंने "आक्रीत" देखी। "आक्रीत" काफ़ी अच्छी फ़िल्म तो है और दोनों पालेकर के अभिनय खूब हैं। वे दोनों इंटरव्यू के समय काफ़ी शांतिमय आदमी लगते थे, पर पर्दे पर तो एकदम दूसरे पात्र बन जाते हैं। इस फ़िल्म में सब लोग अपने पूरी शक्ति से अभिनय करते हैं, इसलिए फ़िल्म बड़ी ज़ोरदार बन गई। लेकिन फ़िल्म के हर एक दृश्य ज़ोरदार होने के कारण दर्शकों को बड़े तनाव में देखना पड़ता है और देखते-देखते थक जाते हैं और खून भरी कहानी, अंधविश्वास के भयानक दृश्यों में फ़िल्म का विषय खोजना बड़ा मुश्किल काम है।

सबसे अंतिम, सबसे लंबी मुलाकात श्री श्याम बेनेगल से हुई। बहुत दिनों से मैं उनसे मिलना चाहती थी, इसलिए न्यू एम्पैया सिनेमा में उन्हें देखकर बिना हिचक के मैं बात करने लगी। मैंने उनसे इंटरव्यू करने की प्रार्थना की, तो उन्होंने खुशी से हाँ कर दिया।

उनसे मिलने से पहले मुझे लगता था कि श्री बेनेगल शायद बहुत गंभीर और सख्त आदमी होंगे। इसलिए बातचीत करने में थोड़ा डर लगता था। लेकिन वे बिल्कुल ऐसे आदमी नहीं थे। वे एकदम बड़े मन के सीधे-सादे आदमी हैं। वे भारतीय लोगों में ही नहीं, विदेशी लोगों में भी लोकप्रिय हैं। फिल्मोत्सव में वे चलते हैं तो अनेक लोग 'हैलो, श्याम!" कहकर सादर नमस्ते करते हैं।

मैंने उनसे पंद्रह-बीस मिनट तक इंटरव्यू किया। उन्होंने अपनी हाल की फ़िल्मों "कलयुग" और "आरोहण" के बारे में बताया और अंत में आजकल की भारतीय फ़िल्मों के बारे में अपने विचार प्रकट किए।

"हम यह कहना चाहते हैं कि नई किस्म की फ़िल्म में एंटरटेनमेंट की अंडरस्टैन्डिंग भी चाहिए। अभी हमारे जो फ़िल्म बनाने वाले हैं, डिरेक्टर वगैरह उनको भी यह समझना चाहिए कि अपना एक ट्रेडिशन है, और इस ट्रेडिशन में कोई खराबी नहीं है, और नव रस की ज़रूरत है। हम वेस्टर्न किस्म के लोग नहीं हैं। साइकोलॉजिकली यह ज़रूरी होता है कि नव-रस किस्म की चीज़ चाहिए, जिसमें टॉटलिटी हो, एंटरटेनमेंट की टॉटलिटी, एक्सपिअरेंस की टॉटलिटी हो। हमारे नए फ़िल्म मेकर्स को यह समझना चाहिए।

सिर्फ़ वेस्टर्न ढंग से सोचने से यह बात नहीं होगी कि हम अपने ऑड्यन्स को समझने की कोशिश करें। क्योंकि हमारे ऑड्यन्स काफ़ी लोग अनपढ़ हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वे लोग बुद्धु हैं। वे बहुत समझदार हैं और सॅफिसटिकेटिड भी हैं। हमारे पुराने ढंग के लोग समझते हैं कि हमारे ऑड्यन्स लोग बुद्धु हैं। और नए ढंग की फ़िल्म बनाने वाले जो लोग हैं, वे समझते हैं कि उनको एड्यूकेट किया जाए। एड्यूकेशन की कोई ज़रूरत नहीं है, उनको समझने की ज़रूरत है।

हम लोगों को, हम जो फ़िल्म बनाते हैं, यह समझना चाहिए कि अपना ट्रेडिशॅनल रिस्पॉस भी है फ़िल्म, तो कोई भी आर्ट है। यह रिस्पॉसिबल ख्याल में रखते हुए पिक्चर अगर हम डिवेलप करें तो हम शायद एक नया ट्रेडिशन भी डिवेलॅप कर सकेंगे।

श्री श्याम बेनेगल की बातें मुझे बहुत पसंद आईं। इस इंटरव्यू के बाद उनकी फ़िल्म "आरोहण" देखी। देखकर मन भर गया। उनकी पुरानी फ़िल्म "भूमिका" इस अक्टूबर में जापान में आयोजित "Japan Foundation Film Festival – A Panorama of South Asian Films" में दिखाने जाने वाली है। उस फेस्टिवल में "भूमिका" के अलावा बुद्धदेव दास गुप्त की "नीम अन्नपूर्ण" (बंगाली) और अरविन्दन की "कुमत्ती" (मलयालम) भी दिखाई जाएगी। इस अक्टूबर में तोक्यो में फिर श्री श्याम बेनेगल से अनमोल मुलाकात होगी। मैं उत्सुकता से प्रतीक्षा करती हूँ।

फ़िल्म लिस्ट (सब कलकत्ता में)

1982. 1. 4.	New Empire	क़िस्मत
	"	OPPOL (Malayalam)
1. 5	"	SABAPATHY (Tamil)
	"	36 CHAWRANGHEE LANE (English)
	"	CHAALCHITRA (Bengali)
	"	BAISAKHI MEGH (Bengali)

1. 6	"	MALLESWARI (Telgu)
	"	RAMASHASTRI (Marathi)
	"	IMAGI NINGATHEM (Manipuri)
	"	AKRIET (Marathi)
1. 7	"	आदमी
	"	स्ट्रीट सिंगर
	ROXY	एक ही भूल
1. 8	New Empire	SANT TUKARAM (Marathi)
	"	AN AUGUST REQUIEM (English)
	"	AAJ-KAL-PARASHUR GALPA (Bengali)
1. 9	"	THYAGAYYA (Telgu)
	"	NENJATHAI KILLATHE (Tamil)
1. 10	Menoka	BILLA (Tamil)
	New Empire	BAISHEY SHRAVANA (Bengali)
	"	आधारशिला
1. 11	"	SWARGASEEMA (Telgu)
	"	JALSAGHAR (Bengali)
	"	उमराव जान
	"	DAKHAL (Bengali)
1. 12	"	चक्र
1. 13	Gorky Sadan	ELIPPATHYAM (Malayalam)
	Jyoti	एक दूजे के लिए
1. 14	Sisir Manch	आरोहण
	New Empire	PIKOO (Bengali)
	"	सद्गति
	"	THANEER THANEER (Tamil)

कहानी - चौराहे के बीच

तोमिओ मिज़ोकामि

"वीरेंद्र, क्या तुम सचमुच नहीं जानते कि सम्राट् अशोक कौन थे? तुम कैसे भारतीय हो जिसने भारत के ऐसे प्रसिद्ध राजा का नाम भी नहीं सुना! क्या तुम्हारे माँ-बाप ने तुम्हें कभी यह नाम नहीं बताया?"

वह हमारी इतिहास की कक्षा थी। एक अमरीकी अध्यापक मिस्टर स्मिथ के मुँह से जब मैंने भर्त्सना भरा यह प्रश्न सुना था तो मुझे जीवन में पहली बार बड़ा धक्का लगा था। वास्तव में सम्राट् अशोक का नाम मुझे नहीं मालूम था। इस बात को लेकर अध्यापक ने मुझे मेरे माँ-बाप के सामने बहुत लज्जित किया था। 'अशोक' का नाम ही क्या, मैं तो 'राम' और 'कृष्ण' के नाम तक से भी परिचित नहीं था। "तुम कैसे भारतीय हो!"– अध्यापक के ये शब्द मेरे कानों में बार-बार तीर की तरह चुभते रहे।

यद्यपि मैं सदा से ही भारतीय हूँ पर न सिर्फ़ मैंने कभी अपने को विशेष रूप से 'भारतीय' महसूस नहीं किया था, बल्कि इसकी कभी ज़रूरत ही न हुई थी। इस स्थिति का कारण यह नहीं कि मेरी माँ जापानी हैं, बल्कि इसलिए कि हमारे उस अंतर्राष्ट्रीय स्कूल में-- जहाँ मैं पढ़ता था, कोई भी छात्र अपनी राष्ट्रीयता की ओर सजग न था। स्कूल के आदर्श ने ही राष्ट्रीयता के आधार पर हम छात्रों में आपसी भेद-भाव करने को कभी प्रोत्साहित नहीं किया था।

बात पाँच साल पहले की है। तब मैं जापान के कोबे शहर में स्थित अंतर्राष्ट्रीय स्कूल की आठवीं कक्षा में पढ़ता था। इस स्कूल में शहर और उसके आसपास में रहने वाले विभिन्न प्रवासी विदेशियों के बच्चे पढ़ने आते हैं। परंतु इनमें जापानी बच्चों की संख्या बहुत कम है, क्योंकि उनके लिए जापानी स्कूलों में अधिक सुविधाएँ हैं। कोबे का यह अंतर्राष्ट्रीय स्कूल अमरीकी शिक्षा-पद्धति के अनुसार अंग्रेज़ी माध्यम में चलाया जाता है, लेकिन जापानी भाषा एक ऐच्छिक विषय के रूप में अवश्य रखी जाती है। कक्षा में और कक्षा के बाहर हम सब अंग्रेज़ी में ही बोलते थे। अमरीकी हो, चीनी हो या भारतीय, यहाँ कोई भेदभाव नहीं था। सबके साथ 'भाईचारा' ही हमारे इस स्कूल की विशेषता थी जिसका हम सबको हमेशा से गर्व था। लेकिन नव-नियुक्त इतिहास के उन्हीं अमरीकी अध्यापक ने पहली बार राष्ट्रीयता का नाम लेकर मेरा घोर अपमान किया था।

मिस्टर स्मिथ शिकागो विश्वविद्यालय से भारतीय इतिहास में एम०ए० करके आए थे और उन्होंने मद्रास विश्वविद्यालय में शोध कार्य भी किया था। वे तमिल भाषा में निपुण थे और उनको हिंदी भी आती थी। वे भारत-प्रेमी थे। भारतीय इतिहास, विशेष रूप से प्राचीन भारतीय इतिहास

में उनका गहरा ज्ञान था। स्कूल के पाठ्यक्रम में भारतीय इतिहास, अमरीकी इतिहास, चीनी इतिहास आदि ये सब अलग-अलग विषय न हो करके एक ही विषय; 'विश्व का इतिहास'— में सम्मिलित हैं। मिस्टर स्मिथ हमें यही 'विश्व का इतिहास' पढ़ाते थे। परंतु पाठ्य पुस्तक में जहाँ कहीं भी भारत से संबंधित प्रसंग आ जाता तो वे उसी पर ज़ोर दे-देकर बोलते थे और आवश्यकता से अधिक विस्तार से उसका व्याख्यान करते थे। हमें यह सब बहुत बोर लगता था। इसीलिए वे हम छात्रों में लोकप्रिय नहीं थे, भले ही वे बहुत मेहनत तथा जोश के साथ पढ़ाते थे। हमें उनसे यह शिकायत थी कि उनका पढ़ाने का ढंग संतुलित नहीं है। कई छात्रों ने यहाँ तक कहा था कि वे केवल अपना ज्ञान हमें दर्शा रहे हैं— बस! उनको यूनिवर्सिटी में पढ़ाना चाहिये था। शुरू-शुरू में मेरी समझ में नहीं आया था कि उन्होंने किस इरादे से मुझे डांटा है। बाद में पता चला कि उनके विचार में हरेक भारतीय को विशेष रूप से भारतीय इतिहास और संस्कृति से परिचित होना चाहिए और उनकी दृष्टि में मैं पूर्णरूप से एक भारतीय था।

मेरे बारे में उनकी धारणा बहुत कुछ सही भी थी। मैं 19 वर्षीय वर्णसंकर भारतीय हूँ। मेरे पिताजी पंजाबी हैं। उनका नाम राजेन्द्र खन्ना है और मेरी माँ का नाम मारीको खन्ना है। पिताजी द्वितीय महायुद्ध में फौजी थे। उन्होंने सिंगापुर में जापानी सेना के अत्याचार देखे थे इसलिए प्रारंभ में उनके मन में जापान के प्रति घृणा की भावना का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। जब द्वितीय महायुद्ध समाप्त हुआ तब वे 'ऑक्यूपेशन् आर्मी' में भरती होकर जापान आए। तबसे धीरे-धीरे उनके मन से जापान के प्रति घृणा की भावना दूर होती गई। अब वे जापानियों के गुणों को भी पहचानने लगे थे और जब कोबे में मेरी माँ के साथ उनकी प्रथम भेंट हुई और वे दोनों प्रेम बंधन में हमेशा के लिए बंधे, तब से जापान के प्रति उनकी द्वेष-भावना पूर्ण रूप से प्रशंसा में बदल गई। उन्होंने न केवल मेरी माँ से प्रेम किया अपितु जापान की हरेक चीज़ से प्रेम किया। शादी के बाद पिताजी सेना छोड़ के मशीन और कपड़े के आयात-निर्यात के काम में जुट गए। तब तक जापान भी स्वतंत्र हो चुका था। उन्होंने दिन-रात बहुत परिश्रम किया। जापान की तरक्की के साथ-साथ उनके व्यापार ने भी तरक्की की और अब वे कोबे शहर के सबसे सफल एवं संपन्न प्रवासी भारतीयों में से एक हैं। उन्होंने कभी जापान में रहकर जापानी नागरिक बनने का फैसला किया था, परंतु राष्ट्रीयता के संबंध में जापान का कठोर कानून हमेशा उनके आड़े आया। चालीस साल से वे जापान में ही रह रहे हैं। उन्हें जापानी भाषा बोलने का अच्छा अभ्यास हो गया है और सबसे बड़ी बात यह है कि उनको जापान से गहरा प्रेम है, फिर भी न तो जापानी सरकार ने उनको अपने देश की राष्ट्रीयता प्रदान नहीं की, न वह करेगी ही। यह कानून सभी विदेशी 'पुरुषों' के लिए लागू है। मेरी माँ भारत की राष्ट्रीयता ले सकती थी पर जापान में रहने के लिए इसका कोई फायदा नहीं, इसलिए माँ की राष्ट्रीयता जापानी ही बनी रही। बच्चों की राष्ट्रीयता पिता की राष्ट्रीयता के अनुकूल होती हैं, इसलिए मैं जापान में पैदा होकर भी हमेशा के लिए भारतीय हूँ। हाँ, मेरी

छोटी बहन अगर जापानी लड़के के साथ शादी करेगी तब उसे जापान की राष्ट्रीयता मिल सकती है।

खैर, माँ-बाप की शादी के बहुत वर्ष के बाद मेरा जन्म हुआ था, इसलिए मैंने उनका विशेष प्रेम पाया। इस संपन्न परिवार में मेरा पालन-पोषण सुख-शांति से हुआ। उन्होंने मुझे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने दिया। छोटी बहन से भी मेरा बहुत स्नेह था। स्कूल में सभी सहपाठियों से मेरी अच्छी बनती थी। पड़ोस के जापानी बच्चों के साथ भी मेरी दोस्ती थी। पिता से पुरुषार्थ, माँ से कोमलता; पिता से सुंदर आकृति, माँ से गोरा रंग, पिता से बर्ताव का खुलापन, माँ से शांत स्वभाव तथा पिता से विनोद-प्रियता, माँ से गंभीरता--यह सब मुझे संस्कारगत रूप में मिला है। व्यक्तित्व के इन्हीं गुणों के कारण मुझे सब ने हमेशा पसंद किया। ट्राम या बस में प्रायः मैंने लड़कियों को अपनी ओर ताकते हुए महसूस किया था। मुझे देखकर कुछ लड़कियाँ तो खुले आम कहती थीं—"वाह! कितना सुंदर लड़का है!" मेरे माँ-बाप अपने इस योग्य पुत्र का परिचय दूसरों से बड़े गर्व के साथ कराते थे।

घर में हम लोग जापानी तथा अंग्रेज़ी दोनों भाषाएँ बोलते हैं- माँ के साथ ज़्यादातर जापानी में और पिता के साथ अंग्रेज़ी में। माँ को टूटी-फूटी अंग्रेज़ी आती है लेकिन पिता धारा-प्रवाह जापानी बोल सकते हैं। हाँ, उनको जापानी भाषा का अक्षर ज्ञान नहीं है, क्योंकि उन्होंने कभी इसकी विधिवत शिक्षा नहीं पाई थी। मेरी हालत भी यही थी। मैंने कक्षा में थोड़ी बहुत जापानी लिपि सीखी अवश्य थी परंतु उसे अच्छी तरह से पढ़ना-लिखना कभी नहीं सीखा। इसलिए पिता के साथ स्कूल संबंधी किसी भी प्रसंग को छेड़ने के लिए मुझे हमेशा अंग्रेज़ी का ही सहारा लेना पड़ता रहा है। पिताजी अपने भारतीय मित्र-मंडल में हिंदी अथवा पंजाबी में बात करते थे, पर घर में न जाने क्यों हमारे साथ कभी इन भाषाओं में नहीं बोले। परिणामतः मैं हिंदी या पंजाबी सीख ही न पाया। माँ-बाप ने मुझ पर कभी किसी तरह का दबाव नहीं डाला। उनकी यह 'उदारता' केवल भाषा तक ही सीमित नहीं थी बल्कि सांस्कृतिक क्षेत्र में भी थी। हम लोगों ने घर में कभी कोई जापानी उत्सव मनाया हो—मेरी स्मृति में तो नहीं आता। आसपास के जापानी बच्चे 'नव वर्ष,' 'बाल दिवस,' 'गुड़िया उत्सव' आदि धूमधाम से मनाते थे पर हमारे घर में यह सब कभी नहीं हुआ। माँ ने न कभी इन त्योहारों के बारे में मुझे बताया न जापानी बच्चों की कहानियाँ सुनाईं। जापानी संस्कृति से वंचित होने पर भी मेरे जापानी समाज में अस्वीकृत न होने का एकमात्र कारण मेरा सभ्य व्यवहार था जो माँ की देखा देखी मैंने सीखा था। पिताजी ने भी कभी घर में 'होली,' 'दशहरा', 'दीवाली', 'राखी' इत्यादि त्योहार नहीं मनाये जिसके कारण मैं भारतीय संस्कृति से भी पूरी तरह वंचित रहा। माँ-बाप सदा से बहुत व्यस्त रहे सुबह से रात तक दफ्तर में काम करते। पिताजी का व्यापार बढ़ते रहने के साथ-साथ माँ को भी उनकी मदद करनी पड़ी थी। त्योहार और मेरी शिक्षा के बारे में माँ-बाप दोनों अन्योन्याश्रित थे--माँ के मन में यह विश्वास

था कि पिताजी मुझे संभाल लेंगे और पिताजी के मन में यह कि माँ सब कुछ करेंगी। ऐसी हालत में 'अशोक', 'राम', 'कृष्ण', 'राजकुमार शोतोकु', 'तोकुगावा इएयासु' आदि नामों से अनभिज्ञ होना स्वाभाविक था।

मिस्टर स्मिथ से पहली बार अपने व्यक्तित्व के इस अधूरेपन की भर्त्सना सहकर मैंने अपनी तरफ से भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के बारे में जानकारी प्राप्त करने की बहुत कोशिश की। कई किताबें पढ़ीं, पर पृष्ठभूमि के अभाव के कारण यह सब बहुत कठिन लगा। एक पुस्तक में लिखा है- "अशोक मौर्य राजाओं में सबसे अधिक प्रसिद्ध था। उसका भारतवर्ष में हुए महानतम शासकों में प्रमुख स्थान है।" पर 'मौर्य' क्या चीज़ है? महानतम शासकों में अशोक का प्रमुख स्थान क्यों है? एक के बाद एक प्रश्न मेरे दिमाग को कचोटने लगे। स्कूल के अन्य विषयों की तैयारी करने में यह सब बाधक बना। गणित, विज्ञान आदि की कक्षाओं का अनुसरण करना कोई आसान काम नहीं था। दूसरी ओर मिस्टर स्मिथ के पास जाने की मेरी हिम्मत भी नहीं थी।

एक दिन पिताजी कोबे के 'इंडिया-क्लब' में 'गणतंत्र दिवस' के उपलक्ष्य में हुई पार्टी में शामिल होने के लिए मुझे ले गए। वहाँ सैकड़ों व्यक्ति उपस्थित थे। प्रवासी भारतीयों के साथ जापानी अतिथि भी काफ़ी संख्या में आमंत्रित थे। पिताजी लोगों से हँस-हँसकर बातें करते रहे और भाग्य योग से वहाँ मेरा परिचय ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय के एक अध्यापक और कुछ छात्रों से कराया गया जो भारतीय भाषाओं का अध्ययन-अध्यापन कर रहे थे। वे सब हिंदी में ही बोलने लगे। मेरे यह कहने पर कि मुझे हिंदी नहीं आती, अध्यापक ने अंग्रेज़ी में बोलना शुरू किया परंतु उनमें से एक विद्यार्थी अजीब-सा मुँह बनाकर हिंदी में ही कहने लगा-- "आप कैसे भारतीय हैं जो हिंदी भी नहीं जानते!" इसके बाद उसने क्या-क्या कहा, मेरी समझ में नहीं आया। लेकिन उसके मुख से निकले शब्दों—"आप कैसे भारतीय हैं!" ने एक बार फिर तीन साल पहले मिस्टर स्मिथ से खायी चोट को ताजा कर दिया। पर मेरी इस पीड़ा को कौन समझेगा? तब से मैं अपने आत्मविश्वास को खो बैठा हूँ। कई बार सोचा कि हिंदी सीखूँ पर सोचते-सोचते रह गया। मेरी ही 'हीन ग्रंथि' ने मेरे दिल को जकड़े रखा।

इस घटना को बीते दो साल हो चुके हैं। मैंने उस अंतर्राष्ट्रीय स्कूल को किसी तरह से पास कर लिया है। लगभग मेरे सभी सहपाठी अब किसी न किसी विश्वविद्यालय में प्रवेश ले चुके हैं, परंतु मैं कुछ नहीं कर पा रहा हूँ। मैं दिशाहीन हूँ। मुझे न तो जापान के किसी विश्वविद्यालय में प्रवेश मिलेगा न भारत के किसी विश्वविद्यालय में कई बार सोचा कि पिताजी के व्यापार में हाथ बटाऊँ पर इसका साहस नहीं, भले ही पिताजी भविष्य में मुझसे ऐसा ही चाहेंगे। परंतु मेरे जीवन की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि मैं तन से भारतीय हूँ, पर मन से कहीं का नहीं। इसलिए आज मैं चौराहे के बीच खड़ा हूँ। खड़ा रहूँगा--जाने कब तक.......।

ममता कालिया की कहानियों में मध्यवर्गीय नारी का चित्रण

एदेरा कोदामा

हमने इस समय तक ममता कालिया की कुछ कहानियाँ और उपन्यास पढ़े हैं। हमें यह कह डालने की हिम्मत नहीं है कि इन कहानियों और उपन्यासों के सूक्ष्म हिस्सों तक हम अच्छी तरह समझ सके, लेकिन जितना हमारी समझ में आ सका उतनी ही चीज़ों के बारे में बताना आवश्यक है। इस लेख में भारत की मध्यवर्गीय नारी के जीवन और उसकी भावनाओं को आधुनिक जापान की मामूली नारी के जीवन और भावनाओं की तुलना में देखा जाएगा। इसके लिए हम नारी के जीवन को तीन भागों में बाँटकर विचार करेंगे। पहले जन्म और बचपन फिर जवानी, अंत में विवाह के बाद।

मध्यवर्गीय परिवार में अगर बच्ची का जन्म हो तो इसकी परिवार के सदस्यों पर क्या प्रतिक्रिया होगी। निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते हैं कि यह बच्ची को हार्दिक स्वागत मिलेगा। भारी दहेज की प्रथा के कारण बहुत-सी चिंताओं के कारण, आखिर लड़की दूसरे की हो जाने वाली है इसके कारण परिवार के लोग मन ही मन बच्ची को बड़ा बोझ समझते हैं। यह “प्रेम कहानी” पृष्ठ 28 पर स्पष्ट देख सकते हैं। जन्म से लड़की विशेषकर पिता और बड़े भाई पर बड़ी ज़िम्मेदारी महसूस कराती है। हमें याद आ जाती है “दो ज़रूरी चेहरे” के भाई और “मैं” की! उल्टा लड़की को जन्म से लगातार परिवार के प्रति चौकन्नी रहना पड़ता है। उसके ऊपर जो कर्तव्य अपेक्षित है उसके अनुसार जीने के लिए अपने-आप को दबाना पड़ता है।

जापान में पैदा लड़का हो या लड़की, यह कोई फिक्र की बात नहीं। लेकिन अधिकांश महिलाएँ बीसवीं की उम्र के अंदर विवाहित हो जाती हैं। इसलिए जापान में भी लड़कियाँ सुखी ब्याह के लिए सुरक्षित रखने की चिंता माँ-बाप को देती हैं। पर माता-पिता लड़की के जन्म को बुरा तो बिल्कुल नहीं मानते।

अब बचपन के बारे में जिक्र करेंगे। भारत में लड़के और लड़कियाँ आरामदेह और मुफ्त तरीके से पाले जाते हैं। उदाहरण के लिए भारत के बच्चों को जापान के बच्चों की तरह शतरंजी नहीं पहनायी जाती है। उन्हें मूत्र त्याग के समय बेचैनी और कष्ट के अनुभव करने की आवश्यकता नहीं है। यह बात बच्चों पर बड़े होने में कैसा प्रभाव डालती होगी? एक ओर यह है कि बच्चों ने असुविधा के बहुत कम अनुभव किए हैं, इसलिए अपने पर नियंत्रण रखने में कम योग्यता उन्हें मिलेगी। दूसरी ओर यह है कि आखिर शैशव की बात है। सब बच्चे अपने आप शौचघर जाना सीख लेते हैं। शैशव में बड़ों का शासन न होने से बच्चों क स्वैच्छिक और प्रत्यक्ष स्वभाव प्रकट हो जाता है। इन दोनों में से कौन-सा रूप ठीक होगा, यह हम यहाँ निश्चय नहीं कर सकते।

परंतु बचपन के बाद भारतीय लड़कों और लड़कियों को अचानक शुद्ध-अशुद्ध का प्रत्यय सिखला दिया जाता है। फिर दोनों को आपस में छूना मना किया जाता है। लड़की अगर किसी तरह का भी लड़के से करती हो--एक खत से भी--तो उसकी बड़ी बदनामी होती है। यह बात ममता कालिया के उपन्यास में जहाँ-तहाँ दिखायी देती है। दोनों का ऐसा कड़ा विभाजन लड़कियों के लिए लड़कों के प्रति काल्पनिक अभिलाषा का कारण हो जाता है। जैसे कि "प्रेम कहानी" में यशा।

फिर अपने भाई और माता-पिता से हमेशा की तरह पर्यवेक्षण किया जाने के कारण लड़की स्वयं भी उनका ख्याल रखती है। वह न चाहते हुए भी बराबर उनकी ओर सचेतन रहती है।

यह स्थिति विवाह के बाद और खराब हो जाती है। पत्नी अपने पति और पति के परिवार को सब कुछ दे देती है। वह उनसे सावधान रहती है, उनकी आज्ञाकारी होती है। वह कभी अपनी इच्छा स्पष्ट नहीं कर सकती है। वह एक नौकरानी हो जाती है। लड़कियों को यह मानने को कहा जाता होगा कि अपना पति देवता होता है, पत्नी है नौकरानी। यह "राइवाली" मैं साफ़ दिखायी देता है। पत्नी का नाम ससुराल वालों से बदला जाता है। इसका मतलब यह है कि इस लड़की का व्यक्तित्व संपूर्ण रूप से उपेक्षित है। ज़रा सोचिये तो समझ सकते हैं कि किसी के नाम में बुरा अर्थ लगाकर पुकारना या किसी के ऊपर गंदा नाम रखना। उस व्यक्ति के सारे अस्तित्व को बिगाड़ने या विकृत करने के बराबर है। नाम आदमी के अस्तित्व से घनिष्ठ रूप से संबद्ध होता है। पर पत्नी का नाम बड़ी आसानी से बदल दिया जाता है। यह बात नारी के व्यक्तित्व पर बड़ी हानि अवश्य पहुँचाती है।

मेरा अनुमान है "सीट नंबर छह" की नायिका उच्च वर्ग की नारी होगी। वह पढ़ी-लिखी औरत है और अपने आप को दूसरी औरतों से अलग समझती है। हमें वह घमंडी-सी लगती है। परंतु "एक अदद औरत" में देखिए नायिका घर के लोगों के व्यवहार के अनुसार यंत्रवत् चलती है। वह अपने पति के हर काम से सुखी-दु:खी हो जाती है। उसका कोई वज़ूद नहीं, वह इसे स्वयं जानती भी है।

परंतु इन बातों से यह कहना गलत है कि नारी में अहं भाव नहीं है। "आज़ादी" में हम देख सकते हैं है कि बहू और सास परस्पर इतना विरोध करती है माना वे कुत्ता और बंदर हों। जापान में इतना खुला झगड़ा तो नहीं होगा, पर बहू सास का संबंध जापान में भी अच्छा नहीं है। बशर्ते कि जापान में बहुत-सी बहुएँ सास के साथ रहना नापसंद करती हैं, इसलिए झगड़ा भी कम होता है।

जो हो, उस घटना ने हम लोगों को आतंकित किया जिसमें सास और ननद ने बहू को तेल से जला दिया था। हम विश्वास नहीं कर सकते थे। भारतीय कितने भी हिंसक स्वभाव के हों, वे और हम मनुष्य हैं। क्या अंतर होगा। इसमें ज़रूर कुछ न कुछ कारण है। क्या यह गुस्सा के कारण है जो बाहर नहीं निकल सकता है? "लड़के"।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार लाचारी और आत्मविश्वास की हीनता आगे बढ़कर आक्रमणशीलता हो जाती है और मनुष्य के लिए सबसे बुरा, सबसे हानिकर यह है कि उसकी योग्यता को पूर्णत: बढ़ाने से रोकना। बिना अंतराल की निरर्थकता, निराशा का अनुभव, बाहर न किया जाता क्रोध इसी के कारण हुआ करता है। क्रोध अगर अपने आप पर उतारें या दूसरों के प्रति, वह दुःखद घटना को पहुँचाता है।

लेकिन यह बात जाति व्यवस्था की समस्या और भारत की आर्थिक स्थिति आदि से भी संबद्ध है इसलिए हम इसके बारे में बताना यहाँ छोड़ना उचित समझते हैं।

अब विवाह के बारे में जापान में विवाह लड़की की चाह से आधारित है। उसकी माँ-बाप का मनोरथ भी इस निर्णय पर असर देता है। पर सबसे ज़्यादा अधिकार लड़की के हाथ में है। भारत में इससे बिल्कुल दूसरा हाल है। निर्णय माँ-बाप करते हैं और चुनाव की शर्त पति का व्यक्तित्व नहीं बल्कि उसकी जाति, स्वास्थ्य, संपत्ति आदि हैं। लड़के के माँ-बाप भी लड़की को उसकी सुंदरता, रंग, जाति आदि से चुनते हैं। विवाह के बाद लड़की का जीवन सिर्फ़ घर पर ही बिताया जाता है। किसी से भी मन से वह बातचीत नहीं कर सकती है। कितना अकेला जीवन! जापान में भी अकेली पत्नी बहुत है। पति काम करके लौटते हैं पर उनसे नहीं बोलते हैं, वह घर पर ही रहती है उसके पास बताने की कोई बात नहीं है। परंतु जापान में नारी समाज में निकल सकती है। वह एनवायरलमेंटल पॉलूशन के प्रति आंदोलन कर सकती है, अंशकालिक काम कर सकती है, मन बहलाने के लिए टेनिस क्लब में जा सकती है। यह सब भारत की मध्यवर्गीय नारी को मुश्किल होगा। लेकिन जीवन में खोखलापन दोनों देशों की घर की पत्नियों को समान है। यह भावना व्यस्त काम के बीच में आती है--जैसे कि "बातचीत बेकार है" में। लेकिन उसकी तरह अपने मन के अंदर की बात पर स्वयं दे सकने वाली नारी भारत में संख्या में बहुत नहीं होंगी।

कहानियाँ पढ़ते समय हमें यह बात निश्चित करना मुश्किल लगता है कि यह किस वर्ग के लोग की कहानी है या यह भारत के किस भाग में, कैसी परिस्थिति में हुई घटना है। कहानी में लिखी हुई दृश्य को हृदय की आँखों से सजीव देखना चाहिए। लेकिन जो चीजें या परिस्थितियाँ या मनुष्य जापान में नहीं होते, उन्हें मन में बनाना मुश्किल है। उन कहानियों को हम समझ सकते हैं जिनमें भारत की चीज़ों का वर्णन कम होता है और व्यक्तियों के मन की बातें ही लिखी हुई है। ऐसी ही कहानियाँ ममता कालिया ने ज़्यादा लिखी हैं।

[कुमारी कोदामा, ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग में चतुर्थ वर्ष की छात्रा हैं।]

"प्रेम कहानी"

माकोतो फुजिवारा

मैंने ममता कालिया जी की "प्रेम कहानी" के पहले कोई आधुनिक हिंदी उपन्यास नहीं पढ़ा था इसलिए पन्ना उलटते समय मैं अजनबी बातों से आश्चर्य करता रहा। मैं सोच बैठा था कि भारतीय उपन्यास के अधिकांश हिस्से में धर्म या जाति का वर्णन किया जाता है लेकिन जल्दी मैं गलत निकल गया। ऐसा वर्णन कहीं भी नहीं आया। इसके बदले में मुझे उन दृश्यों को देखना पड़ा जिसकी मैंने हिंदी उपन्यास में कोई प्रत्याशा न की थी। एक तो यह है कि पात्र किस्से में अंग्रेज़ी बहुत बोलते हैं। हाँ, जापान में भी अंग्रेज़ी से इतना प्रभावित है कि हर रोज़ दूरदर्शन या सूचना पट्ट में बहुत से अंग्रेज़ी शब्द आते हैं, पर जापानी आपस में तो कभी अंग्रेज़ी में नहीं बोलते। इसलिए यह उपन्यास पढ़ते हुए कभी-कभी मुझे ऐसा लगा मानों अब मैं हिंदी उपन्यास नहीं, अंग्रेज़ी उपन्यास पढ़ रहा हूँ। इतना ही नहीं, बीच में रूसी उपन्यासकार टॉल्सटॉय के नाम को भी आते देखकर फिर आश्चर्य हुआ। दूसरे, भारतीय मध्य वर्ग का संप्रदाय है। हम विदेशी पता नहीं क्यों भारत को केवल पंडितों का और गरीबों का पुराना देश समझना पसंद करते हैं पर यह बिल्कुल गलत है। मैं भी भारतीय मध्यवर्गीय जीवन के बारे में बहुत अधिक नहीं जानता था इसलिए अच्छा ही हुआ कि यह उपन्यास पढ़कर मुझे उस जीवन के बारे में बहुत पता चला।

मध्यवर्गीय जीवन में पति और पत्नी के कार्य और कर्तव्य साफ़-साफ़ बँट जाते हैं। पति बाहर जाकर किसी कंपनी में काम करता है और उसके लिए पर्याप्त वेतन पाता है। उधर पत्नी तो अगर कॉलेज में गई थी तो भी उसे घर के अंदर खाना बनाने, कपड़ा धोने या सफाई करने जैसे छोटे-मोटे काम ही करने पड़ते हैं। दिन में पति हमेशा नौकरी से जुटते हुए व्यस्त होता है और उसके पास कोई खाली समय नहीं है। जब पति घर वापस लौट आता है, तो वह इतना थक चुकता कि उसे पत्नी से बातचीत करके समय बिताने में बड़ी तकलीफ होती है। जया और गिनेस का दांपत्य जीवन भी इससे अपवादिक नहीं था--इसके बावज़ूद दोनों ने स्वयं ही इश्क लड़ा कर शादी की और शायद गिनेस अब भी जया के प्रति प्रेम कर रहा हो।

यह उपन्यास पढ़कर मुझे सबसे बड़ा अचंभा यह पढ़कर हुआ कि अंकल जया के कूल्हे और जांघे छूने के लिए बिस्तर में घुस आया जबकि आंटी एकदम पास नींद से सो रही है। यह पढ़कर मुझे बहुत बुरा लगा और एक साथ मेरा मन खराब हो गया। क्योंकि ऐसी बात जापान में कभी नहीं हो सकता। जया के माँ-बाप ने अंकल पर सहज ही विश्वास कर लिया था इसलिए माँ-बाप से अलग होकर अंकल के यहाँ जया रहने लगी थी। मुझे लगता है कि अंकल

के दिमाग में रिश्तेदार की जिम्मेदारी का नाम व निशान तक नहीं है। पर यह उपन्यास यह बात नहीं मालूम होने देता कि इस आदमी की जिम्मेदारी की कमी किससे उत्पन्न हुई है।

सर्वतः मैंने यह उपन्यास पढ़ने में बड़ा मज़ा लिया। खास तौर पर मुझे उस समय का हिस्सा अच्छा लगा जब गिनेस और जया अभी नहीं शादी करते। वे दोनों बहुत सीधे और भोले लगे पर ब्याह के बाद गिनेस तुरंत घमंडी और ठंडा निकल गया। सच कहूँ तो मैंने यह उपन्यास इस तरह पढ़ा था कि जो उन दोनों के बीच पैदा हुआ, वह प्रेम शादी से होकर कैसा बदलेगा। पढ़ कर मुझे ऐसा लगा कि उनके मानसिक प्रेम करके छोटे-मोटे काम, नौकरी आदि के सामने धीरे-धीरे गीली मिट्टी का लौंदा हो गया।

मैंने पिछले साल चार-पाँच हिंदी उपन्यास और कई कहानियाँ भी पढ़ी थीं। मैं जल्दी से पढ़ने और सब किस्सा पाने का आदी हो गया लेकिन मुझे इस बात की चिंता भी है कि मैं उन उपन्यासों के किस हद तक का मुख्य उद्देश्य समझ सकता हूँ, क्योंकि मैं भारतीय आचार-विचार या हिंदी के एक-एक शब्द का महत्त्व अभी बहुत नहीं जानता। मैं इस वसंत की भारतीय यात्रा में इन बातों का भी अध्ययन करना चाहता हूँ।

[श्री फुजिवारा ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय में हिंदी तृतीय वर्ष के छात्र हैं।]

आपके पत्र

"ज्वालामुखी" का दूसरा अंक मिला। मैं आपको हार्दिक धन्यवाद देती हूँ। यह पत्रिका बहुत ज्ञानप्रद और रुचिकर है। क्या प्रशंसनीय है आपका परिश्रम।

Prof. Dr. Horstman
Rheinisch Fiedrich-Wilhelms
Universitat, E. R. G.

*

मेरे एक अभिन्न दोस्त के पास आज ही "ज्वालामुखी" प्रति आई। वह मैं पूरा पढ़ गया। बड़ा मज़ा आया इसे पढ़ते वक़्त.... चूँकि आप ने जो भी साहित्य दिया है अपनी ओर से वह बड़ा ही दुर्लभ और भारतीय लेखकों के लिए लाभान्वित है। "एक रिक्शे वाले की कहानी" तोमिओ मिज़ोकामि द्वारा लिखित कहानी भारतीय सोच के धरातल पर काफ़ी सुंदर बन पड़ी।

सुरंजन (लेखक)

*

आपकी भेजी पत्रिका "ज्वालामुखी" यथासमय मिल गई थी। ज्ञात हुआ कि यह संभवतः पत्रिका का दूसरा अंक है। दुर्भाग्य से पहला अंक मुझे नहीं मिल पाया था। "धर्मयुग" के पिछले अंक में हम लोगों ने उसकी समीक्षा छापी है।

डॉ० धर्मवीर भारती
संपादक "धर्मयुग"

*

यहाँ से हिममंडित पर्वत श्रेणियाँ जब स्पष्ट दिखाई देती हैं।
आपके "ज्वालामुखी" को देखकर कुछ कमी का अनुभव करता हूँ।

वाचस्पति
हिंदी प्रवक्ता
राजकीय महाविद्यालय जयहरिकाल

*

"ज्वालामुखी" में सब हो स्तरीय लेख हैं। और जापान व भारत को एक सूत्र में साहित्यिक रूप से बांधने का प्रयास है। रिक्शेवाले की सत्य कथा स्मरणीय रहेगी।

वीरेन्द्र जैन पहाड़ वाले
संपादक "अंतर्ज्वाला" बिजनौर

*

जापानी भाइयों के विचार, दर्शन तथा संस्कृति और हिंदी प्रेम को इंगित करने वाला "ज्वालामुखी" का सितंबर 1981 का अंक मिला, धन्यवाद। इस प्रकार का प्रगतिशील प्रयास जापान एवं भारत से साहित्य को एक-दूसरे से शब्दों के माध्यम से अवगत कराएगा।

एस. एन. भार्गव
संपादक "प्रतिबिंब"

*

"ज्वालामुखी" का अंक मिला, धन्यवाद।

यह देखकर सचमुच बड़ी प्रसन्नता हुई कि आप लोग हिंदी में इतना काम कर रहे हैं। यही कामना है कि आप लोगों के माध्यम से दोनों देशों में सांस्कृतिक संबंध विकास पाए।

डॉ० प्रेम शंकर
हिंदी विभागाध्यक्ष
सागर विश्वविद्यालय

*

"ज्वालामुखी" में प्रकाशित रचनाएँ, भाषा, विचार और स्तर की दृष्टि से उच्चकोटि की हैं। सभी रचनाकारों को मेरी समस्त हार्दिक बधाइयाँ व तमाम शुभकामनाएँ। "ज्वालामुखी" के दूसरे अंक में श्री आकिरा ताकाहाशि ने मेरे कथा साहित्य पर अपना समीक्षात्मक लेख प्रस्तुत किया है। मुझे यह जानकर बहुत खुशी हुई है कि श्री ताकाहाशि को मेरी कहानियाँ अच्छी लगती हैं और उन्होंने गहराई से मुझे पढ़ा है।

मिथिलेश्वर (लेखक)

*

मुझे नहीं पता था कि जापान से भी हिंदी में पत्रिका निकलती है।

आपके इस सफल प्रयास पर बधाई। मुझे यह नहीं पता था कि जापान में हिंदी विषय पर इतना ध्यान दिया जा रहा है।

डॉ० मोहन कान्त गौतम

University of Leiden, Netherlands

*

“ज्वालामुखी” का एक अंक यहाँ देखने को मिला, जिज्ञासा उठ खड़ी हुई। सुखद आश्चर्य हुआ कि आप और आपके साथी जापान से यह हिंदी पत्रिका संपादित प्रकाशित कर रहे हैं और रचनाएँ भी यहाँ से, वहाँ से जुटा लेते हैं।

राजेन्द्र प्रसाद सिंह

संपादक “आइना”

*

आपकी बहुत सुंदर “ज्वालामुखी” नामक पत्रिका मिल कर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। बहुत अचरज की बात है कि जापान के हिंदी जानने वाले विद्वानों और लेखकों की अपनी पत्रिका है। पत्रिका को जो आपने मुझे भेजा, उसमें मेरे लिए कई लाभदायक लेख थे। मुझे बहुत खुशी है कि आपने मुझे “ज्वालामुखी” का दूसरा अंक दिया। बहुत धन्यवाद।

डॉ० रिचर्ड बार्ज

Australian National University

*

आपके द्वारा कृपापूर्ण प्रेषित “ज्वालामुखी” पत्रिका के सितंबर 1981 तथा 1980 के अंक पाकर हार्दिक प्रसन्नता हुई। अनेक धन्यवाद। आपके पत्र के माध्यम से दो संस्कृतियों में परस्पर परिचय हो रहा है। इससे विचार की नई दिशा प्राप्त हो सकेगी।

डॉ० आनंदप्रकाश दीक्षित

हिंदी विभाग अध्यक्ष

पुणे विद्यापीठ

*

मैं आपको मेरा हार्दिक धन्यवाद कर रही हूँ। आप से भेजी हुई पत्रिका "ज्वालामुखी" के लिए। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि जापान में हिंदी प्रेमियों के लिए ऐसी पत्रिका प्रकाशित है।

प्रो० साजानोवा

Mosco University

*

यह "ज्वालामुखी" का सामयिक प्रकाशन अपने आप में अनोखा प्रयास है।

नागर्जुन

(कवि)

*

"ज्वालामुखी" की प्रति मिली। साभार धन्यवाद।

हिंदी के प्रति लगन और जिज्ञासा तथा भारतीय संस्कृति एवं भाषा के प्रति इस तरह का अनुराग और स्नेह वास्तव में यह आप लोगों की सहृदयता की निशानी है।

निरंजन

(कवि)

*

बड़े हर्ष एवं संतोष की बात है कि भारत से सुदूर होने वाले जापान जैसे देश में हमारी राष्ट्रभाषा का अध्ययन, चिंतन एवं मनन होता है। हमारी राष्ट्रभाषा के विश्व प्रचार में आप की पत्रिका का प्रकाशन एक ऐतिहासिक घटना है जो भविष्य में राष्ट्रभाषा विकास के संदर्भ में स्वर्णाक्षरों से अंकित होगी।

डॉ० सुनील कुमार लपटे

महावीर विद्यापीठ

कोल्हापुर

*

"ज्वालामुखी" के बारे में दो-तीन पत्रों में पढ़ा।

पढ़कर खुशी हुई कि जापान में हिंदी पत्रिका का एक अंकुर फूटा। दो कारणों से "ज्वालामुखी" को देखने की अभिलाषा थी; एक, संभवतः इस पत्रिका के माध्यम से विदेशों में हिंदी की स्थिति पर कुछ प्रकाश पड़ सकेगा, दो, जापान में अब तक हिंदी में हुई कार्य प्रगति का

विवरण परिशिष्ट में प्रकाशित हुआ है। विदेशों में हिंदी "ज्वालामुखी" के विस्फोट के लिए बधाई स्वीकार करें।

दिलीप पाण्डेय
उप-संपादक 'प्रगति मंजूषा'

*

आप द्वारा प्रेषित "ज्वालामुखी" पत्रिका मिली।

तदर्थ हार्दिक धन्यवाद। पत्रिका इतनी उपयोगी एवं बाह्य रूप इतना नयनाभिरामी लगा कि एक साँस में पूरा पढ़ गया।

डॉ० कामता कमलेश
हिंदी विभाग अध्यक्ष
जे० एस० हिंदू स्नातकोत्तर कॉलेज

*

"ज्वालामुखी" का प्रथम अंक प्राप्त हुआ। बधाई। हार्दिक धन्यवाद।
पत्रिका का उद्देश्य स्तुत्य है। उद्देश्य में आप सफल हों, यही मेरी मनोकामना है।

डॉ० शंकर राजू नाइडू
हिंदी विभाग अध्यक्ष
मद्रास विश्वविद्यालय

भारत में दस महीने

चिहिरो तानाका

अपनी इच्छानुसार भारत में रहते हुए लगभग दस महीने बीत गए, पर कभी-कभी न जाने क्यों मैं अचानक उदास हो जाती हूँ। जब मैं पहली बार घूमने भारत आई थी तब मैं वाराणसी में कुछ दिन ठहरी थी। उस समय मैं गंगा देखने घाट जाती थी। गंगा के घाट पर बैठकर सूर्योदय सूर्यास्त और गंगा में स्नान करते भक्तों को देखती रहती थी। तभी मुझे महसूस होता था कि मेरे दिल में एक अजीब-सी शांति और संतोष फैल गए हैं। मुझे आनंद मिल गया था। वह आनंद माँ की गोद में सुलाए गए बच्चे के आनंद जैसा था। भारतवर्ष का भ्रमण समाप्त करके जापान वापस आने के बाद मैंने फिर भारत आने की कोशिश की। इस बार भारत में रहने के लिए। क्या पढ़ना है, क्या देखना है, क्या करना है, उस का कुछ भी निश्चय नहीं था, सिर्फ़ भारतवर्ष में रहना चाहती थी। भारत माता यानी भारत की भूमि में रहना चाहती थी और अब मैं भारत में रहती हूँ। मेरी इच्छा पूरी हो गई, पर कभी-कभी मैं उदास हो जाती हूँ। न जाने क्यों? इसलिए मैं आजकल रोज़ अपने आप से पूछती हूँ कि मैं क्यों उदास हूँ।

सच कहूँ तो जब मैंने भारत में रहने का सपना देखा था वह यात्री के मनोभाव से उत्पन्न हुआ। सपना था। यात्री की नज़र से देखे भारत और भारत में रहकर देखे भारतीय दैनिक जीवन में कितना अंतर है। भारत का सामान्य दैनिक जीवन देखना मेरे लिए एक नया ही अनुभव था, जो सामान्य विदेशी यात्री के रूप में मेरी नज़र में नहीं आया था। मेरी उदासी शायद इन दोनों के अंतर से उत्पन्न मानसिक धक्के के कारण होगी। भारत के लोगों के धर्म से गहरा संबंध भी मेरे लिए नया अनुभव था। जब में जापान में रहती थी। तब मैं भगवान या धर्म पर विश्वास नहीं रखती थी। लेकिन भारत में रहकर मैं भगवान पर विश्वास करने लगी। मैं सोचती हूँ कि जापानी लोगों और भारत के लोगों के बीच एक बड़ा फर्क भगवान को मानना या न मानना है। समझा जाता है कि जापानियों का धर्म बौद्ध है, लेकिन अधिकांश जापानी सच्चे बौद्ध के बदले पूर्वज आराधक हैं। क्योंकि जापानी लोग भगवान की पूजा नहीं करते, बल्कि मरने वाले की आत्मा को शांत करने के लिए पूजा करते हैं। और आजकल पहले से अधिक लोग सिर्फ़ नाम के लिए ही बौद्ध धर्म मानते हैं। मन से नहीं। मैं भी इस तरह की बौद्ध थी। इसलिए जब भारत के लोग मुझ से मेरा धर्म पूछते थे तब मेरे लिए सही जवाब देना मुश्किल हो जाता था। भगवान के प्रति गहरा विश्वास रखने वाले भक्त हैं फिर भी बहुत कम। इसलिए भारतीय लोगों को रोज़ पूजा अवश्य जापान में भी करते देखकर मुझे आश्चर्य होता था, साथ ही दिन में कम से कम एक बार अपने सुख-दुःख, क्रोध, स्वार्थ, लाभ को भूलकर भगवान के प्रति पूजा करने

के भारतीय रीति-रिवाज़ मुझे अच्छे लगने लगे। इस धार्मिक वातावरण में रहकर आनंद मिलने के साथ-साथ मैं थक भी गई थी। इसलिए उदास भी हो जाती थी और जापान की याद भी मुझे आती थी।

परंतु दूसरे देशों में रहकर अर्थात् भारत में रहकर अपने देश जापान के परंपरा, संस्कृति, साहित्य और कला आदि को नए सिरे से देखने का मौका भी मिला। इन दस सालों में जापानी लोग उद्योग के विकास के नाम पर प्रकृति को नष्ट कर रहे है। यह मनुष्य का घमंड है। मनुष्य भी प्रकृति का एक अंग है। प्रकृति को सब नष्ट नहीं करना चाहिए। प्रकृति और कृत्रिम जीवन का समन्वय होना चाहिए, नहीं तो जापान का भविष्य अंधकारमय हो जाएगा।

इस प्रकार भारत में रहकर नए सिरे से अपने देश के बारे में सोचने का वक़्त मुझे मिला है। यह भी मेरे लिए एक नया अनुभव है।

[कुमारी चिहिरो तानाका वर्धा के राष्ट्रीय भाषा विद्यापीठ की छात्रा हैं।]

जापानी उपन्यास

"काली वर्षा"

आकिओ ताकामुरा

इस वर्ष एक बार फिर 6 अगस्त का दिन आया और हिरोशिमा शहर पर की गई अणु बम-बारी की याद ताज़ा कर गया। हर वर्ष इसी दिन अणु बम का शिकार हुए लोगों की आत्माओं की शांति के लिए हिरोशिमा में स्थापित शांति पार्क में एक भव्य समारोह का आयोजन किया जाता है।

लेकिन यह एक खेदजनक पहलू है कि जापानी लोग विशेषकर युवक-युवतियाँ अणु बम तथा युद्ध के दुःखपूर्ण अनुभवों को भुलाते जा रहे हैं। कहने की आवश्यकता नहीं, हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जापानी सेना ने एशिया में क्या किया था।

इस अवसर पर मुझे जापान के सुप्रसिद्ध लेखक मासुज़ि इबुसे द्वारा लिखा गया "काली वर्षा" शीर्षक वाला उपन्यास पुनः पढ़ने का ख्याल आया।

इस उपन्यास का प्रकाशन कोई 15 वर्ष पहले किया गया था, जिसकी बहुत से पाठकों ने प्रशंसा की है। मुझे याद है कि मैं भी इस उपन्यास से गहन रूप से प्रभावित हुआ था।

इन दिनों दैनिक समाचार पत्र "आसाहि" पर एक समालोचक द्वारा "काली वर्षा" के संबंध में इस प्रकार लिखा गया था-–

"यह पुस्तक पढ़ने के बाद मुझे साहित्य की असीम शक्ति पर विचार करना पड़ा। इस पुस्तक लेखक न तो गुस्से से अपने विचार बलपूर्वक व्यक्त करते हैं और न ही किसी व्यक्ति या देश की निंदा करते हैं। श्री इवुसे केवल शांतिपूर्ण ढंग से अपने वाक्य बढ़ाते हैं। फिर भी उनके इस उपन्यास में पाठकों से युद्ध अणु बम के विरुद्ध अपील करने की शक्ति विद्यमान है।"

"काली वर्षा" शीर्षक वाले इस उपन्यास में मुख्यतः हिरोशिमा में एक रेशम कंपनी में कार्य संलग्न शिगेमात्सु शिज़ुमा, उसकी पत्नी सिगेको और उनके साथ रहने वाली भानजी यासुका, इन तीनों व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है। शिगेमात्सु अणु बम का शिकार है। इस उपन्यास का अधिकतर भाग शिगेमात्सु तथा यासुको की डायरी का रूप ले लेता है।

"काली वर्षा" का प्रारंभ इस प्रकार होता है—

"इन कई वर्षों से के० नामक गाँव में वास करने वाले शिगेमात्सु के मन पर अपनी भानजी यासुको की चिंता के बादल छाये हुए हैं। शिगेमात्सु यह भी सोचते थे कि पिछले कई वर्षों से उनके मन पर बना हुआ यह बोझ भविष्य में भी दूर नहीं किया जा सकेगा। शिगेमात्सु यासुको

की शादी को लेकर चिंतित है। के० गाँव में जो हिरोशिमा शहर से काफ़ी दूर स्थित है, एक ऐसी अफवाह सुनने में आई कि द्वितीय विश्व युद्ध के उत्तरार्ध में यासुको सेना विभाग के अधीन हिरोशिमा शहर के एक माध्यमिक स्कूल में भोजन विभाग में कार्य संलग्न थी और 6 अगस्त को वहाँ वह अणु बम का शिकार हो गई। शिगेमात्सु के लिए और भी असहनीय बात यह रही कि कई लोगों के कथनानुसार शिगेमात्सु दम्पत्ति यासुको का यह रहस्य छिपाने का भरसक प्रयास कर रहा है। इसी अफ़वाह के कारण यासुको की शादी अब तक साकार नहीं हो पाई। कई लोग यासुको को किसी अच्छे व्यक्ति के साथ शादी करवाने के लिए आगे तो आते हैं, मगर इस अफवाह की वजह से तुरंत ही शादी के बारे में अपने प्रयास बंद कर देते हैं।"

कहा जाता है कि सन् 1945 के अंत तक हिरोशिमा में डेढ़ लाख व्यक्ति मृत्यु का शिकार हुए थे। 6 अगस्त को हिरोशिमा में स्थिति नरक के समान थी। जले हुए असंख्य शव, यहाँ-वहाँ दिखाई देते थे। उनके चेहरे इतनी बुरी तरह से जल गए थे कि यह तक पहचानना मुश्किल था कि वे नर हैं या नारियाँ। कुछ लोगों के सर पर एक भी बाल न बचा था। सौभाग्यवश अगर वे बच भी गए तो भी परमाणु विस्फोट से फैली भयानक रेडियोधर्मिता के कारण उन लोगों को दीर्घकाल तक शारीरिक यातनाएँ झेलनी पड़ीं।

उन दिनों कुमारी यासुको हिरोशिमा शहर में माध्यमिक स्कूल में नहीं, बल्कि शहर के परिसर में रेशा कंपनी के एक कारखाने में काम करती थी। युद्ध समाप्त होने के कोई 5 वर्ष बाद यासुको से शादी के लिए औपचारिक मुलाकात करने का प्रस्ताव रखा गया। लेकिन दोनों के बीच मध्यस्थता की भूमिका निभाने वाले व्यक्ति ने यह अनुरोध किया कि यासुको यह बताए कि वह अणु बम गिरने के दिन कारखाने से घर तक किस रास्ते से लौटी थी। शिगेमात्सु की तरह यासुको भी डायरी लिखने की आदत थी। इसलिए शिगेमात्सु के मन में इस डायरी की 6 अगस्त के आस-पास वाले दिनों का विवरण मध्यस्थ को दिखाने का विचार आया।

6 अगस्त को यासुको हिरोशिमा शहर से कुछ दूर एक कस्बे में थी जिस कस्बे में वह अमरीकी सेनाओं के भारी आक्रमणों से परिवार के महत्त्वपूर्ण सामान की रक्षा करने के लिए वहाँ पहुँची थी।

प्रातः सवा आठ बजे वह एक घर पर आराम कर रही थी। उस क्षण पर आकाश में एक पीली-सी बिजली दौड़ गई। इसके फौरन बाद विस्फोट का भारी धमाका चारों ओर फैल गया। किसी को न चला कि अचानक यह क्या घट गया है।

यासुको की डायरी में लिखा हुआ है :-

"जब हमने हिरोशिमा शहर की ओर दृष्टि घुमाई तो अविश्वसनीय भयंकर दृश्य दिखाई दिया। एक विशाल छाते जैसे आकार का काला बादल दानव की तरह सारे शहर के ऊपर छाया हुआ था।"

यासुको हिरोशिमा शहर स्थित अपने घर पर मुश्किल से वापस पहुँच पाई। घर आधा ढह चुका था। उसके मामा का चेहरा अणु बम के कुप्रभाव से जख्मी हो चुका था। लेकिन मामी सकुशल थी। घर पर पहुँचकर यासुको ने देखा कि उसके शरीर तथा पोशाक पर काले-काले गोल-गोल धब्बे पड़े हुए हैं। उसकी याद आया कि बीच रास्ते में काले रंग की वर्षा बरसने लगी थी। सुबह कोई दस बजे हिरोशिमा की ओर से कड़कती बिजली के साथ-साथ काले घने बादल उमड़ते आ रहे थे। और थोड़ी ही देर में तेज़ वर्षा होने लगी। गर्मी का मौसम होते हुए भी सर्दी लगने लगी। बाद में पता चला कि इस काली वर्षा में रेडियोधर्मी राख मिली हुई थी।

शिगेमात्सु की डायरी में भी 6 अगस्त के भयंकर अनुभवों का उल्लेख है। इस डायरी में अणु बम गिराये जाने के बाद शिगेमात्सु, शिगेको और यासुको के ध्वस्त शहर में इधर-उधर शरण लेने वाले दृश्यों का वर्णन किया गया है।

इस उपन्यास के उत्तरार्द्ध में यह पता चलता है कि शिगेमात्सु की आशा के विरुद्ध उसकी भानजी यासुको भी अणु बम की रेडियोधर्मिता के कारण बीमार थी। यासुको ने अपने मामा व मामी से अपना रोग छिपा रखा था। वह संभाव्य पति को तो इसकी सूचना पहले ही दे चुकी थी। वह कभी-कभी तेज़ बुखार और पेचिश से बुरी तरह पीड़ित हो जाती थी और उसके शरीर पर फुंसियाँ निकल आती थीं। उसके सिर के बाल गिरने लगे और वह हमेशा रक्तक्षय रहने लगी।

उपन्यास के अंत में शिगेमात्सु इस प्रकार बुदबुदाते हैं :-

"अब अगर दूर स्थित उस पहाड़ के ऊपर इन्द्रधनुष निकलेगा, तो चमत्कार घटेगा पाँच रंग वाला इन्द्रधनुष अगर निकलेगा, तो यासुको रोग पर विजय पाकर ठीक हो जाएगी....."

शिगेमात्सु ने यह जानते हुए भी कि उनकी यह आशा कभी साकार न होने पाएगी, बुदबुदाते हुए, उस पहाड़ की ओर अपनी नज़र डाली।

जैसा कि आरंभ में समालोचक ने लिखा था "काली वर्षा" में गुस्से या घृणा के शब्दों के बिना ही अणु बम के और युद्ध की मूर्खता व विभीषिका के विरुद्ध अपील की जाती है। कभी-कभी तो थोड़ा बहुत व्यंग्यात्मक ढंग से भी लिखा गया है। शायद इसलिए ही मुझे "काली वर्षा" को फिर से पढ़ने की इच्छा हुई है।

इस उपन्यास के रचयिता मासुज़ि इबुसे का जन्म सन् 1898 में हिरोशिमा प्रांत में हुआ। उनके पिता एक मध्यवर्गीय ज़मींदार थे। उन्हें सेना के आदेशानुसार थल सेना के एक सदस्य के रूप में एक वर्ष के लिए सिंगापुर में रहने का भी अनुभव रहा है। यह "काली वर्षा" उपन्यास पहले "भानजी की शादी" के शीर्षक से लिखा जा रहा था, मगर बाद में उसका शीर्षक बदल दिया गया। मासुज़ि इबुसे ने अपने लेखक जीवन में वाम या दक्षिण पंथी प्रवृति वाले आंदोलनों

से अलग रहे हैं और वे खुद अपना अनोखा संसार स्थापित करने में सफल हुए हैं। उनकी कई कृतियाँ पढ़ने पर मुझे ऐसा लगा कि वे अपनी पुस्तक साधारण व्यक्ति पर प्रकाश डालते हुए उस व्यक्ति के माध्यम से समाज के प्रति अपनी विचारधाराएँ व्यक्त में करने का प्रयास करते हैं। मासुज़ि इबुसे आजकल भी लेखक के रूप में सक्रिय हैं।

अणु बम से बिल्कुल नष्ट हिरोशिमा आजकल पुनः सुंदर शहर बनकर उभर चुका है। शहर में बहती नदियों पर ऐसी कोई छाया दिखाई नहीं देती, जो यह दर्शाती हो कि 37 वर्ष पूर्व इन्हीं नदियों में जले हुए असंख्य शव बह रहे थे।

अणु बम की विभीषिका भूलने न पाएँ और अणु युद्ध फिर दुबारा न हो, इसलिए आज भी उस विभीषिका की याद दिलाने को हिरोशिमा वासी अणु बम से ध्वस्त हुई कुछ इमारतों व नष्ट हुई सामग्रियों को सुरक्षित रखे हुए हैं।

एशियाई सांस्कृतिक संघ
(ASIAN CALTURAL FORUM)

गत अप्रैल तोक्यो में एशियाई सांस्कृतिक संघ (Asian Cultural Forum) का गठन किया गया। यह जापानी जनता की ओर से समस्त एशियाई देशों की जनता के साथ मित्रता बढ़ाने के उद्देश्य से बनाया गया विशाल मंडल है। भौगोलिक दृष्टि से जापान एशिया में स्थित है पर अधिकांश जापानी एशिया की ओर न देखकर पाश्चात्य देशों व अमेरिका की ओर देखते हैं। हम एशियाई देशों के बारे में, पड़ोसी देशों के बारे में जानते हैं? हमें एशिया के बारे में जानना चाहिए, हमें पड़ोसी देशो के बारे में जानना चाहिए। यह भी इस मंडल का प्रमुख उद्देश्य है। हमारा मंडल एशियाई देशों की संस्कृति, समाज, राजनैतिक परिस्थिति आदि को जानने के लिए समय समय पर संगोष्ठी का आयोजन भी करता है।

एशियाई सांस्कृतिक संघ समस्त एशियाई देशों की जनता के साथ संपर्क स्थापित करना चाहता है। सदस्यता के लिए आपका स्वागत है।

एशियाई सांस्कृतिक संघ
(Asian Cultural Forum) कार्यालय:
अध्यक्ष : शिगेओ अराकि
249, Momura, Inagi-shi, TOKYO, JAPAN

आधुनिक जापानी साहित्य की प्रवृत्तियाँ (2)

शिगेओ अराकि

सन् 1887 के आसपास से शुरू हुआ हमारे देश का आधुनिक साहित्य वास्तव में पाश्चात्य देशों से आयातित आधुनिक साहित्य से प्रभावित था, परंतु सन् 1920 तक आते-आते जापानी आधुनिक साहित्य अपना विशिष्ट रूप धारण करने लगा और धीरे-धीरे जापानी आधुनिक साहित्य का विकास भी होने लगा। अनेक साहित्यिक विचारधाराएँ उत्पन्न हुई, साहित्यिक मंडल बनाए गए। इन विचारधाराओं और साहित्यिक मंडलों से जापानी मनोवैज्ञानिक उपन्यास, भावात्मक उपन्यास, मानवतावादी, कला के लिए कलावादी उपन्यास और आत्मकथा के रूप में लिखी कहानी का सृजन हुआ। पर विश्व स्तर की साहित्यिक दृष्टि से जापानी साहित्य को देखा जाए तो आधुनिक जापानी साहित्य का स्थान इतना ऊँचा नहीं था। जापान के बाहर दुनिया तेज़ गति से बदलने लगी थी। प्रथम महायुद्ध, रूस में समाजवादी शासन की स्थापना, महायुद्ध के बाद के विश्व स्तर के आर्थिक संकट आदि से दुनिया भर की परिस्थिति बदलने लगी और दुनिया नए युग में प्रवेश हो रही थी। समाज का विकास और व्यक्तिगत सुख एक साथ प्राप्त हों, ऐसी आशा अब खत्म होने लगी। परंपरागत विचारधाराओं के साथ साथ आत्मबोध का भी ध्वंस होने लगा। इन पतन और तेज़ परिवर्तन ने कला और साहित्य के क्षेत्र में गहरा प्रभाव डाला।

प्रथम महायुद्ध के बाद हमारे नापान में भविष्यवाद, अभिव्यक्तिवाद और यथार्थवाद आदि का आंदोलन कलाकारों व कवियों में उत्पन्न हुआ। साथ ही, क्रांतिकारी साहित्य आंदोलन और मजदूर साहित्य आंदोलन भी शुरू हो गए।

1918 में जापान में कई समस्याएँ पैदा हुई, चावल न मिलने के कारण जापान में कई स्थानों पर दंगे हुए और मजदूरों की स्थिति में परिवर्तन व समाजवादी विचारधारा के प्रभाव से कई कारखानों में हड़ताल हो गई। आर्थिक संकट से भी जापानी समाज घिर गया था। साहित्य पर इन सब का प्रभाव सीधा प्रकट हुआ अर्थात् जहाँ पहले साहित्य में यथार्थवाद और आत्मकथात्मक उपन्यास और भावात्मक उपन्यासों की प्रधानता थी। वहाँ अब ऐसे साहित्य के प्रति विरोध और उसे ध्वंस करने का आंदोलन शुरू हो गया था। यह आंदोलन साहित्य में नव-यथार्थवादी विचारधारा प्रमुख हो गई। और साहित्यिक आंदोलन के रूप में क्रांतिकारी साहित्य को लक्ष्य बनाकर यह मजदूर साहित्य व मार्क्सवादी साहित्य का आंदोलन बन गया। यह आंदोलन हालाँकि विदेशों से आयातित आंदोलन था पर इस युग के साहित्यकार पश्चिमी देशों के साहित्यिक विचार अथवा साहित्यिक आंदोलन में गहरी रुचि

रखने के साथ-साथ साहित्यिक आंदोलन व मार्क्सवादी साहित्य आंदोलन पश्चिमी देशों के प्रभाव से शुरू होते हुए भी जापान की इस युग की आवश्यकतानुसार शुरू किया गया आंदोलन था।

जापान में इस युग में दो साहित्यिक विचारधाराएँ सामने आयीं। एक तो इस अव्यवस्थित युग में जीने के लिए पुराने साहित्यिक विचारों को नष्ट कर अभिव्यक्ति की नई पद्धति से इस युग को समझने की कोशिश। इस विचार के साहित्यकार को आधुनिक कलावाद नाम से जाना जाता है। दूसरे मजदूरों की चेतना में साहित्यकारों की चेतना को मिलाकर साहित्यिक आंदोलन चलाने का ग्रुप, यानि मजदूर साहित्य आंदोलन। दोनों साहित्यिक दलों ने प्रतिष्ठित मूल्यों और समाज की तीव्र निंदा और उसका विरोध किया। पर विधि या विचार, अभिव्यक्ति अथवा अमल, कला अथवा राजनीति के स्तर पर दोनों दलों के बीच में भारी अंतर था।

पहले आधुनिक कलावादी साहित्य का परिचय कराना चाहूँगा। इस दल के साहित्यकारों में सबसे पहले रिइचि योकोमित्सु का नाम आता है। उन्होंने "हाए" ("मक्खी" 1923), "निचिरिन" ("सूर्य" 1924) आदि में भविष्यवादी एवं भावात्मक साहित्य से एक भिन्न साहित्य का सृजन किया। उनके "हाए" ("मक्खी") में तांगे के घोड़े की पीठ पर बैठी मक्खी के माध्यम से गाँव का प्रकृति वर्णन और गाँव के लोगों के अडियल चरित्र और उनके रहन-सहन को चित्रित किया गया है। इस कहानी के अंत में दुर्घटनाग्रस्त तांगा और इस तांगे से आराम से उड़ गई मक्खी का चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इस अंतिम चित्रण में लेखक का मनोभाव स्पष्ट दिखाई देता है। योकोमित्सु ने नैतिकता की दृष्टि से मानवता की सच्चाई को अभिव्यक्ति करने के साहित्य को नकार कर दिया और झूठे मानवतावाद को छोड़कर जीने के लिए अनैतिक अहम को इस उपन्यास में प्रस्तुत किया। उनके "किकाइ" ("मशीन" 1930) में भी व्यक्तिगत नैतिकताहीन समाज के क्लेश को चित्रित किया। योकोमित्सु जैसे लेखकों के ग्रुप को नवीन चेतना मंडल कहा गया है।

यासुनारि कावाबाता भी इस मंडल के साहित्यकार थे। बचपन में ही उनके माँ-बाप और सभी रिश्तेदारों का देहांत हो गया था। इस कारण वे बचपन से ही अकेलापन महसूस करने लगे थे। इन दुःखमय अनुभवों से उन के मन में अस्तित्वहीनता का बोध और निर्ममता पैदा हो गई और जापानी परंपरागत दर्शन 'मोनो नो आवारे' (प्रकृति और जीवन में शांतिपूर्ण व दुःखमय सौंदर्य खोजने की मनोवृत्ति) की भावना भी उन्होंने सीखी। "इजु नो ओदोरिको" ("इजु की नर्तकी" 1926) उन की प्रमुख रचनाओं में से एक है। यह युवा छात्र और एक नर्तकी की प्रेम कथा है। इस कहानी में ताजी भावव्यंजकता व रति भावना और 'मोनो नो आवारे का समन्वय देखने को मिलता है। इस प्रकार की काव्यात्मक कहानियों के अतिरिक्त Frued और Joyce से प्रभावित होकर गहरी मनःस्थिति की अभिव्यक्ति और विलक्षण भावनाओं की अभिव्यक्ति भी देखने को मिलती हैं। इस प्रकार की कहानियों में "किनजू"

(“पशु-पक्षी” 1933) है। और उन्होंने “युकिगुनि (“हिम प्रदेश” 1935) में नैतिकताहीन आदमी की रति-भावना, शून्य-भावना और अद्भुत जापानी सौंदर्य को हिम से आच्छादित प्रदेश के चित्रण के साथ अभिव्यक्ति किया। द्वितीय महायुद्ध के बाद “सेंबाज़ुरु” (“एक हज़ार के काग़ज़ सारस” 1951), “यामा नो ओतो” (“पहाड़ की आवाज़” 1954) आदि में उन्होंने जापान के परंपरागत सौंदर्य को गहरे दार्शनिक दृष्टि से चित्रित किया। इसके बाद “कोतो” (“प्राचीन शहर” 1962) “नेमुरेरु बिजो” (“सोती हुई सुंदरी” 1961) आदि में उन्होंने मृत्यु और सेक्स के वर्णन द्वारा जीवन में छिपा हुआ यथार्थ और अद्भुत सौंदर्य को अति यथार्थवादी दृष्टि से अभिव्यक्त किया। पाश्चात्य देशों के तर्कसंगत साहित्य के विपरीत पूर्वी देशों के अतर्कसंगत सौंदर्य साहित्य की उपलब्धि के कारण उन्हें सन् 1968 में नॉबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया परंतु सन् 1972 में उन्होंने आत्महत्या कर ली। समझा जाता है कि उन की आत्महत्या भी उन के साहित्य की एक अभिव्यक्ति है।

इस मंडल के अन्य साहित्यकारों में से मोतोजिरो काजिइ और इसोता कामुरा प्रमुख हैं। काजिइ की शैली कोमल है। उन्होंने मृत्यु के डर से उत्पन्न मनोभाव को अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया। अपराधी भाव, आत्मघृणा से पीड़ित ईसोता कामुरा ने आत्म प्रताड़ना के साहित्य का सृजन किया।

क्रमश:

जापान में हिंदी पुस्तकों की कमी

श्री मिज़ोकामि के कथनानुसार जापान में हिंदी अध्ययन-अध्यापन के दो केंद्र हैं। तोक्यो विदेशी भाषा विश्वविद्यालय तथा ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय। दोनों विश्वविद्यालयों में हिंदी पुस्तकों का अच्छा संग्रह है। परंतु साधारण हिंदी प्रेमियों के लिए हिंदी पुस्तकें कहाँ मिलेंगी? भारत सरकार हिंदी की अंतर्राष्ट्रीयता पर बल देना चाहती है पर हिंदी प्रचार के लिए भारत सरकार क्या कदम उठाती है? हमें मालूम है कि दिल्ली में विदेशी दूतावास द्वारा बनाए गए पुस्तकालय, सूचना केंद्र आदि हैं परंतु भारत सरकार विदेशों में इस प्रकार का सांस्कृतिक कार्य करती है? न तो जापान में सूचना केंद्र है, न तो भारतीय पुस्तकालय है। हाँ, दूतावास में छोटा-सा पुस्तकालय है पर वहाँ कितनी हिंदी की किताबें है? जापान में एशिया का सबसे बड़ा पब्लिक पुस्तकालय है उस का नाम राष्ट्रीय संसद पुस्तकालय है। उस में एशिया-अफ्रीका विभाग है पर खेद की बात है कि इस विभाग में सिर्फ़ दो सौ हिंदी की पुस्तकें हैं। अब राष्ट्रीय संसद् पुस्तकालय भारतीय भाषाओं में प्रकाशित पुस्तकें खरीदने की योजना बना रहा है। हम हिंदी प्रेमी इसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

मेरा एक प्रस्ताव है। भारत में इतने ज़ोर-शोर से हिंदी का प्रचार हो रहा है और इस वर्ष दिल्ली में विश्व हिंदी सम्मेलन होने वाला है। अगर हर एक देश में भारत सरकार द्वारा बनाए गए हिंदी पुस्तकालय अथवा भारतीय भाषाओं में प्रकाशित पुस्तकों का संग्रहालय है और जिस में मार्ग दर्शक के रूप में हिंदी विशेषज्ञ नियुक्त किया जाए तो हिंदी के प्रचार के लिए कितना अच्छा होगा और जहाँ हिंदी अथवा भारतीय भाषाओं की पढ़ाई भी हो। कुछ कार्य किए बिना हिंदी का प्रचार नहीं हो सकेगा।

ब्लड-ग्रुप और स्वभाव का संबंध

तेरुमित्सु माएकावा

1. इस क्षेत्र के अध्ययन का इतिहास

मानव के ब्लड-ग्रुप और शरीर गुण व स्वभाव के बीच का संबंध लगभग सन् 1920 से ज्ञात होने लगा था। पहले जर्मनी और जापान में इस क्षेत्र में अध्ययन किया गया। उस वक़्त ब्लड-ग्रुप और अपराधियों का संबंध अनुशीलन का मुख्य विषय था। जापान में तो शैक्षिक मनोवैज्ञानिक श्री ताकेजि फुरुकावा के सन् 1932 में ब्लड-ग्रुप और स्वभाव के संबंध के अपने अध्ययन के परिणामों के प्रकाशन ने देश में एक तरह की सनसनी फैला दी। उनके निबंधों में आँकड़ों का अभाव था। इसलिए कुछ लोगों ने ब्लड-ग्रुप व स्वभाव वाली बात को एक तरह की ज्योतिष तक कहा। परिणामस्वरूप जापानी जनता ने फुरुकावा जी की मान्यताओं का विरोध किया। लेकिन विरोध करने वालों के पास भी विरोध के लिए काफ़ी वैज्ञानिक आँकड़े नहीं थे। असल में हमने अभी तक ब्लड-ग्रुप और स्वभाव के संबंध के खंडन करने लायक जाँच या आँकड़े नहीं देखे।

इसके बाद यूरोप और अमेरिका में ब्लड-ग्रुप और शरीर गुण या रोगों के संबंध के बारे में अध्ययन तेज़ होने लगा और कुछ अच्छे शोध-प्रबंध भी सामने आए। जापान में उस समय इस क्षेत्र का अध्ययन बहुत पीछे था। अमेरिका के कुछ विश्वविद्यालयों में ब्लड-ग्रुप और स्वभाव के संबंध के बारे में भी काफ़ी अनुशीलन किया जा रहा है। जापान में फुरुकावा जी के बाद यह विषय करीब-करीब भुला दिया गया। पर सन् 1971 में श्री मासाहिको नोमि ने इस विषय में एक पुस्तक प्रकाशित की। यह पुस्तक लिखने के लिए नोमि जी ने सही अर्थ में अनुकूलित भारी जनसंख्या वाला सांख्यिकीय अन्वेषण किया। चरित्र के अध्ययन के क्षेत्र में इतना बड़ा अन्वेषण अभूतपूर्व था। नोमि जी की इस पुस्तक के आने के बाद जापानी जनता में इस विषय में रुचि एकदम बढ़ने लगी। अब लगता है कि इस देश के बहुत युवक व युवतियाँ इस विषय के अध्ययन में रुचि ले रहे हैं।

2. ब्लड-ग्रुप और स्वभाव के मध्य संबंध का आधार

ब्लड-ग्रुप शरीर गुण के अंतर या शरीर के उपादानों के रासायनिक अंतर को सूचित करने वाला एक तत्त्व है। (ऐसे तत्त्व शरीर में अधिक नहीं है।) इसलिए शरीर गुण व स्वभाव से ब्लड-ग्रुप का संबंध होना सिद्धांततः आवश्यक है। लेकिन साधारण जीवन में यह संबंध आदमियों के मनोभाव आदि की अभिव्यक्तियों या व्यवहारों में कहाँ तक देखा जाता है- यह एक विचारणीय प्रश्न है।

नोमि जी ने इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए बहुत से प्रयत्न किए है। उन्हाने मुख्यतः दो पद्धतियों का प्रयोग किया।

1. उन्होंने अपनी प्रश्नावली को बहुत से लोगों में बाँटकर, जिसमें हर आदमी को हस्ताक्षर सहित स्वयं अपने व्यवहारों की विशेषता लिखनी थी, एकत्रित कर उनका अध्ययन किया।
2. उन्होंने विशेष व्यवसायों, कलाओं और खेलकूद के क्षेत्र में ब्लड-ग्रुप की चार श्रेणियों की औसत अनुपात से तुलना की। पहली पद्धति में जून सन 1975 तक 12000 व्यक्तियों के आँकड़े इकट्ठे हुए थे और दूसरी पद्धति में 30 विशेष क्षेत्रों के बारे में अध्ययन किया गया था। सांख्यिकीय रूप से परीक्षा करने पर यह आँकडें कुछ कहते दिखाई पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से अन्य लोगों के अध्ययन से भी यह निःसदेह सिद्ध होता है कि मनुष्य के साधारण जीवन में ब्लड-ग्रुप उसके मनोभावों आदि की अभिव्यक्तियों एवं व्यवहारों से काफ़ी संबंध रखता है।

पर मानव चरित्र की वैज्ञानिक जाँच अभी भी अच्छी तरह विकसित नहीं हो सकी है। निहित स्वभाव और कार्य-कारण-न्याय के अनुसार निर्मित चरित्र के पहलुओं का संबंध स्थापित करने का बड़ा प्रश्न अभी बाक़ी है। चरित्र के संरचना के व्योरे को साकार रूप से अध्ययन करने के लिए और बहुत आँकड़ों एवं अध्ययन की ज़रूरत है। इसके अतिरिक्त अभी तक रक्त की लगभग चार सौ वर्गीकरण की पद्धतियों का पता लगा है। लेकिन उनमें ए०बी०ओ० पद्धति ही सबसे प्रमुख है। वास्तव में ए०बी०ओ० पद्धति वाले चार ग्रुप और स्वभाव की अभिव्यक्तियों के बीच काफ़ी संबंध दिखाई देता है। अन्य पद्धतियों वाले ब्लड-ग्रुपों के स्वभाव के ऊपर प्रभावों के बारे में भी हमें आगे चलकर जाँच करनी है।

3. चार ब्लड-ग्रुप के स्वभावों की प्रमुख अभिव्यक्तियों के उदाहरण

बहिर्मुख-अंतरमुख जैसे मुख्यतः कार्य-कारण-न्याय के अनुसार निर्मित प्रवृत्ति सब लोगों में ब्लड-ग्रुप के अनुरूप सूक्ष्म भेद रखती दिखाई देती है और हर ब्लड-ग्रुप के स्वरूप में भी एक प्रकार की श्रेणी का अंतर होता है। लेकिन नीचे लिखित अभिव्यक्तियों की संभावनाओं का अनुमान लगाया जा सकता है। ये चार ब्लड-ग्रुप वालों के समापवर्तकों के उदाहरण हैं।

(क) ओ वाले ब्लड-ग्रुप के व्यक्ति

ओ वाले ब्लड-ग्रुप के व्यक्ति जीने की तृष्णा को सबसे अधिक और सबसे स्वभाविक ढंग से लेते हैं। इन व्यक्तियों में विशेष उद्देश्यों को पूरा करने की प्रवृत्ति बहुत स्पष्ट नज़र आती है। उनके विचार और व्यवहार सीधे-सीधे होते हैं। वे व्यवहार में (या वास्तव में नहीं) तर्कसंगत

होना पसंद करते हैं और अपने सिद्धांतों पर अटल रहते हैं। वे भीतर से सशक्त यथार्थवादी और बाहर से रोमनी या आदर्शवादी प्रवृत्ति रखते हैं। वे व्यवहार में परिचितों से मिलन-सार होते हैं और उसका ओ वाले ब्लड-ग्रुप प्रेम होता है। इसके विपरीत किसी भी अज्ञात आदमियों से मिलने में ओ ग्रुप वाले सतर्कता लेते हैं। अपना विशिष्ट होना और असाधारण होना पसंद है। वे अपने आपको अच्छा दिखाने का आग्रह करते हैं। समाज में अपना स्थान या अपने से दूसरों के स्तरों के वर्ग-भेद के प्रति सचेत होते हैं। उसमें प्रतिक्रिता की भावना होती है। सामान्यतः उनकी रुचि अपने विशेष विषय में ही होती है।

(ख) ए वाले ब्लड-ग्रुप के व्यक्ति

ए वाले ब्लड-ग्रुप के व्यक्ति कोई एक निश्चित जीवन लक्ष्य को चाहने वाले होते हैं। वे पास वालों के साथ सदैव शांतिमय संबंध बनाए रखना चाहता है और इसलिए नित्य सचेष्ट रहते हैं। वे हर एक बातों का मतलब समझना चाहते हैं या मतलब लगाता है। वे अंतर से सबसे जिद्दी होते हैं, पर वे नियम एवं व्यवस्था का अधिक समादर करते हैं। उसमें नम्रता का तो कुछ अभाव-सा मालूम होता है। वे हमेशा अपने काम को पूरा कर लेना चाहते हैं परंतु जीवन या यातना से नहीं।

ए ग्रुप में भविष्य के विषय में या तो संदेह या निराशावाद रखने वाले अधिक हैं। अपने मनोभावों की अभिव्यक्तियों को प्रकट होना उन्हें पसंद नहीं। इस ग्रुप में बाहरी रूप-रंग के विरुद्ध अंतर में यथा स्थिति को तोड़ने का स्वप्न देखने वाले अधिक हैं। ए वाले अगर हृदय में कोई चोट खाते हैं तो उसे ठीक होने तक लंबा समय लगता है। सामान्यतः उसकी असली योग्यता जाँच करने के लिए और लोगों से अधिक समय की ज़रूरत है। लेकिन उनकी योग्यता बहुत ठोस होती है।

(ग) बी वाले ब्लड-ग्रुप के व्यक्ति

इस ग्रुप के लोग अपनी रुचि के अनुसार जीने वाले अधिक हैं। अपनी इच्छानुसार जीना, जब मन हो तब काम करना। इस तरह की बात उन्हें पसंद होती है और उन्हें अपने ऊपर कोई भी नियंत्रण पसंद नहीं। वे परिवर्तनों का मुक़ाबला करने में निपुण होते हैं। प्रायः वे एक-एक करके बहुत योजनाएँ या बोध उत्पन्न करते हैं। भविष्य के बारे में आशावादी होने के कारण वे सक्रिय रहते हैं लेकिन सतर्कता का तो उनमें कुछ अभाव होता है। उनकी विचार पद्धति व्यवहारिक होती है। ऊपरी रूप-रंग के विपरीत वे भेद-भाव न रखकर सब लोगों से आत्मीय हो जाते हैं। यद्यपि वे अचानक भावुक भी हो जाते हैं और शीघ्र ही सामान्य स्थिति में भी आ जाते हैं। सामान्यतः बी ग्रुप वाले व्यक्ति निर्बाध कामों में ही अपनी योग्यता अच्छी तरह प्रकट करते हैं।

(घ) एबी वाले ब्लड-ग्रुप के व्यक्ति

एबी ब्लड-ग्रुप के व्यक्ति नित्य औरों से कुछ 'अंतर' रखना चाहते हैं। वे अपने स्थान को आरक्षित कर समाज के क्रिया कलापों में ज़ोर-शोर से भाग लेना चाहते हैं, लेकिन इस ग्रुप के कुछ लोग तो औरों से कतई संपर्क स्थापित करना पसंद नहीं करते। वे अकेले रहना चाहते हैं। उनकी विचार पद्धति युक्ति संगत होती है और वे आलोचना एवं विश्लेषण में निपुण होते हैं। औरों के अनुरोध करने पर एबी वाले के लिए बात करने के लिए 'नहीं' कहना आसान नहीं। ऐसी स्थिति में वे इन अनुरोधकर्ताओं के अनुरोध को स्वीकार कर देते हैं। वे जीवन की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ओ ब्लड वालों के विपरीत कृत्रिम वातावरण भी उनके लिए अनुकूलनीय होता है। समाज में वे शांत दिखाई देते हैं, पर अपने परिवार आदि में वे कुछ मौजी हैं और उनका मनोभाव तुरंत क्षब्ध हो जाने वाला होता है। वे सब प्रकार के ढंगों से द्वेष रखते हैं। लेकिन समाज में अपने अंदर की ऐसी प्रवृत्ति को छिपाकर मेल-मिलाप भी दिखाते हैं। इस ग्रुप का संस्कार करने में निपुण, प्रतिभा संपन्न व्यक्ति अधिक हैं।

4. ABOLOGY --ब्लड-ग्रुप और स्वभाव के संबंध पर--

आधारित मानवशास्त्र का भविष्य और उसका उपयोग आदमियों के चरित्रों की जाँच अभी ऊपरी अवलोकन या सतही निदान से आगे नहीं बढ़ी है। Abologists तो ब्लड-ग्रुप जैसे वर्गीकरण निष्पक्ष मापदंड पर आधारित होकर, सांख्यिकीय आधार पर मनुष्यों के व्यवहारों का तुलनात्मक अवलोक करते हैं। ज्यों-ज्यों यह विज्ञान विकसित होगा, त्यों-त्यों मानव के बारे में ज्ञान पहले से अधिक गहरा और अधिक उपयोगी होगी। हम ऐसी आशा करते हैं। वास्तव में अपने आप को निष्पक्ष दृष्टि से फिर देखने के लिए औरों से संबंधों को सामान्य करने के लिए अपनी उपयुक्तता जानने और आशाजनक पेशों की खोज के लिए Abology की क्षमता के बारे में अभी तक रिपोर्ट हमारे सामने आ गई हैं, लेकिन इन आँकड़ों का असावधानी से अध्ययन करना या इन आँकड़ों से एक तरह निष्कर्ष निकालना हमें निषिद्ध है। Abology अभी अधूरा है।

उक्त निबंध Encyclopedia Grand Universe के लिए लिखित श्री मासाहिको नोमि के लेख के आधार पर मैंने लिखा। भारत जापान से अलग इतिहास, संस्कृति, और सामाजिक बनावट रखता है और चार ब्लड-ग्रुप समुदायों का अनुपात भी भारत और जापान में बिल्कुल भिन्न होगा। (जापान में ओ : ए : ए-बी : बी = 30.7 : 38.1 : 21.8 : 9.4 है। उत्तरी भारत में ओ : ए : बी : ए-बी = 33 : 21 : 38 : 8 है। दक्षिण भारत में ओ ग्रुप वाले सबसे अधिक हैं)

इन बातों से स्सष्ट है कि जापान की जाँच को भारत पर सीधा लागू करना ठीक न होगा। लेकिन भविष्य में भारत में भी ABOLOGY पनपेगा, तो मानव के बारे में ज्ञान प्राप्त करने के लिए बहुत उपयोगी होगा। मैं ABOLOGY के भविष्य व अध्ययन में आशा रखता हूँ।

समीक्षा

[हमें समीक्षार्थ कई पुस्तकें व पत्रिकाएँ प्रेषित की जाती हैं। पत्रिकाओं के आदान-प्रदान से आपस में साहित्यिक सद्भावना उत्पन्न होती है। सभी प्रेषकों को धन्यवाद देते हुए यहाँ कुछ पुस्तकों और पत्रिकाओं की समीक्षा दी जा रही है।]

- संपादक

"बसंत और यायावर" (लेखक: केन्जी मियाजावा अनुवादक: कीयो कुरु एवं जितेन्द्र राठौर, प्रकाशक: संभावना प्रकाशन, हापुड़, 1982) यह जापानी कवि केन्जी मियाजावा के कविता संकलन का हिंदी अनुवाद है। अनुवादक पटना से प्रकाशित पत्रिका "प्रत्यक्ष" के संपादक श्री जितेन्द्र राठौर और जापानी हिंदी प्रेमी श्रीमती कीयो कुरु हैं। एक जापानी कवि की कविताओं का हिंदी में अनुवाद संभवतः पहली बार हुआ है। निःसंदेह यह बहुत प्रशंसनीय कार्य है।

मगर जापानी कविता के मूल अर्थ को न बदल कर हिंदी में पद्यात्मक अनुवाद करना कितना कठिन है, यह अनूदित कविताएँ बताती हैं। साहित्यिक अनुवाद के संदर्भ में शाब्दिक बदलाव एवं अर्थ का बदलाव बहुत महत्त्वपूर्ण विषय बन जाते हैं। क्योंकि कविता सिर्फ़ मूल शब्द से ही नहीं, बल्कि अर्थ से भी गहरा संबंध रखती है। दोनों संबंधों को तोड़े बिना दूसरी भाषा में अनुवाद कर पाना शायद सबसे उत्तम अनुवाद का नमूना होगा। परंतु यह अत्याधिक कठिन काम है। कहीं अनुवाद में उपयुक्त शब्द के चुनाव में मूल अर्थ से दूर भटक जाने का अन्देशा भी हो सकता है। केन्जी मियाजावा की यह अनूदित कविताएँ भी कई स्थलों पर इसका अपवाद नहीं है। उदाहरण देने से पहले इस पुस्तक के शीर्षक के संबंध में इस समीक्षक के मन में जो सवाल उठा, उसके विषय में कहा जाए। शीर्षक "वसंत और यायावर" केन्जी मियाजावा की कविता शीर्षक "हारु तो शुरा" का अनुवाद प्रतीत होता है। इस जापानी शीर्षक का हिंदी में सीधा अनुवाद किया जाए तो वह "वसंत और असुर" होगा। 'हारु' का अर्थ है 'वसंत' और 'शुरा' शब्द मूल संस्कृत शब्द 'असुर' का विकृत रूप है। संस्कृत शब्द 'असुर' बौद्ध धर्म के साथ जापान में पहुँच कर 'शुरा' हो गया। कवि केन्जी मियाजावा बौद्ध धर्म के अनुयायी भी थे और अपने को इस हिसामय दुनिया में पैदा हुए तत्त्व मानते थे। उनके लिए अपना अस्तित्व जैसे असुर द्योतक था। इस हिंसामय दुनिया के प्रति क्रोध, क्षोभ, निराश और साथ ही भविष्य के प्रति आशावादिता की भावना लेकर वे जिए। वे प्रकृति प्रेमी भी थे। उनकी कविता में प्रकृति वर्णन भी खूब मिलता है। उनकी कविता में प्राकृतिक वर्णन और आंतरिक मनोभावात्मक वर्णन का अच्छा समन्वय होता है। इसलिए उनका जापानी शीर्षक में 'हारु' यानी 'वसंत' उनके प्रकृति बोध अर्थात् बाह्य वातावरण का प्रतीक है और दूसरी

और 'शुरा' यानी 'असुर उनके आंतरिक मनोभाव का प्रतीक है। हम इन दोनों भावों का समन्वय उनकी कविता में देख सकते हैं और शायद यही कवि के शीर्षक का आशय भी था। पर हिंदी में अनूदित 'यायावर' शब्द का किस कारण से प्रयोग किया गया है, स्पष्ट समझ में नहीं आता। असुर की तुलना में 'यायावर' शब्द हल्का मालूम होता है और इस कारण कवि के मनोभाव का प्रतीक बनने के लिए शायद यह शब्द पूरी तरह सफल-सा प्रतीत नहीं होता।

अब कविता के बारे में विचार करें -

पठार

मुझे लगा
वह समुद्र है
लेकिन वह तो पहाड़ है, न!
अरे
हवा में उड़ रहे हैं बाल
जैसे
नाच रहे हैं हिरन

उपरोक्त लिखित कविता श्री राठौर द्वारा किया गया अनुवाद है। केन्जी मियाजावा की इस कविता का शाब्दिक अनुवाद इस प्रकार है :

पठार

वह समुद्र है क्या? मुझे लगा था।
पर नहीं, वह तो चमकता पहाड़ है।
बाल हवा में उड़ रहे हैं
जैसे—हिरन नृत्य है।

राठौर के अनुवाद में 'चमकता' शब्द लुप्त हो जाता है और हिरन नाच रहे हैं। इस कविता में 'चमकता' शब्द का अर्थ गहरा है। कवि ने क्यों पहाड़ को समुद्र समझा है? कवि पठार पर खड़े हो, पास के पहाड़ों को देख रहे थे सूरज की किरणों से पहाड़ चमक रहे थे जैसे समुद्र की चमकती लहरें। इसलिए उन्हें लगा 'वह समुद्र है क्या?' और बाल हवा में उड़ते देख उन्हें हानामाकि ज़िले के लोक नृत्य का स्मरण हो आया, न कि जानवर हिरन नाच रहे हैं। इन कविताओं के अनुवाद में ऐसा कुछेक स्थलों में इस प्रकार की गलतियाँ देखने को मिलती है। किन्हीं स्थलों पर मूल कविता की पंक्ति का लोप भी। उदाहरण के लिए 'चीड़ की सुइयाँ' में 'फिलहाल लाल है तुम्हारे गाल' के बाद एक पंक्ति लुप्त हो गई मालूम पड़ती है। कई अनुवाद

बहुत अच्छे अनुवाद बन पड़े हैं जैसे 'अलविदा का मोर' आदि। श्रीमती कीयो कुरु 'अपनी बात' में स्पष्ट लिखती है कि 'यह अब संतोषजनक नहीं है। यह केन्जी-साहित्य के ऊँचे पहाड़ पर चढ़ने का आरंभिक कदम है। यह उनकी सही आवाज़ होगी। हम उन अनुवादकों के प्रयास की प्रशंसा करते। अनुवाद की प्रतीक्षा करेंगे।

एक और अनूदित कविता संकलन की पत्रिका हमारे पास आई है। यह मध्य प्रदेश, पिपरिया से प्रकाशित साहित्य की पत्रिका "तनाव" (अंक 11, नवंबर, 1981, संपादक : वंशी माहेश्वरी) है। इस अंक में अर्जेन्टीना के कवि एमोलियो शोलेशी एवं रोबेतों स्वारेसि की कविताओं का अनुवाद है। इन दो कवियों के कविताओं का अनुवाद भी मूल स्पानी कविताओं से भिन्न है। यह नहीं कहा जा सकता है पर हिंदी में अनूदित कविताओं की काव्यात्मकता शायद मूल स्पानी कविताओं से भिन्न नहीं होगी।

विभिन्न देशों के साहित्य का अनुवाद हमें बंबई से प्रकाशित पत्रिका "वर्ष वैभव" (अंक 4, 1980, संपादक : देवेन्द्र जैन) के विश्व लघु कथा विशेषांक में भी देखने को मिला। इसमें चीनी, अमेरिकी, पोलिश, स्पेनिश, इंडोनेशियाई, रूसी और जर्मन कथाएँ शामिल हैं। साथ ही हिंदी, मराठी और गुजराती लघु कथाएँ और लघु कथा के संदर्भ में लेख भी हैं। हम जैसे विदेशियों के लिए लघु कथा की परिभाषा समझ पाना कुछ कठिन है। संबंधित लेखों को पढ़ने से मालूम होता है कि लघु कथा की परिभाषा कितनी व्यापक है। क्या इसमें विदेशों की लघु कथाओं के रूप में दी गई कथाएँ निबंधों में दी गई परिभाषा के आधार पर चुनी गई हैं? उस लघु कथा विशेषांक ने लघु कथा और लघु कहानी आदि के अंतर को विचारने के लिए हमें बाध्य कर दिया है।

हाल ही में और एक पत्रिका हमारे पास आई है। मेरठ से निकलने वाली मासिक पत्रिका "कुन्दन-शील" (अंक 7, जुलाई, 1982, संपादक : सुरेश चंद जैन)। इसमें नई काव्य-विधा 'तेवरी' का परिचय है। जन उद्बोधन के स्वर के रूप व सही ज़िंदगी के दस्तावेज की कविता 'तेवरी' के जन्म का हम स्वागत करेंगे।

शिक्षा से संबंधित पत्रिका "साहित्य परिचय" (संपादक विनोद कुमार अग्रवाल, आगरा) का इस वर्ष का विशेषांक 'नैतिक शिक्षा' है। यह विशेषांक बहुत सामयिक है। क्योंकि आज के युवकों का नैतिकता विमुख व्यवहार सामाजिक समस्या (?) बन गया है। इस समस्या से केवल भारत के शिक्षक ही नहीं, बल्कि विश्व के शिक्षक भी चिंतित हैं। इस विशेषांक में सभी लेखकों ने नैतिक शिक्षा के संदर्भ में गहराई से विचार किया है। प्रस्तुत लेखों को पढ़ने से नैतिक शिक्षा की आवश्यकता और उसकी समस्या को महसूस किया जा सकता है और साथ ही इस अंक में नैतिक शिक्षा देने के विषय में कुछ सुझाव भी दिए गए हैं। जितने कि शिक्षक नैतिकता के विषय में चिंतित हैं क्या उतने माँ-बाप भी घर पर अपने बच्चों की नैतिक शिक्षा के बारे में चिंतित हैं? आज के माँ-बाप अपने अनैतिक व्यवहारों को भूलकर यह आशा रखते

हैं कि बच्चों को नैतिक शिक्षा देने की ज़िम्मेदारी केवल शिक्षकों की ही है। छात्र नैतिक शिक्षा केवल पाठशाला में ही नहीं, बल्कि समाज में हर जगह, हर क्षण पर प्राप्त कर सकता है। इस विशेषांक पढ़ने से भारत के शिक्षकों में व्याप्त चिंता महसूस होती है, वही चिंता विश्व के सभी देशों के शिक्षकों को भी है।

इसके अतिरिक्त, इन्दौर से प्रकाशित "ऋतुचक्र", लखनऊ से प्रकाशित "प्रियंका" आदि हमें नियमित रूप से प्राप्त हैं इसके लिए धन्यवाद।

परिशिष्ट

गत वर्ष जापान में प्रकाशित भारतीय साहित्य एवं भारतीय भाषा संबंधी निबंधों की सूची (सन् 1981 जून से सन् 1982 जुलाई तक)

1. "उर्दू कवि दवोर", ताकेशि सुज़ुकि. इन्दोगाकु बुक्योगाकु केन्क्यू, अंक 30-1, 1981.
2. "उर्दू कवि अख्तर शेरानी और छायावाद", कोजि काताओका. इन्दोगाक बुक्योगाकु केन्क्यू, अंक 30-1, 1981.
3. "ज्वालामुखी और हिंदी सम्मेलन", योशिअकि सुज़ुकि. होंयाकु नो सेकाइ, जुलाई, 1982 .
4. "क्या भारतीय साहित्य अच्छा है?", योशिअकि सुज़ुकि. आजिआ बुन्का फोराम, अंक 4, 1982.
5. "भारत के लेखक, पुरुषोत्तम दास टंडन", क्यूया दाई. इन्दो ब्रुन्गाकु, अंक 16, 1982.
6. "भारत में साहित्यिक पत्रिका का उत्थान", योशिअकि सुज़ुकि. शूकान दोकुशोजिन, 1981.
7. "भारत के रूपक--प्रेमचन्द की कहानियों में", कोजि आरिकावा. 1982.
8. "भारत के महाकवि भ्रतृहरि एवं बिलहाना", कात्सुहिको कामिमुरा. शिन्जूशा, 1982.
9. "पंजाब के शहरी क्षेत्र में भाषा-संपर्क के कुछ पक्ष-जलंधर शहर के प्रवासियों के में" (दिल्ली विश्वविद्यालय में पी०एच०डी० के लिए शोध प्रबंध), तोमिओ मिज़ोकामि. 1982.
10. "भजन और लोककथाओं को खोज", तेइजि साकाता. शिल्क रोड सुशिन, अंक 1, 1982.
11. "बंगला भाषा वार्तालाप", त्सुयोशि नारा. दाइगाकु शोरिन, 1982.

अनुवाद

1. "कबीर : हिंदू मुसलमान एकता का भक्त", मुहम्मद देयेतुल्लाह. अनु० : केइचि मियामोतो, तोसुइ, शोबो, 1981.
2. "बालकृष्ण शर्मा नवीन, भगवतीचरण वर्मा. अनु० : तोशिओ तानाका, इन्दो बुन्गाकु 16.
3. "काव्य और कला", जयशंकर प्रसाद. अनु० : काज़ुहिको माचिदा, इन्दो बुन्गाकु 16, 1982.
4. "केदारनाथ सिंह की दो कविताओं का अनुवाद". अनु० : कात्सुरा शिराइ, इन्दोब्रुन्गाकु 16, 1982.
5. "मलबे का मालिक", मोहन रकेश. अनु० : केइको शिराइ, इन्दो बुन्गाकु 16, 1982.

6. “त्याग पत्र”, जैनेन्द्र कुमार. अनु० : हिदेआकि इशिदा, इन्दो बुन्गाकु, अंक 16, 1982.
7. “होली”, आजम क्रेवी. अनु० : ताकेशि सुज़ुकि, इन्दो बुन्गाकु, अंक 16, 1982.
8. “एक वेश्या की चिट्ठी”, कृश्न चन्दर. अनु० : मासाओ त्सुजुकि, इन्दो बुन्गाकु, 16, 1982.
9. “स्वातन्त्र्योत्तर हिंदी साहित्य”, काशीनाथ सिंह. अनु० : ताकाको सुगानुमा, दाइसान ब्रुन्मेइ, अप्रैल अंक, 1982.
10. “आधुनिक भारतीय साहित्य एवं जनता”, काशीनाथ सिंह व शूइचि साए. अनु० : ताकाको सुगानुमा बाइसान बुन्मेई, अप्रैल अंक, 1982.
11. “चिल्लाहट”, मंटो. अनु० : कोजि काताओका, इन्दो बुन्गाकु अंक 16, 1982.
12. “Vitamin B”, राजेन्दर सिंह वेदी. अनु० : हिरोशि हागिता, इन्दो बुन्गाकु, अंक 16, 1982.
13. “रवीन्द्रनाथ ठाकुर ग्रंथावली” - भाग 9 - साहित्यालोचना आदि. अनु० : तात्सुओ मोरिमोतो आदि, ढाइसान बुनमेइ शा, 1981.
14. “रवीन्द्रनाथ ठाकुर ग्रंथावली” – भाग 6 – नाटक. अनु० : शिजुका यामामुरो आदि, दाइसान बुनमेशा 1982.
15. “भारत की प्राचीन कथाएँ”, अनु० : युताका इवामोतो, होजोकान, 1982.
16. “वसंत और यायावर”, केन्जी मियाजावा. अनु० : कीयो कुरु व जितेन्द्र राठौर, संभावना प्रकाशन, 1982.
17. “जगमोहन की मृत्यु”, मोहशित देवी. अनु० : मासायुकि ओनिशी, कोल्लानी, अंक 6, 1982.
18. “आत्मा की प्यास”, शोमरेश बोस. अनु० : तामोत्सु नागाइ, कोल्लानी, अंक 6, 1982.
19. रामप्रसाद सेन की कविता “माँ तुम्हें कभी पुकारूंगा नहीं...”. अनु० : किकुको सुज़ुकि, कोल्लानी, अंक 6, 1982.
20. “शिक्षा हेर-फेर”, रवीन्द्रनाथ ठाकुर. अनु० : मासायुकि उसुदा, कोल्लानी, अंक 6, 1982.
21. “आवरण”, रवीन्द्रनाथ ठाकुर. अनु० : याए नाकादा, कोल्लानी, अंक 6, 1982.
22. “धर्म शिक्षा”, रवीन्द्रनाथ ठाकुर. अनु० : हिरोको यामादा, कोल्लानी अंक 6, 1982.
23. रवीन्द्रनाथ की कविताओं का अनुवाद. अनु० : मासायुकि ओनिशी वतामोत्सु नागाइ, कोल्लानी अंक 6, 1982.

इस अंक के लेखक एवं लेखिकाएँ

1. श्री तोमिओ मिज़ोकामि, ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, हिंदी विभाग सहायक प्रोफ़ेसर, 24-6, गोतेनयामा 2 च्योमे, ताकाराजुका-शि, हियोगो केन
2. श्री महेन्द्र साइजी माकिनो, विश्व भारती, जापानी विभाग, अध्यापक, 11, Andrews Palli Santiniketan, West Bengal
3. सुश्री तामाकि मात्सुओका, मासिक पत्र "इन्दो त्सुशिन" संपादिका, 20-8 शिमो 2 च्योमे, किता-कु, तोक्यो
4. सुश्री एदेरा कोदामा, ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, हिंदी विभाग छात्रा, 2734, आओमादानि, मिनोओ-शि, ओसाका
5. श्री माकोतो फुजिवारा, ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, हिंदी विभाग छात्र, 2734, आओमादानि, मिनोओ-शि, ओसाका
6. सुश्री चिहिरो तानाका, राष्ट्रीय भाषा विद्यापीठ छात्रा, द्वारा राष्ट्रीय भाषा विद्यापीठ, हिंदी नगर, वर्धा-452003
7. श्री आकिओ ताकामुरा, रेडियो जापान, हिंदी विभाग, 2-17 कागा 1 च्योमे, काशिवा-शि, चिवा-केन
8. श्री तेरुमित्सु माएकावा, तोक्यो विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, एम०ए० छात्र (भारतीय राजनीतिशास्त्र), 44-29 निशिगाहारा 2 च्योमे, किता-कु, तोक्यो
9. श्री शिगेओ अराकि, एशियाई सांस्कृतिक संघ अध्यक्ष, 249-7 मोमुरा, इनागि-शि, तोक्यो
10. श्री योशिअकि सुज़ुकि, संपादक, 5-9 मात्सुयामा 3 च्योमे, कियोसे-शि, तोक्यो

विशेष सहयोगी

1. श्री मासुरो त्सुजिमुरा, 4-5 हिगाशिकानामाचि 4 च्योमे, कात्सु शिका-कु, तोक्यो,
2. श्री कैलाशचंद्र पाण्डे, वाइ 81, हौज खास, नई दिल्ली- 16
3. केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

(चौथे अंक का) संपादकीय

योशिअकि सुज़ुकि
दीपावली पर्व
नई दिल्ली
4.11.1983

गत मास भारत की राजधानी में तीन दिवसीय तृतीय विश्व हिंदी सम्मेलन संपन्न हुआ। सौभाग्य से इस सम्मेलन की ओर से संपादक को भी आमंत्रित किया गया। इसके अलावा हमारी पत्रिका के विशिष्ट लेखक, ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय के डॉ० तोमिओ मिज़ोकामि, एशिया-अफ्रीका भाषा विद्यापीठ के प्रवक्ता श्री कोकि नागा, भारत-जापान सांस्कृतिक केंद्र के अध्यक्ष डॉ० नरेश मंत्री भी आमंत्रित किए गए थे। इस सम्मेलन में आमंत्रित किए गए विदेशी, खास तौर पर पश्चिमी देशों से आए लोग सभी हिंदी के विद्वान थे, किंतु मैं ही एक मात्र ऐसा व्यक्ति था, जिसे जापान के साधारण हिंदी प्रेमियों में से चुना गया था। संभवतः विदेश में हिंदी प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से चुना गया होगा। अगर यह सही है तो सम्मेलन के प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ।

इस सम्मेलन के संबंध में तरह-तरह की शिकायतें थी। सम्मेलन अव्यवस्थित तो ज़रूर था। उद्घाटन समारोह में विद्वानों ने हिंदी को शांति की भाषा कहा, पर उद्घाटन समारोह समाप्त होने के तुरंत बाद ही शांति की भाषा अशांति की भाषा में बदल गई। भोजन कक्ष में धक्कम-धक्का के साथ हिंदी की गालियाँ गूंज उठी। ऐसे वातावरण से भयभीत होकर में होटल वापस चला आया और विश्राम के बाद ही मुझे पता चला कि प्रथम संगोष्ठी के गोष्ठी सत्र पाँच के अध्यक्ष-मंडल में मेरा नाम है, लेकिन उस के संबंध में सम्मेलन की ओर से मुझ से कुछ भी नहीं कहा गया था। मैं क्या जानता, जब मुझे पता चला तब तक गोष्ठी तो समाप्त ही हो गई थी।

इस प्रकार की व्यवस्था के बावजूद सम्मेलन का कार्यक्रम चलता रहा और चलाना ही पड़ा। सम्मेलन में कार्यरत लोगों के चेहरों पर भी थकावट की छाया स्पष्ट दिखाई दी। शायद सम्मेलन के आयोजकों द्वारा भी अनुमान लगाया नहीं जा सका कि देश-विदेश से इतनी बढ़ी संख्या में हिंदी-प्रेमी राजधानी दिल्ली पहुँचे। इन्द्रप्रस्थ स्टेडियम बिल्कुल कलकत्ता जैसा रूप धारण करने लगा। जैसे शरणार्थी महानगर में काम ढूंढने आते हैं, वैसे ही लोग सम्मेलन में भाग लेने देश के कोने-कोने से आए। एक और मंच पर हिंदी का जय-जयकार, दूसरी ओर हिंदी शरणार्थियों की भीड़-भाड़। माहौल भारत की भाषा समस्याओं को समझने के लिए काफ़ी था। कितनी प्रतीकात्मक स्थिति।

लेकिन इस सम्मेलन की उपलब्धियाँ भी ज़रूर थीं। इस सम्मेलन का नारा "वसुधैव कुटुम्बकम्" पूर्णरूप धारण किया। देश-विदेश से आए लोगों के साथ हिंदी में बात करने से हम लोगों के मन में एक ऐसी भावना उत्पन्न हुई कि भाषा एक दूसरे को जोड़ने का काम करती है। हिंदी के माध्यम से लोगों के बीच में सद्भावना उत्पन्न हुई। यह सबसे अच्छी उपलब्धि थी।

खैर, तृतीय विश्व हिंदी सम्मेलन समाप्त हो गया। हम लोगों ने इस सम्मेलन से काफ़ी सीख ली है। अब हमें भारतीय भाषाओं की वास्तविक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर हिंदी का विकास करना होगा। प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन के समय की हिंदी की परिस्थिति और आज की हिंदी की परिस्थिति में कोई खास परिवर्तन दिखाई नहीं पड़ता।

"ज्वालामुखी" का चतुर्थ अंक विलंब से अब आप के हाथ में है। संपादक के व्यक्तिगत कारण से इस अंक के बाद "ज्वालामुखी" हर वर्ष जनवरी में आपके हाथ में पहुँचा करेगा। जैसा कि हमारे पाठकगणों को याद होगा कि हमारी पत्रिका जापानी लोगों द्वारा लिखित हिंदी पत्रिका है। हिंदी के माध्यम से विचार, संस्कृति के आदान-प्रदान हेतु इस पत्रिका का श्रीगणेश किया गया। इस उद्देश्य को अमल में लाने के लिए "ज्वालामुखी" का विशेषांक जापान में प्रकाशित होने वाला है। साधारण जापानी साहित्य प्रेमियों को आधुनिक हिंदी साहित्य से अवगत कराने के उद्देश्य से विशेषांक का शीर्षक "आधुनिक हिंदी साहित्य परिचय" निर्धारित किया गया है। इस योजना से सहमत होकर भारत के हिंदी साहित्यकारों ने, विद्वानों ने निःस्वार्थ सहयोग देना स्वीकार किया और साहित्य संबंधी निबंध संपादक के पास भेजे। आजकल संपादक इन निबंधों के जापानी भाषा में अनुवाद करने के काम में संलग्न है। विशेषांक आगामी अप्रैल तक प्रकाशित हो जाने की आशा है।

ओसाका में ग्रीष्मकालीन पंजाबी गहन पाठ्यक्रम

डॉ० तोमिओ मिज़ोकामि

भूमिका

वैसे तो जापानी विश्वविद्यालयों में संस्कृत, हिंदी, उर्दू आदि भारतीय भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन की अपनी-अपनी परंपरा है, पर भारत की अन्य भाषाओं का अध्ययन अभी शुरू में है। संभवतः बंगला ही एक ऐसी भाषा है जिसको अपवाद के रूप में लिया जा सकता है, क्योंकि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कारण बंगला साहित्य की समृद्धि से इस देश में काफ़ी लोग परिचित हैं और इस भाषा के पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या भी बढ़ रही है। तोक्यो से "कल्याणी" नामक पत्रिका भी निकलती है, जिसमें बंगला साहित्य का परिचय दिया जाता है।

अब धीरे-धीरे कुछ अन्य भारतीय भाषाओं की शिक्षा भी दी जाने लगी है जिसका श्रेय तोक्यो विदेशी भाषा विश्वविद्यालय से संबद्ध एशिया तथा अफ्रीका भाषा एवं संस्कृति संस्थान को है। इस संस्थान की स्थापना सन् 1964 ई० में हुई। इस संस्थान के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :-

1. एशिया तथा अफ्रीका की भाषाएँ तथा इन भाषाओं के माध्यम से इन देशों के इतिहास समाज तथा संस्कृति का अध्ययन।
2. एशिया तथा अफ्रीका की भाषाओं के शब्दकोशों का निर्माण कार्य।
3. भाषा शिक्षण की व्यवस्था।

इस संस्थान में चालीस के करीब विद्वान हैं, पर अध्ययन-प्रधान होने के कारण अपना कोई विद्यार्थी नहीं है। यद्यपि यह संस्थान तोक्यो विदेशी भाषा विश्वविद्यालय से संबद्ध है, पर यह पूरे जापान के विद्वानों का आम संस्थान है। इस दृष्टि से उद्देश्य नंबर तीन का बड़ा महत्त्व है। संस्थान प्रति वर्ष जुलाई और अगस्त दो महीनों में, जिस समय जापान में शैक्षिक संस्थाएँ ग्रीष्मकाल की छुट्टी के कारण बंद रहती है, एशियाई तथा अफ्रीकी भाषाओं के शिक्षण की व्यवस्था करता है। तोक्यो में दो भाषाओं तथा ओसाका में एक भाषा के अध्यापन की व्यवस्था है।

इस भाषा शिक्षण की विशेषताएँ हैं :

1. प्रतिदिन 6 घंटे (शनिवार और रविवार को छोड़कर) के हिसाब से पाँच सप्ताह अर्थात् कुल मिला कर 150 घंटे का पाठ्यक्रम है।

2. जापानी अध्यापक तथा मूल भाषा-भाषी दो अध्यापक इस पाठ्यक्रम को चलाते हैं। यह कोई ज़रूरी नहीं है कि जापानी अध्यापक उसी संस्थान का विद्वान हो। अमुक भाषा का विशेषज्ञ अपने संस्थान में नहीं है, तो संस्थान बाहरी विशेषज्ञ को इस पाठ्यक्रम के लिए नियुक्त करता है। ओसाका में तो प्रायः ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय के अध्यापक नियुक्त हो जाते हैं।
3. पूरे देश से छात्र पढ़ने आ सकते हैं पर भाषा शिक्षण का लाभ अधिकतम हो— इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर सिर्फ़ दस सीटें रखी गई हैं।

इस प्रकार अभी तक 22 भाषाओं के शिक्षण की व्यवस्था की गई है। इनमें कुछ भारतीय भाषाएँ भी सम्मिलित हैं—हिंदी, बंगला, मराठी, तथा पंजाबी और नेपाली भी। इस वर्ष ओसाका में पंजाबी के गहन पाठ्य क्रम की व्यवस्था की गई है। लेखक तथा डॉक्टर आत्मजीत सिंह- रीडर, पंजाबी अध्ययन विभाग, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय ने इस पाठ्यक्रम के उत्तरदायित्व को ग्रहण किया। यह लेख उस पंजाबी पाठ्यक्रम से संबंधित रिपोर्ट है।

(1) शिक्षार्थियों का परिचय

जिन नौ शिक्षार्थियों ने इस पाठ्यक्रम के लिए आवेदन पत्र दिए हैं उनकी आयु, शैक्षिक पृष्ठभूमि तथा पंजाबी सीखने के उद्देश्य आदि इस प्रकार हैं :-

शिक्षार्थी	लिंग	आयु	शिक्षा	अब तक सीखी विदेशी भाषाएँ	उद्देश्य प्रेरणा स्रोत
क	स्त्री	29	कृषि विज्ञान में एम०एस०सी०, सम्प्रति केंद्रीय हिंदी संस्थान की छात्रा	अंग्रेज़ी, हिंदी, उर्दू	गुरुनानक के विचारों में रुचि
ख	पुरुष	22	तोक्यो विश्वविद्यालय का छात्र, एम०ए० तृतीय वर्ष	अंग्रेज़ी, जर्मन	राष्ट्रीय संगठन तथा भाषायी राष्ट्रीयता में रुचि
ग	पुरुष	26	तोक्यो विदेशी भाषा विश्वविद्यालय का छात्र, एम०ए० द्वितीय वर्ष, आधुनिक भारतीय इतिहास	अंग्रेज़ी, हिंदी	1947 के भारत विभाजन पर शोध-कार्य ज़ारी रहा है
घ	पुरुष	20	ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय का छात्र, बी०ए० तृतीय वर्ष जर्मन	अंग्रेज़ी, जर्मन	भारतीय संस्कृति तथा सामाजिक भाषा-विज्ञान में रुचि

ड़	स्त्री	20	ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय छात्रा, बी०ए० द्वितीय वर्ष हिंदी	अंग्रेज़ी, हिंदी	भारतीय भाषाओं में रुचि
च	पुरुष	32	तोक्यो विश्वविद्यालय का स्नातक। जापान एयरलाइंस की नौकरी त्याग कर आया।	अंग्रेज़ी, जर्मन, फ्रांसीसी, स्पेनी, इतालवी, रूमानी	भविष्य में सिख धर्म के इतिहास पर कार्य करने की इच्छा
छ	स्त्री	21	ओतेमान गाकुइन विश्वविद्यालय की छात्रा, बी०ए० चतुर्थ वर्ष एशियाई सभ्यता	अंग्रेज़ी, हिंदी, जर्मन, उर्दू, बांग्ला	छात्र जीवन में अंतिम ग्रीष्मकालीन छुट्टी को सार्थक बनाने के लिए
ज	पुरुष	20	ओसाका विदेशी भाषा विश्व विद्यालय का छात्र, बी०ए० द्वितीय वर्ष हिंदी	अंग्रेज़ी, हिंदी, उर्दू	नवीन भारतीय जगत के खोज के लिए। भविष्य में अध्ययन में सहायता मिले
झ	स्त्री	20	ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय अंग्रेज़ी, हिंदी,	अंग्रेज़ी, हिंदी, उर्दू	भारतीय भाषाओं में रुचि

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि सभी शिक्षार्थी अपनी रुचि के कारण (व्यावसायिक रूप से कोई नहीं।) पंजाबी सीखने के लिए प्रेरित हुए थे। इन में से तीन शिक्षार्थियों क, ग, तथा च ने "आवश्यकता" के अनुसार पंजाबी सीखने का सोचा था। दो तिहाई शिक्षार्थियों ने पहले हिंदी सीखी हुई है। अंग्रेज़ी तो सबको आती ही है।

(2) पाठ्य पुस्तकें तथा सहायक पुस्तकें

प्रस्तुत लेखक ने इस पाठ्यक्रम के लिए तीन किताबें तैयार की हैं :-

1. पंजाबी प्रवेश 2. पंजाबी रीडर, 3. पंजाबी वार्तालाप

तीनों पुस्तकें गुरुमुखी व जापानी लिपि में छपी हैं। नंबर एक में गुरुमुखी वर्णमाला के परिचय के साथ संक्षिप्त व्याकरण का परिचय दिया गया है। बीस पाठों में विभक्त होने के कारण एक दिन के हिसाब से प्रायः एक पाठ पढ़ाने की योजना थी। यद्यपि उच्चारण के अभ्यास में ज़्यादा समय लगा था, पर मोटे तौर पर यह लक्ष्य पूर्ण हुआ। प्रत्येक पाठ में पहले सरल वाक्यों के उदाहरण फिर क्रमशः जटिल वाक्यों के उदाहरण दिए गए हैं और पाठ के अंत में अनुवाद जापानी से पंजाबी में करने का अभ्यास भी दिया गया है। नंबर दो में भी बीस पाठ

हैं। लघु कथा, निबंध, लोक-कहानी, समाचार-पत्र, कविता, जीवनी इत्यादि साहित्य की नाना विधाओं की रचनाओं का संकलन है जो कि इस प्रकार है :- 1. मेरा स्कूल, 2 पिकनिक, 3. स्त्री-विद्या, 4. एक लाड़ा, 5. अंबी दी कहानी, 6. दीवाली, 7. दाज दी लाहनत, 8, पंजाब दे मेले, 9. गुरु नानक देव जी, 10. साडे पिंड, कल आज ते भलक, 11. एके दा फल, 12. पंजाबी भाषा, 13 दिल्ली विच पंजाबी नूँ उर्दू दे बराबर सहूलतां प्राप्त, 14. पंजाबी बोलदे जापानी प्रोफ़ेसर दा कसूता सवाल, 15. वसंत--धनी राम चात्रिक, 16. शहीदी संदेश – एस. एस. मीशा, 17. बल्ले जट्टा बल्ले—नंद लाल "नूरपुरी" 18. मेरा बचपन--हरिभजन सिंह, 19. अज्ज आखां वारिस शाह नू--अमृता प्रीतम, 20. शहीद-ए-आजाम सरदार भगत सिंह दा संखेप जीवन-चरित्र।

विश्वविद्यालय स्तरीय विद्यार्थियों की वृद्धि के स्तर को ध्यान में रखते हुए संकलित किया जाने के कारण प्रारंभिक पाठ के लिए कुछ कठिन बन गई। कठिन शब्दों के अर्थ टिप्पणी के रूप में जापानी में दिए गए हैं। समय के अभाव के कारण पूरा पाठ नहीं पढ़ाया जा सका, पर आधा पाठ पढ़ाया गया।

नंबर तीन में पंजाबी वार्तालाप के नमूनों का संग्रह है जो दस पाठों में विभक्त है, यथा : 1. पालम हवाई अड्डे ओते, 2. दिल्ली दी सैर, 3. दवाखाने विच, 4. डी०ए०वी० कॉलेज जलंधर विच, 5. ढाबे विच, 6. पंजाब दे त्यौहार, 7- चंडीगढ़ दी सैर, 8. अमृतसर दी सैर, 9. खेडां बीरे, 10. अमृता प्रीतम नाल मुलाकात।

10 को छोड़ कर बाक़ी सब संवाद परिकल्पना के आधार पर बनाये गए हैं हरेक पाठ में पंजाबी बोलने वाले एक जापानी और पंजाबियों के बीच का संवाद है। ऐसी परिकल्पना पुस्तक को रोचक बनाने तथा संवादों को सजीव बनाने के उद्देश्य से ही की गई है। इन संवादों के माध्यम से पाठकों को पंजाबी संस्कृति से अवगत किया जाता है। ठोस संवादों से भरपूर होने के कारण यह उच्च स्तर की पुस्तक बन गई। इसलिए कक्षा में तो केवल "पाठ एक" ही पचा सकें किंतु प्रत्येक पंजाबी संवाद के साथ जापानी अनुवाद भी दिया गया है, इसलिए पाठक इस की सहायता से स्वयं सीख सकते हैं।

1 तथा 2 के लिए "टेप" भी तैयार किया गया जिसे सुनकर शिक्षार्थी स्वयं घर में अभ्यास कर सकें इन तीन पुस्तकों के अतिरिक्त पंजाबी-अंग्रेज़ी कोश अमृतसर, ऑक्सफ़ोर्ड सचित्र अंग्रेज़ी-पंजाबी शब्दकोश भी सहायक पुस्तकों के रूप में शिक्षार्थियों को वितरित की गई।

(3.) लक्ष्य

भाषा शिक्षण के चार क्षेत्रों—–पढ़ना, लिखना, बोलना, सुनना में संतुलित रूप से प्राथमिक प्रवीणता प्राप्त करना इस अध्यापन का लक्ष्य था, अर्थात् व्याकरण के ढांचे को पूरी तरह समझना, सरल वाक्यों को पढ़-लिख सकना, शब्दकोश की सहायता लें तो कुछ कठिन

वाक्यों को भी पढ़ सकें। तथा आम विषयों पर मामूली बातचीत कर सकना। यह लक्ष्य ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के बी०ए० प्रथम वर्ष के लक्ष्य के साथ साम्य रखता है अर्थात् विश्वविद्यालय के साल भर के नियमित पाठ्यक्रम को पाँच हफ्तों में पूरा करना है। इसी में तो गहन पाठ्यक्रम की सार्थकता है। परंतु केवल पंजाबी "भाषा" में प्रवीणता प्राप्त करना पर्याप्त नहीं होता अपितु "संस्कृति" संबंधी जानकारियाँ भी हासिल करना बुद्धिजीवी शिक्षार्थियों के लिए बहुत आवश्यक है। इस दृष्टि से मूल भाषा-भाषी डॉक्टर आत्मजीत सिंह का बड़ा योगदान मिला। उनके लिए तो संस्कृति के बारे में अलग कोई "लेक्चर" देने की ज़रूरत नहीं थी। भाषा शिक्षण के बीच-बीच में संस्कृति का परिचय देते रहे। उदाहरण के लिए उच्चारण अभ्यास में "पंजा" जैसा मामूली शब्द आ गया तो इसी शब्द को लेकर "पंजा साहिब" की ऐतिहासिक व्याख्या की गई। इस प्रकार का वर्णन उच्चारण-अभ्यास की नीरसता में रस भरने के लिए बड़ा सहायक हुआ और जिज्ञासु शिक्षार्थियों को बड़ा लाभ हुआ।

इसके अलावा हर रविवार को को शहर में स्थित गुरुद्वारे में पूजा के लिए शिक्षार्थियों को बुलाया जाता था, जहाँ पंजाबी सुनने का और पंजाबी भोजन के स्वादन का अवसर मिलता था। "लंगर" के बाद अक्सर किसी पंजाबी के घर चाय के लिए बुलाया जाता था, वहाँ भी शिक्षार्थियों को पंजाबी के अभ्यास का मौका मिलता था। इस प्रकार का अनुभव भी शिक्षार्थियों के लिए उत्साहवर्द्धक तत्त्व बन गया।

यद्यपि लिखित भाषा के स्तर पर भारतीय पंजाबी तथा पाकिस्तानी पंजाबी में बड़ा अंतर है, पर बोल-चाल की पंजाबी दोनों में प्रायः एक जैसी है। पाकिस्तानी पंजाबी तथा भारतीय पंजाबी का संबंध कुछ इस प्रकार है जिस प्रकार उर्दू और हिंदी का है। इस पाठ्यक्रम में भारतीय पंजाबी को प्रमुख आधार मानकर पढ़ाया गया, क्योंकि राज्य भाषा के रूप में पंजाबी का विकास भारत में अधिक हो रहा है। पाकिस्तान में, कुछ अपवादों को छोड़कर पंजाबी अभी सिर्फ़ बोलचाल की भाषा है। पर चूंकि पंजाबी भाषा-भाषियों की संख्या उधर पाकिस्तान में ज़्यादा है, इसलिए बोलचाल का अभ्यास कराते समय इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि शिक्षार्थी पाकिस्तान में भी संचारित कर सके।

(4) अध्यापन की प्रक्रिया

1. प्रथम सप्ताह

प्रथम दिन से ही गुरुमुखी लिपि का परिचय कराया गया। लगभग 50 अक्षर की लिपि सीखना जापानियों के लिए बहुत कठिन नहीं है, क्योंकि उन लोगों को बचपन से हज़ारों की तादाद में चीनी चित्राक्षर सीखने पड़ते हैं जिससे उन लोगों की दृष्टि इंद्रियाँ तेज़ हो जाती है। परंतु उन

लोगों की श्रवण इंद्रियाँ क्षीण हैं। एक भाषा-भाषी देश होने के कारण विदेशी भाषाओं के विशेष उच्चारण सुनने का मौका प्रायः नहीं मिलता और जापानी भाषा की ध्वनि व्यवस्था भी बहुत सरल है। शुरू-शुरू में ही प्रायः सभी शिक्षार्थियों को पंजाबी उच्चारण की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

यह अवश्य है कि जिन्होंने हिंदी सीखी है, उनको पंजाबी उच्चारण सीखने में शेष शिक्षार्थियों की तुलना में कम कठिनाई है। जिन शिक्षार्थियों ने कभी कोई भारतीय भाषा न सीखी थी उनके लिए विशेष रूप से महाप्राण एवं अल्पप्राण का भेद तथा मूर्धन्य उच्चारण कठिन लगे थे। परंतु हिंदी पढे हुए शिक्षार्थियों के लिए भी मूर्धन्य व्यंजन 'ण' का उच्चारण बहुत कठिन लगा, जिसका प्राधान्य पंजाबी उच्चारण की अन्यतम विशेषता है। हिंदी पढे हुए कुछ शिक्षार्थियों में अल्पप्राण उच्चारण को अनजाने में महाप्राण कर देने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी। जापानी में महाप्राण तथा अल्पप्राण का अंतर नहीं है, बल्कि प्रायः अध्याक्षरित अल्पप्राण उच्चारण से कठिन लगता है। 'र', 'ल' तथा 'ड़' की कठिनाई तो "जातीय" समस्या बन गई है।

केवल बहुत सजग शिक्षार्थी ही इन तीन ध्वनियों का भेद कर सकते हैं अन्यथा नहीं। एक शिक्षार्थी अध्याक्षरित सघोष उच्चारण को नियमित रूप से अघोष करके बोलता था जो कि "जातीय" न होकर "व्यक्तिगत" समस्या थी। इस प्रकार उच्चारण की आशातीत कठिनाइयों का सामना करने के लिए पूरा एक सप्ताह लगा दिया गया। समय के हिसाब से यह पूरे पाठ्यक्रम की अवधि का पाँचवां हिस्सा था। पढ़ने वाले यदि केवल जापानी अध्यापक होते तो केवल उच्चारण के अभ्यास के लिए इतना समय न लगता। पर भाषा में संतुलित प्रवीणता प्राप्त करने के लिए उच्चारण के महत्त्व की अवहेलना नहीं की जानी चाहिए। फिर मूल भाषा भाषी डॉक्टर आत्मजीत सिंह के सहचर का पूरा फ़ायदा क्यों न उठाया जाय--यह सोचकर उच्चारण के अभ्यास पर बहुत ज़ोर दिया गया। उच्चारण की क्षमता में व्यक्ति व्यक्ति में अंतर था और यह अंतर बढ़ता गया। हिंदी नहीं आती थी उनमें से एक-दो शिक्षार्थी परिश्रम से पंजाबी उच्चारण की कठिनाइयों को दूर करने में काफ़ी हद तक सफल होने लगे।

हिंदी पढ़े हों या न पढ़े हों, सबके लिए पंजाबी की विशेष तान कठिन लगी थी। हिंदी जानने वालों के पंजाबी उच्चारण में हिंदी की ध्वनि व्यघातक होती सुनाई देती थी। कुछेक शिक्षार्थियों को सुनकर पंजाबी तान की पहचान होने लगी, पर अंतिम समय तक अपने मुख से सहज भाव से उच्चरित कोई नहीं कर सकता था।

2. द्वितीय सप्ताह

प्रौढ़ व्यक्तियों को छह घंटे केवल उच्चारण का अभ्यास तथा शब्दों को कंठस्थ करते-करते उकताहट का आना स्वभाविक था, यद्यपि डॉक्टर आत्मजीत सिंह की विनोदशीलता तथा

रसिकता भरी वार्ता ने शिक्षार्थियों को ऐसा होने से बचा दिया केवल 16 पृष्ठ के अभ्यास के लिए पूरे 30 घंटे लगाये गए। अत: इस एकरसता से बचने के लिए द्वितीय सप्ताह के प्रथम दिनों में पंजाबी संस्कृति के बारे में दो विशेषज्ञों से "लेक्चर" कराया गया। प्रो. कुवाजिमा ने "पंजाब का आधुनिक इतिहास" पर तथा प्रो. हामागुची ने "पंजाब का आर्थिक विकास" पर दो घंटे का भाषण दिया।

दूसरे दिन से व्याकरण की व्याख्या शुरू हो गई। "मैं जापानी हाँ।", "मैं भारती हाँ।" "तुसी पंजाबी हो।" सरीखे वाक्यों की व्याख्या लेखक ने ही की और मौखिक अभ्यास डॉक्टर आत्मजीत सिंह ने कराया। मौखिक अभ्यास तो हरेक वाक्य के लिए तीन बार समवेत स्वर में कराया गया, उसके बाद व्यक्तिगत अभ्यास भी। व्यक्तिगत अभ्यास में अशुद्धियों को यथासंभव शुद्ध करने का प्रयत्न भी किया गया। प्रत्येक नए वाक्य के लिए उसका आदेश अभ्यास भी कराया गया।

3. तृतीय सप्ताह

व्याकरण अपने मध्यम चरण पर पहुँच गया। प्रत्येक पाठ के अंत में दिया गया अनुवाद का अभ्यास शिक्षार्थियों से श्याम-पट पर लिखवाया गया। फिर उस वाक्य के आधार पर नया वाक्य मौखिक रूप से बनाने को कहा गया। कुछ शिक्षार्थी मौखिक प्रश्नोत्तर शीघ्र देने में कुशल थे, कुछ तो सुंदर ढंग से शुद्ध वाक्य लिखने में। ये दो क्षमताएँ अनुपातिक नहीं थीं। कुछ ऐसे शिक्षार्थी भी थे जो स्वभाव से शांत और मितभाषी होने के कारण प्रश्नों के उत्तर मुख से नहीं दे पाते थे पर शुद्ध पंजाबी लिखने में किसी से पीछे नहीं थे।

यह तो स्वयंसिद्ध बात है कि हिंदी न जानने वालों को पंजाबी सीखने में बड़ी असुविधाएँ और कठिनाइयाँ हैं परंतु हिंदी न जानने वाले तीन शिक्षार्थी अपनी मेहनत से इन कठिनाइयों को दूर करने लगे और हिंदी जानने वाले कुछ अन्य सहपाठियों से भी आगे बढ़ने लगे। इस हफ्ते में पाठ्य पुस्तक एक के 13वें पाठ तक समाप्त किया गया। इसका मतलब यह हुआ कि व्याकरण के महत्त्वपूर्ण अंश पढ़ाये जा चुके थे। सरल परीक्षा भी ली गई—अधिकतम अंक 99 थे और न्यूनतम 45।

4. चतुर्थ सप्ताह

सुबह तीन घंटे व्याकरण के शेष अंश पढ़ाये गए और दोपहर के तीन घंटे पाठ्य पुस्तक दो की पढ़ाई शुरू कर दी गई। "रीडर" अभी कोई धारा प्रवाह नहीं पढ़ सकता था, पर टिप्पणी एवं शब्दकोश की सहायता से कुछ शिक्षार्थी काफ़ी समझ लेते थे। दूसरी परीक्षा ली गई—उतना ही परिणाम निकला जितना पहली परीक्षा का।

5. पंचम सप्ताह

पाठ्य पुस्तक एक समाप्त कर दी गई। पाठ्य पुस्तक दो के आधे अंश समाप्त हो गए। दो कविताओं "मेरा बचपन" तथा "अज्ज आखां वारिस शाह नू" की व्याख्या डॉक्टर आत्मजीत सिंह ने अंग्रेज़ी के माध्यम से की। पंजाबी मनोभावों की व्याख्या पंजाबी के विशेषज्ञ के द्वारा ही संभव है- यह लेखक का मत है। डॉक्टर आत्मजीत सिंह ने इतनी प्रभावशाली शैली से तथा जोश के साथ पढ़ाया कि सभी शिक्षार्थी मुग्ध हो गए। बाद में हरेक शिक्षार्थी से पूछा जाने पर कि व्याख्या कितनी समझ में आई, उत्तर इस प्रकार मिले :-

1. पूर्णत: समझ में आई..................1
2. लगभग समझ में आई 5
3. समझने में काफ़ी कठिन लगी 2
4. प्रायः समझ में नहीं आई.............1

एक दिन दो पंजाबी चलचित्र वीडियो के माध्यम से दिखाए गए। चलचित्रों के नाम थे "गिद्धा" और "साल सोलवां चढ़िया"। यद्यपि पूरा संवाद समझने में शिक्षार्थियों को दिक्कत थी, पर उन्होंने फ़िल्मों का मज़ा तो ले लिया।

अंतिम दिन में डॉक्टर आत्मजीत सिंह ने पंजाबी में पत्र लिखने की विधि के बारे में श्याम-पट पर उदाहरण दे देकर समझाया। हाँ, विनोद प्रिय डॉक्टर साहब यह कहना न भूले कि हम पंजाबी चिट्ठी लिखने में बहुत सुस्त हैं। समय के अभाव के कारण पाठ्य पुस्तक तीन प्रथम पाठ को छोड़कर नहीं पढ़ायी जा सकी।

(5) मूल्यांकन तथा निष्कर्ष

प्रत्येक शिक्षार्थी का मूल्यांकन अपनी अपनी कुल उपलब्धि के आधार पर इस प्रकार किया जाएगा :-

प्रथम श्रेणी... क, ग, उ तथा च
द्वितीय श्रेणी.... ख, घ, ज तथा झ
तृतीय श्रेणी.......छ

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि जापान में सर्वप्रथम चलाए गए इस पंजाबी पाठ्यक्रम को बड़ी सफलता मिली। सीमित अवधि को देखते हुए यह बड़ी उपलब्धि थी। इन शिक्षार्थियों में से भविष्य में पंजाबी भाषा व साहित्य के विशेषज्ञ उत्पन्न हो सकते हैं। हिंदीतर भारतीय भाषा सीखने के लिए हिंदी का ज्ञान बहुत ही लाभदायक है, बल्कि यह कहना

अधिक उचित होगा कि हिंदी का ज्ञान आवश्यक है। ‘‘परमावश्यक’’ इसलिए नहीं कह सकते कि उक्त प्रथम श्रेणी प्राप्तकर्ताओं में एक ऐसा शिक्षार्थी भी शामिल है जिसने हिंदी कभी नहीं पढ़ी थी।

अब भविष्य में ऐसा समय आएगा जब जापान में यह समझा जाएगा कि भारत प्रेमी या भारतीय विद्या जिज्ञासु विद्यार्थी के लिए हिंदी का ज्ञान होना कोई बड़ी बात न होकर आम बात होगी और केवल हिंदी भाषा का ज्ञान पर्याप्त नहीं समझा जाएगा जब तक किसी हिंदीतर भाषा का ज्ञान न हो। इस दिशा में एशिया तथा अफ्रीका भाषा एवं संस्कृति संस्थान सराहनीय कार्य कर रहा है। सूचना मिली है कि निकट भविष्य में तमिल भाषा के गहन पाठ्यक्रम की योजना की जा रही है।

जापान में भारतीय फ़िल्म उत्सव

21 सितंबर से 25 सितंबर तक और 15 अक्टूबर से 30 अक्टूबर तक जापान में पहली बार भारतीय फ़िल्म उत्सव का आयोजन हुआ।

हमारे पाठकगण को सुश्री तामाकि मात्सुओका का नाम याद होगा। उन्होंने उस उत्सव के लिए बड़ी भूमिका निभाई। उनके प्रयास से ही उस उत्सव का आयोजन हुआ। भारतीय फ़िल्म उत्सव में दो हिंदी फ़िल्में "अंकुर", "घरौंदा" और एक मलयालम फ़िल्म "तंबू" दिखाई गई और उस उत्सव के लिए जापानी लोगों को भारतीय फ़िल्मों के बारे में जानकारी बने के लिए छोटी-सी पुस्तिका भी प्रकाशित की गई, जिसमें तोक्यो स्थित भारतीय दूतावास के राजदूत, प्रदर्शित फ़िल्मों के निर्देशकों आदि का संदेश और भारतीय फ़िल्म अभिनेता-अभिनेत्रियों के संक्षिप्त परिचय भी दिए गए हैं।

साधारण जापानियों को भारतीय फ़िल्मों के माध्यम से इस मौके पर भारतीय समाज की एक झलक देखने को मिल सकी। भारतीय फ़िल्म उत्सव की आयोजन समिति के इन प्रयासों की बड़ी प्रशंसा की गई है।

समिति का पता है :

Executive Committee
Indian Film Festival in Japan
c/o "Group Gendai", Fujita Building,
1-12-3 Shinjuku, Shinjuku-ku,
TOKYO, JAPAN-160

एक नामंजूर लेख : शराब-दर्शन

महेन्द्र साइजी माकिनो

करीब 25 वर्ष के अपने भारत प्रवास में जो कुछ मैंने पढ़ा, सीखा, समझा और अनुभव किया, उसे हिंदी और जापानी में व्यक्त करते आया हूँ, जिसे मैंने अपना कर्तव्य भी समझ लिया है। जापानी भाषा में भारत परिचय विषयक निबंध लगभग 36 और हिंदी में जापान परिचय विषयक निबंध लगभग 53 तक पहुँच गए हैं। पर एक लेख मैं किसी प्रकार भी छपवा न सका। यह था 'शराब-दर्शन : एक जापानी दृष्टि'। शराब आज भी एक चर्चा का विषय है जिसके संबंध में बुरा-भला कहा जाता है। हमारे जापान और जापानी संस्कृति में शराब का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है जो जानने वाले ही जानते हैं। ऐसे विषय को छोड़कर मैं अपना परिचय कार्य पूरा नहीं कर सकता। पर एक भय भी था कि भारत वासियों को हमारी जापानी संस्कृति के प्रति ग़लतफ़हमी ही न हो जाय। 'ज्वालामुखी' हम जापानियों के लिए एक स्वतंत्र क्षेत्र है, जिसमें ऐसे अभद्र लेख भी छप सकते हैं। इसलिए मैंने यह लेख यहाँ ज्यों-का-त्यों पेश करने की गुस्ताखी की है।

संसार में शायद ही कोई ऐसी जगह होगी जहाँ शराब न पी जाती हो या जहाँ शराब न बनती हो। यह आज संभव नहीं है। पूर्व से पश्चिम तक आज सभी लोग शराब से परिचित हैं। पर कभी किसी ने आज तक गहराई से सोचा है कि असल में यह क्या चीज़ है?

बंदर अपने बिल में फलों को इकट्ठा करके संचय करता था, जो बाद में सड़कर खुशबूदार तथा नशीली चीज़ बन जाती थी--यही थी शराब की उत्पत्ति, परंतु न बंदर उसे जानता था, न अपने काम में लाता था। केवल बुद्धिमान मानव ने ही उसे समझा था। क्योंकि शराब जीवन का रस है, पशु जगत में उस का स्थान नहीं। वह केवल मानव के लिए प्राकृतिक देन है और मानव ने ही अपने जीवन की नश्वरता की कामना करते हुए उसके प्रयोग की शुरूआत की।

प्राचीन काल में जब मनुष्य अनाज तथा फलों को संचय करके किसी गुफा में रखता था, तब वह अपने आप पककर खमीर उठने से शराब तैयार बन जाती थी। आदि-मानव दानव से डरता था। इस भयंकर दुष्टात्मा को खुश करने या उससे मित्रता बनाने के लिए इस शराब को उसके सामने चढ़ाया करता था। जिस प्रकार भारत के हिंदू धर्म में सबसे प्राचीन ग्रंथ वेद में 'सोम' के नाम से ईश्वर पूजा के लिए शराब को अर्पित करने का वर्णन है, उसी प्रकार जापान में भी शराब को 'ओमिकि' अर्थात् 'पवित्र पानी' कहा गया और जिसे प्राचीन काल में जापानी हज़ारों देवताओं को चढ़ाते थे। मूलरूप में तो शराब देवता के साथ एक होने के लिए और देवता के साथ भोगने की चीज़ थी। वह इतनी पवित्र चीज़ मानी जाती थी कि ऐसा कहा

जाता था कि शराब के साथ जो होता है, वह देवता के साथ होता है। फिर धीरे-धीरे मनुष्य उसका प्रयोग मनुष्य के साथ करने लगे। मनुष्य को नशे में डालकर मन प्रसन्न करने वाली इस शराब में एक अजीब-सी शक्ति मौजूद है। प्राचीन काल से जापान खेती प्रधान देश था और चावल, मछली जापानियों का मुख्य भोजन रहा है। किसी उत्सव-त्योहार के अवसर पर देवताओं को प्रसन्न करने हेतु देवालय या मंदिर में सबसे पहले भगवान के सामने शराब जो चावल से बनती थी, को कच्ची मछली के साथ अवश्य चढ़ाया जाता था। इसका अर्थ यह होता है कि देवता एक प्रकार का मेहमान है जिसका स्वागत, सत्कार और ख़ुशामद की जाय और इस तरह मानव तथा देवता के बीच एक संबंध स्थापित हो जाय। जो भी हो, जापानी जीवन तथा संस्कृति में देवता और मानव, सरकार और जनता, मालिक और सेवक, गुरु और शिष्य, स्वामी और मेहमान को आपस में जोड़ने वाली यही शराब थी।

शराब केवल पूजा, उत्सव, त्योहार की चीज़ न रही। धीरे-धीरे उसका सेवन सामाजिक और पारिवारिक रूप धारण कर व्यापक होने लगा। चाहे विवाह हो, चाहे दाह संस्कार, चाहे सुख, चाहे दु:ख--सभी अवसर पर शराब का प्रयोग होने लगा। मानव-संबंध को मधुर रखने के लिए यह एक अनिवार्य साधन बन गया। जैसे आम जनता अपने दिन भर के कार्य से थककर शरीर में जो तनाव आता है, इसे दूर करने के लिए अथवा किसी बीमारी पर स्फूर्तिदाता (tonic) के रूप में अपने नित्य जीवन में शराब का सेवन भी करने लगी। जिस प्रकार भारत में किसी शुभ अवसर पर मिठाई का आदान-प्रदान होता है, उसी प्रकार जापानी समाज में शराब को भेंट उपहार के रूप में लेने-देने का रिवाज़ है।

प्राचीन काल से शराब को 'दिव्य दवाई' कहकर पुण्य चीज़ मानते थे। जैसे जर्मन देश में बीयर की गंजी बनाकर रोगी को खिलाया जाता था और ब्रिटेन में महामारी की निरोधक दवाई के रूप में विस्की का सेवन होता था उसी प्रकार जापान में भी जापानी 'साके' को गर्म करके ठंड के समय पीने से सर्दी से बचा जाता था। ॐ पहाड़ पर कड़ाके की ठंड में साधना करने वाले बौद्ध भिक्षु भी इसका प्रयोग करते थे पर शराब के नशे में जो एक प्रकार का विष है, उसे दूर करने के लिए भिक्षु जापानी चाय का सेवन भी करते थे। बहुत कड़वी हरी चाय शराब के नशे को खतम करने के लिए उपयोगी है। जिस देश में जो अधिक उपज होती है उसी उपज से, जैसे पूर्वी देशों में अधिकांश अनाज से शराब बनती है और पश्चिमी देशों में फलों की शराब ज़्यादा बनती है। चावल अधिक खाने वाले देश जापान में चावल की 'साके' नामक शराब बनती है, तो अंगूर का उत्पादन अधिक होने वाले देश फ्रांस में 'वाइन' (wine) और जहाँ गेहूँ तथा जी का उत्पादन ज़्यादा होता है, वहाँ बीयर अधिक बनाई जाती है। दुनिया भर में शराब कहीं भी बनाई जाए, वहाँ का पानी स्वच्छ होना चाहिये।

चीन के एक प्राचीन ग्रंथ में शराब के 10 गुणों का वर्णन है जोकि भारत में अवगुण माने जाते हैं। लिखा है कि शराब स्वर्ग की देन है, जो शारीरिक तथा मानसिक कष्टों को दूर करने

वाली, चिंताओं तथा उदासी को भुलाने वाली, मन को शुद्ध करने वाली, रोग को दूर करने वाली, विष का नाश करने वाली, मानव-चरित्र को शिष्ट बनाने वाली, मानव-संबंध को मधुर करने वाली और दीर्घायु को कायम करने वाली होती हैं। जापानी कहावत में कुछ इस प्रकार का वर्णन है, "जो पुरुष होते हुए भी शराब नहीं पी सकता (poor drinker) वह बिना तले के गिलास जैसा है जो किसी काम का नहीं"। जापान में यह भी कहा जाता है कि शराब छह गुणों का भंडार है जो इस प्रकार है:--शराब परोसते हुए मानव-प्रेम की भावना उत्पन्न होती है, शराब से सत्कार करने में शिष्टता है, पीकर अपने को भूलने में वीरता रस का अनुभव होता है, मेजबान और मेहमान आपस में नम्र हो जाते हैं। इसे पी मनुष्य अपना मूल स्वभाव नहीं भूलता है और नशे से जागने पर आपस में सांत्वना तथा सहानुभूति हो जाती है।

यद्यपि शराब संसार में अमृत मानी जाती है, किंतु अगर इन सीमाओं को पारकर अनुचित मात्रा में उसका सेवन किया जाय, तो ये सभी गुण अवगुण में बदल जाते हैं। कहा जाता है कि शराब में 36 दोष हैं जोकि इस प्रकार है--प्रथम चुस्की में मनुष्य शराब पियेगा, पर दूसरी चुस्की में शराब स्वयं शराब पियेगी और अंतिम घूंट में शराब इंसान को पी लेती है। चाटने भर से शराब मनुष्य के दीर्घ जीवन की एक दवा है, पर दूसरी घूंट पीने से मन को व्याकुल करने का माध्यम और तीसरी चुस्की से अपने स्वाद को भी खतम करने का आधार बन जाती है। शराब पीने से मनुष्य न केवल सुस्त हो जाता है, बल्कि अभिमानी भी बन जाता है। यदि कोई अपनी मितव्ययता और मेहनत से अपने घर को कितना भी समृद्ध बना ले, परंतु शराबी बन जाने से वह सुस्ती तथा खर्चीलेपन से अपने घर-संसार को नष्ट कर डालेगा। शराब पीने से एक क्षण के लिए तो चिंता दूर हो जाती है, किंतु और ज़्यादा पीने से मनुष्य भूल करने लगता है। अतः बदनामी के साथ अपने परिवार को भी नष्ट कर लेता है। इन गुणों तथा दोषों को देखते हुए हमें इस बात पर ध्यान देना होगा कि शराब अवश्य पवित्र चीज़ है, पर उसे बुरी चीज़ बनाने में मनुष्यों का ही हाथ है।

प्राचीन काल से हमारे जापान में यह भी कहा जाता था कि 'शराब समृद्धि का पानी' है। क्योंकि उसके सेवन से मनुष्य अनजाने में अपने को समृद्ध महसूस करने लगता है। एक ओर पूर्व देश जापान के महायान बौद्ध धर्म, विशेष रूप में ज़ेन' (Zen) संप्रदाय में शराब को 'बुद्धि का पानी' मानते थे, तो दूसरी ओर पश्चिम के ईसाई धर्म में शराब को 'ईश्वर का रक्त' मानते हैं, और अंगूर की शराब (wine) पीते हैं। जापान में इक्क्यू नामक जन- भिक्षु अपनी विनोद प्रियता के लिए प्रसिद्ध है। वे शराब खूब पीते थे, पर उनका विचार यह था कि साधक अपनी इच्छा के अनुसार जो कुछ करें, पर इंसान अपने साफ़ खुले दिल में ही 'क्षणिक बुद्धि' (ज्ञानोदय - enlightenment) प्राप्त कर सकता है। जापान के बड़े-बड़े साहित्यकार या कलाकारों ने भी शराबी होते हुए भी दुनिया को अपनी उत्तम रचना द्वारा चमत्कृत किया है।

जापानी इतिहास में शराब से संबंधित कई रिवाज़ मिलते हैं। जैसे, किसी समय राज-परिवार की ओर से सामूहिक रूप से खास लोगों को जब निमंत्रित किया जाता था, तब राज दरबार में शराब पीने की प्रतियोगिता भी होती थी। उस अवसर पर एक बहुत बड़े पात्र में भरी शराब बारी-बारी से सब को पीनी पड़ती थी। एक ही पात्र में एक ही चीज़ को लेने में प्रेम तथा निकट मित्रता का अनुवभ होता है। इसी तरह अपने-अपने गिलास को एक दूसरे से बदल-बदल कर शराब पीने में एकता का आभास होता है। जब सरदार योद्धा सभा बुलाते, तब खेल तथा कविता के रचना पाठ के साथ शराब का भोज भी देते थे। इसमें अलग-अलग दस स्थानों से इकट्ठा की गई शराब रखकर उसे आजमाना और बतलाना होता था कि यह शराब कहाँ की है। ठीक बताने वाले को ईनाम मिल जाता था। जापान के गृह-युद्ध काल में कभी-कभी कोई किसी सरदार को शराब के नशे में ही अपनी जान से हाथ धोना पड़ा था। कोई सरदार अपने सिपाहियों को शराब पिलाकर उनकी अपनी गुप्त बातें सुनने का मज़ा उड़ाया करते थे या कभी दूर से आए हुए मेहमान का शराब से सत्कार कर जब वह खूब बोलने लग जाता, तब विभिन्न इलाकों का समाचार सुना करते थे।

जापान में एक शराबी विद्वान था, जो अपने मध्याह्न भोजन के रूप में हमेशा बांस में शराब डालकर ले जाता था। यदि उसे शराब न मिले तो उसकी बुद्धि काम नहीं करती थी। उसके देहांत के पश्चात उसके शिष्यगण मिलकर हर वर्ष उसकी पुण्य तिथि के अवसर पर शराब का भोज दिया करते थे। एक समय ऐसा था कि धनुष विद्या की प्रतियोगिता में अपना मानसिक तनाव कम करने के लिए या मन को शांत रखने के लिए प्रतियोगी गुप्त रूप से थोड़ी-सी शराब पीकर धनुष-स्थान पर प्रवेश करते थे। आजकल भी कुछ लोग भाषण देने के पहले चाय के बदले में कुछ घूट शराब पीकर अपना भाषण शुरू करते हैं।

शराब सचमुच 'नशे का पानी' है, पर कोई बुरी चीज़ नहीं है। उसे अमृत बनायें या विष, यह पीने वाले मनुष्य पर निर्भर होता है। आधुनिक युग के पागलपन में मनुष्य को शांत करने या मानव संबंधी को मधुर तथा शिष्ट बनाने के लिए शराब से उपयुक्त चीज़ क्या कोई और होगी?

श्रद्धांजलि

19 जुलाई, 1983 की शाम जापान के हिंदी भाषा के विद्वान प्रो० क्यूया दोई का आकस्मिक निधन हो गया। उनके निधन के समाचार से जापान के हिंदी प्रेमियों के बीच में गहरे दुःख की लहर फैल गई। प्रो० दोई ने जापानी हिंदी प्रेमियों को कितना प्रभावित किया यह कहने की आवश्यकता नहीं। उन्हें हिंदी के प्रति गहरा लगाव और प्रेम था। वे हिंदी भाषा के ही विद्वान नहीं थे, बल्कि साहित्य प्रेमी भी थे। उन्होंने प्रेमचन्द का उपन्यास "गोदान" जापानी भाषा में अनुवाद करके प्रकाशित भी किया था और उन्होंने जापानी-हिंदी शब्दकोष बनाया था इससे जापान के हिंदी प्रेमियों को बड़ी सुविधा मिली। प्रो० क्यूया दोई की हिंदी सेवा के लिए भारत सरकार ने सन् 1978 में विश्व हिंदी पुरस्कार से सम्मानित किया था। तोक्यो विदेशी भाषा विश्व विद्यालय से अवकाश प्राप्त होने के बाद भी वे ग़ैर-सरकारी विश्वविद्यालयों एवं निजी संस्थानों में हिंदी पढ़ाते रहे और रेडियो जापान के हिंदी प्रसारण के कार्यक्रम में हर शुक्रवार रात को भारतीय श्रोताओं के लिए हिंदी में जापानी भाषा पढ़ाते रहे। अब वे इस दुनिया में नहीं रहे। श्रद्धांजलि।

कन्नड़ आंदोलन – एक जापानी की दृष्टि में

डॉ० नोरिहिको उचिदा

आमुख

कई महीनों से कर्नाटक में भाषा समस्या को लेकर संग्राम हो रहा है। यह बात अजीब लगती है क्योंकि कर्नाटक भारत में सबसे उदार प्रदेश के रूप में प्रसिद्ध है। मैं 1980 दिसंबर से बंगलौर में शोधकार्य कर रहा हूँ और कन्नड़ आंदोलन के एक केंद्र बंगलौर विश्वविद्यालय के शिक्षकावास में रहकर इस आंदोलन को अपनी आँखों देखा है। इसलिए एक विदेशी की दृष्टि में इस पर अपना विचार प्रकट करना चाहता हूँ।

तीस वर्ष पहले जब मैंने भारतीय भाषाओं का अध्ययन आरंभ किया था, मुझे विश्वास था कि स्वतंत्र भारत की राजभाषा हिंदी संसार की प्रभावशाली भाषाओं में से एक हो जाएगी। परंतु मेरा पूर्वानुमान गलत निकला। अब भाषाई स्थिति को देखता हूँ, तो यह विश्वास करना कठिन है कि भारत स्वतंत्र देश है।

भारतवर्ष की राजधानी के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में परीक्षा हिंदी भाषा में लिखने की अनुमति नहीं है, अंग्रेज़ी का प्रयोग करना चाहिए। तमिलनाडु में, जहाँ लोगों पर भाषांधता का आरोप लगाया जाता है, तमिल विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। नए अध्यापकों के लिए समालाप अंग्रेज़ी में हुआ। भारत में महाविद्यालयों में शिक्षा अधिकतर अंग्रेज़ी में होती है। अधिकतर प्रदेशों में प्रशासन और कचहरी की भाषा अंग्रेज़ी है। बंगलौर के न्यायालय के पास वाले एवन्यू रोड में बहुत से लिपिक टंकण मशीन लेकर बैठे हुए हैं। यह टंकण मशीन सब अंग्रेज़ी टाइपराइटर है। पिछले वर्ष "36 चौरंगी लेन" नाम के चलचित्र को प्रसिद्धि प्राप्त हुई थी। इस चित्र में नायिका अपने रोग ग्रस्त पिता को समझाती है कि भारत स्वतंत्र हो गया है। अब " King " नहीं है। मुझे लगता है हि भारत में उस पिता के समान लोग बहुत हैं जिनको पता नहीं कि भारत स्वतंत्र हो गया है। परंतु मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि भारतीय लोगों का अंग्रेज़ी में शिक्षा पाना, प्रशासन का काम करना गलत है। अतीत में उत्तर भारत के लोगों ने अपनी भाषा को छोड़कर आर्य भाषा को अपना लिया था। भारतीयों ने अपनी भाषा को छोड़कर अंग्रेज़ी को अपनाया तो भी कोई असुविधा न होगी। जैसे आर्य भाषा ने बदलकर भारतीय आर्य भाषा का रूप लिया, वैसे ही English बदलकर Inglish होकर भारतीयों की मातृभाषा हो जाएगी।

हम विदेशी भारतीय भाषा के छात्र अपने स्वार्थ के लिए चाहते हैं कि हिंदी पनपे, तमिल पनपे, कन्नड़ पनपे, भारतीयों को मानसिक स्वतंत्रता मिले। क्योंकि भारतीय भाषाओं के

विकास से हमें अच्छा पद मिलेगा, समाज में प्रतिष्ठा मिलेगी। कई महीनों से कर्नाटक में कन्नड़ भाषा को शिक्षा व्यवस्था में अनिवार्य पहली भाषा बनाने के लिए और इसके विरुद्ध अनशन, बंध, आगजनी आदि हो रहे हैं। हम उत्सुकता से देख रहे हैं कि उसका परिणाम क्या होगा। घटनाक्रम का संक्षिप्त वर्णन नीचे प्रस्तुत है।

आंदोलन का घटनाक्रम

जिन लोगों को आंदोलन की जानकारी नहीं है, उनके लिए आंदोलन का संक्षिप्त इतिहास नीचे दे रहा हूँ।

1979 तक संस्कृत भाषा को माध्यमिक शिक्षा में कन्नड़, तमिल, तेलुगु, मराठी आदि के साथ पहली भाषा का स्थान था। संस्कृत के शिक्षण में व्याकरण पर ज़ोर दिया जाता है। इसलिए अच्छे विद्यार्थियों के लिए 80 से 95 प्रतिशत अंक पाना सहज है। लेकिन कन्नड़, तमिल आदि में यह असंभव है। इसलिए कर्नाटक में शिक्षण की व्यवस्था विकृत हो गई। यदि पहली भाषा के रूप में संस्कृत, दूसरी भाषा के रूप में अंग्रेज़ी, तीसरी भाषा के रूप में हिंदी को लिया जाय तो कन्नड़ सीखने की गुंजाइश ही नहीं रहेगी। कन्नड़ साहित्य परिषन्तु ने 1976 के वार्षिक सम्मेलन में प्रस्ताव पारित किया कि पहली भाषा की सूची से संस्कृत को हटाया जाए। तीन वर्ष के पश्चात् देवराज अर्स की सरकार ने संस्कृत को पहली भाषा की सूची से हटा दिया। संस्कृत के समर्थक उच्च न्यायालय से स्थगन आज्ञा को निकलवाने में सफल हुए। देवराज अर्स के पतन के पश्चात गुण्डूराव मंत्री हो गए। उन्होंने तुरंत ही घोषित किया कि संस्कृत पहली भाषा रहेगी। इस घोषणा के कारण मुख्यमंत्री को उग्र विरोध का सामना करना पड़ा। इसलिए उन्होंने प्राध्यापक गोकाक, बंगलौर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति की अध्यक्षता में गोकाक समिति को नियुक्त किया। गोकाक समिति के सदस्यों को देखने से लोगों को ऐसा लगा कि समिति संस्कृत का समर्थन करेगी। संस्कृत के विरोधियों ने गोकाक समिति पर घेराव आदि द्वारा दबाव डालने की चेष्टा की। फलतः 1981 के जनवरी महीने में रपट निकली। इस रपट में कन्नड़ को अनिवार्य पहली भाषा का स्थान देने की सिफारिश की गई। गुन्डुराव घबराकर चुपचाप बैठा रहा। अंत में गोकाक रपट के समर्थकों के दबाव में आकर गुण्डूराव ने घोषित किया कि गोकाक रपट को पूर्णतया स्वीकार किया जाएगा। इस पर राज्य सभा के सभासद एफ०एम० ख़ान ने गोकाक रपट के विरुद्ध आंदोलन को शुरू किया। धीरे-धीरे गृह युद्ध का रूप धारण करने लगा। घबराकर 19-4-1982 को सरकार ने एक समझौता के रूप में एक नया त्रभाष्य-सूत्र घोषित किया। इस सूत्र में कन्नड़, ग़ैर-कन्नड़ भाषियों के लिए पहली भाषा के रूप में अनिवार्य नहीं, परंतु द्वितीय भाषा के रूप में अनिवार्य है। ग़ैर-कन्नड़िडियों ने इस सूत्र का स्वागत किया। गोकाक रपट के समर्थकों से मैसूर विश्वविद्यालय के प्राध्यापक एच०एम० नायक, साहित्य परिषद् के अध्यक्ष एच०पी० नागराज

दूर रहे। परंतु बंगलौर विश्वविद्यालय के प्राध्यापक एम० चिदानन्द मूर्ति, शिवरुदप्पा, कवि के०टी० पुट्टप्पा आदि ने घोषित किया कि जब तक सरकार गोकाक रपट को अक्षरशः न स्वीकार करेगी, संग्राम जारी रखेंगे। अंत में गोकाक रपट के समर्थकों के दबाव में आकर गुण्डूराव ने घोषित किया कि कन्नड़ पहली भाषा होगी। अल्प-संख्यकों ने फिर संग्राम शुरू किया, जो अब तक जारी है।

कन्नड़ प्रेमियों के कर्तव्य

जैसे मैंने ऊपर लिखा है, कर्नाटक में कन्नड़ भाषा का उपयोग, बोलचाल और साहित्य तक ही सीमित है। न्यायालय और प्रशासन की भाषा अंग्रेज़ी ही है। महानगरों में अच्छे प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालय माध्यम से ही पढ़ाते हैं। प्राध्यापक एम० चिदानन्दमूर्ति के अनुसार बंगलौर में एक भी कन्नड़ माध्यम का विद्यालय नहीं है, इसलिए वे अपने बच्चे को अंग्रेज़ी माध्यम विद्यालय में भेजते हैं। बंगलौर एक कन्नड़ व्याख्याता ने मुझसे कहा, "मैंने दो वर्ष तक अपनी बेटी को विश्वविद्यालय की पाठशाला में भेजा। बाद में पता लगा कि उसको कुछ भी सिखाया नहीं गया इसलिए अब मैं उसको अंग्रेज़ी माध्यम की ग़ैर-सरकारी पाठशाला में भेज रहा हूँ। उसके दो वर्ष व्यर्थ गए।"

यह बात स्पष्ट है कि कर्नाटक में कन्नड़ भाषा की दुर्दशा के लिए कन्नडिंग ही उत्तरदायी हैं, अल्पसंख्यक नहीं। गोकाक रपट के समर्थक खुद कन्नड़ का उपयोग न करके भी दूसरों को उपयोग करवाना चाहते हैं। कन्नड़ की दुर्दशा का कारण तमिल नहीं, उर्दू नहीं, मराठी नहीं, अंग्रेज़ी ही है। यदि कोई भारतीय भाषा के विकास के लिए लड़ना चाहेगा तो "अंग्रेज़ी हटाओ" का नारा लगाना चाहिए। "गोकाक वरदि जारिगे बरलि" गोकाक रपट लागू हो या नहीं। यद्यपि गोकाक रपट के समर्थकों में कइयों ने कहा कि अंग्रेज़ी के स्थान पर कन्नड़ का उपयोग होना चाहिए किंतु यह यत्र-तत्र ही रह गया।

उपर्युक्त परिस्थिति से मैं नीचे दिए हुए निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ।

कन्नड़ की दुरवस्था का कारण निराशा थी। मुख्यमंत्री गुण्डूराव की अदक्ष भाषा नीति ने निराशा को क्रोध में और क्रोध को विस्फोट में परिवर्तित किया। गोकाक रपट वाले आंदोलन को कन्नड़िगों का सहयोग उत्तर कर्नाटक में अधिक, और दक्षिण कर्नाटक में कम इसलिए मिला कि कन्नड़िगों को गोकाक रपट जारी होने से कोई नुकसान नज़र न आया। यदि उनसे कहा गया होता "अंग्रेज़ी छोड़कर कन्नड़ का उपयोग करो" तो ज़रूर अधिक तर लोग इसका विरोध करते। देश-प्रेम के लिए अपनी नौकरी गंवाने को कितने लोग तैयार होंगे? अंग्रेज़ी माध्यम से पढ़ने से अच्छे विश्वविद्यालय में जगह मिलेगी, अच्छी नौकरी मिलेगी। सुंदर पत्नी मिलेगी। विदेश जाने का मौका भी मिल सकता है। यदि गोकाक समर्थक सचमुच कन्नड़ प्रेमी होते तो गोकाक रपट के पहले ही विद्यालयों में, न्यायालयों में, सरकारी कार्यालयों में कन्नड़

का उपयोग करवाने के लिए मैदान में उतरे होते। मुझे लगता है। कि सच्चे कन्नड़ प्रेमी इने-गिने हैं। के०वी० पुट्टप्पा सच्चे कन्नड़ प्रेमियों में से एक हैं, क्योंकि वे अपने बच्चे को कन्नड़ माध्यम के विद्यालयों में भेज रहे हैं। एम० चिदानन्दमूर्ति भी सच्चे कन्नड़ प्रेमी होंगे, क्योंकि सच्चे शोधक होते हुए भी उन्होंने अपना शोध कार्य छोड़कर अपना शत प्रतिशत कन्नड़ आंदोलन को समर्पित कर दिया है।

यदि गोकाक समर्थक सच्चे कन्नड प्रेमी हों, तो गोकाक रपट वाले आंदोलन को व्यापक कन्नड़ आंदोलन का पहला कदम समझ कर नीचे दिए हुए लक्ष्य के लिए आंदोलन को जारी करना चाहिए।

1. सभी विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम कन्नड़ होना चाहिए।
2. न्यायालयों और सरकारी कार्यालयों की भाषा कन्नड़ होना चाहिए।
3. एक के लिए यदि विरोध का सामना करना पड़े तो विज्ञान के क्षेत्र में जैसे चिकित्सा, शिल्प-शास्त्र, इत्यादि के कन्नड़ माध्यम के अच्छे विद्यालयों की स्थापना करके दिखाना चाहिए। कन्नड़ उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी से कम नहीं है। यदि गोकाक समर्थक इस दिशा में आगे नहीं बढ़ेंगे तो स्वीकार करना चाहिए कि उन्होंने अल्पसंख्यकों से अन्याय किया है। प्राध्यापक एम० चिदानन्दमूर्ति ने कहा कि गोकाक रपट वाला आंदोलन शुरू है। शिक्षा के माध्यम का आंदोलन शुरू होगा। आशा है गोकाक समर्थक मैदान में डट कर लड़ेंगे। भारत में जब मैं पूछता हूँ कि "आप क्यों भारतीय भाषा में विज्ञान नहीं पढ़ाते" जवाब मिलता है "भारतीय भाषा अभी तक इतनी विकसित नहीं है। सरकार ने विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली बनाने के लिए कोशिश नहीं की।" इन लोगों का तर्क यह है कि वे तैरना आने के बाद ही पानी में उतरेंगे। जब तक पानी में न उतरें, तब तक तैरना नहीं आएगा। पारिभाषिक शब्दों के लिए सरकार की अपेक्षा करना बहाना मात्र है। अमरीका में, जापान में वैज्ञानिक, पत्रकार, और साहित्यिकार अपने-अपने क्षेत्रों में नए शब्द बनाते आए हैं। कोई सरकार कृत शब्दावली की अपेक्षा नहीं करता। मैं भी जापानी में, जर्मन में, अंग्रेज़ी में नए शब्द बना चुका हूँ। भारतीय भाषाओं में भी बनाने को तैयार हूँ।

एक और बहाना यह है कि कन्नड़ में, हिंदी में अच्छी पाठ्य पुस्तकें उपलब्ध नहीं है। माध्यम के तीन पक्ष हैं।

1. पाठ्य पुस्तकें कौन-सी भाषा में है
2. शिक्षक कौन-सी भाषा में बोलते हैं।
3. परीक्षा पत्र कौन-सी भाषा में लिखते हैं।

नंबर एक के लिए अंग्रेज़ी पुस्तक का उपयोग कम से कम अंशतः आवश्यक है और आवश्यक ही रहेगा। पाठ्य पुस्तकें अंग्रेज़ी में होते हुए भी नंबर दो और तीन के लिए भारतीय भाषा का उपयोग करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

[यह निबंध तृतीय अंक के लिए लिखा गया था परंतु विलंब से प्राप्त होने के कारण इस अंक में प्रस्तुत है। सुना है कि कन्नड़ आंदोलन अभी भी जारी है। - संपादक]

व्यंग्य : इंडियन--जैपनीज़ भाई-भाई (एक कल्पित वार्तालाप)

आकिरा ताकाहाशि

भारत-जापान मंत्री संघ के एक मुख्य सदस्य विश्वनाथ शुक्ल जी (बी०ए०, एम०ए०, पी०एच०डी०, और न जाने क्या ए, बी, सी...) पिछले दिन जापान पधारे थे। उनके स्वागत के लिए संघ के जापानी सदस्यों के द्वारा एक समारोह आयोजित किया गया। उस समारोह में एक जापानी लड़का भी शामिल था। उसने अपने बारे में बताया कि किसी विश्वविद्यालय में हिंदी पढ़ता हूँ और शुक्ल जी के दर्शन पाकर बात करना चाहता हूँ। संघ के साथ उसका कोई संबंध नहीं था, लेकिन शुक्ल जी इनकार करने वाले नहीं थे।

छ० नमस्कार।

शु० : आइए। आइए। बैठिए। आई अम वेरी ग्लैड टू सी यू। यह बहुत खुशी की बात है कि यू आर स्टडिंग हिंदी लैन्ग्विज। वेरी गुड।

छ० : जापान-भारत की मंत्री के लिए जो सेवा आप करते आए हैं, उसके लिए मैं भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ।

शु० : कहाँ की सेवा? आई अम डूइंग ओन्लि फोर माई ज्योई। लेकिन, हाँ, सेवा, आपने ठीक ही कहा। आई हैव बीन वर्किंग फोर द फ्रेंडशिप बिटवीन इंडिया एंड जैपान फोर मोर दैन थार्टि इयार्ज।

छ० : क्षमा कीजिएगा। मैं ठीक-ठीक अंग्रेज़ी समझ नहीं सकता हूँ। यदि आपत्ति न हो, और हैं भी आप हिंदी भाषी प्रदेश के, कृपा करके हिंदी में बोलिएगा।

शु० : यस, नो प्रोब्लेम। अच्छा, आप इंग्लिश नहीं समझते हैं?

छ० : जी हाँ मैं जापानी हूँ। अंग्रेज नहीं।

शु० : सो तो सही। हूँ। अच्छा, यह बताओ कि तुम हिंदी क्यों सीखते हो? हिंदी सीखने में रुचि कैसे हुई? भारत के प्रति क्यों इतना लगाव है कि हिंदी सीखी?

छ० : आपने एक साथ तीन प्रश्न किए हैं। हिंदी सीखने से पहले एक दिन मुझे भारतीय संस्कृति पर लिखी गई एक किताब मिली, जिसमें--

शु० : अच्छा, तुमने राधाकृष्णन जी की पुस्तक पढ़ी है?

छ० : जी नहीं, नाम तो अवश्य सुना है, लेकिन--

शु० : अवश्य पढ़ो। बहुत ही अच्छी पुस्तक है। इंडियन सिविलाइजेशन हैज मेइन्टेइन्ड इट्स कोन्टिन्युइटी विच फान्ट बी सीन इन एनि अदर सिविलाइजेशनज् ओफ़ द वर्ल्ड। कोन्टिन्यूइटी, समझते हो? एक अविच्छिन्न विचारधारा। ग्रीस और रोम को देखो। आई नो दैट देअर सिविलाइजेशन कान्ट बी कोम्पेअरड विद इंडियन सिविलाइजेशन इन मेनी पॉइंट्स एंड इन सम पॉइंट्स दे आर स्यूपिरियर टू अस, टू डू देम जस्टिस। लेकिन आज उसे देखने के लिए तुम्हें म्यूज़ियम में जाना पड़ेगा। इन अदर और सभ्यता अब नष्ट हो चुकी है। म्यूज़ियम में मूर्तियाँ बनकर ही रह गई है।

छ० : मेरे विचार में जो चीजें आज संग्रहालय में ही होनी चाहिये, वे अब भी भारत में सड़कों पर दिखाई देती है।

शु० : मतलब?

छ० : भूख, भिखारी, जाति-व्यवस्था, दास प्रथा वग़ैरह।

शु० : अच्छा, यू आर टू पेसिमिसटिक, है न? मैं तुम्हें समझा देता हूँ। वर्ण व्यवस्था का अपना बहुत पुराना इतिहास है। इट्स एन इनटिग्रल पार्ट ओफ अवर कल्चर।

छ० : आप या तो हिंदी में बात कीजियेगा या तो बिल्कुल अंग्रेज़ी में। मिला के बोलने से दोनों भाषाएँ बिगड़ जाती हैं।

शु० : ऐ? अंग्रेज़ी में मैं कब बोला। आई अम स्पीकिंग ओन्लि इन हिंदी।

छ० : अच्छा, तो अंग्रेज़ी में बोलिएगा।

शु० : नहीं, नहीं। तुम तो अंग्रेज़ी नहीं समझते हो। हाँ, मैं यह कहने वाला था। जब आर्य लोग भारत में आए, तब उन्हें समाज में कोई ठोस, कोई फार्मथीअरि की आवश्यकता सूझी, जिससे समाज व्यवस्थित रहे। हमारे पूर्वजों ने यह अच्छा तरीका इन्वेन्ट किया है, वह है वर्ण व्यवस्था जिसमें समाज अनावश्यक स्ट्रग्ल से बच पाया! समझे? अच्छा। आई शो यू वन एक्सलेन्ट इग्जाम्पल। न्यूयार्क में एक दिन, रात को बिजली पाँच घंटों के लिए चली गई--ओन्लि फाइव आवर। सोचो। इस बीच कितने क्राइम हुए। मर्डर, चोरी, आगजनी | बहुत यही अमरीकी संस्कृति है, जो द स्ट्रगल फोर दि इग्जिस्टेन्स पर आधारित है।

छ० : लेकिन किसी देश में तो बिजली चमकती रहने पर भी ऐसी गड़बड़ होती है।

शु० : होगी! अच्छा, तुमने भूख की बात कही। अब यह भी समझा देता हूँ। आदमी बिना खाना खाए जी नहीं सकता है। आई अडमिट अज मच। बट दिस इज ओल्सो ट्रू दैट मैन शैल नोट लिव बाई ब्रेड अलोन।

छ० : ज़रा मेरी बात भी सुनियेगा।

शु०: हाँ, हाँ, क्यों नहीं। क्या कहना चाहते हो? कहो, कहो।

छ० : संस्कृति जो आप कहते हैं, वह--

शु०: ज़रा--

छ० : कोई बात नहीं इस तरह सीखते जाओ। यू आर अ यन्ग मैंन जो अब नहीं सीखोगे, तो आखिर कब सीखोगे। मैं यह बता रहा था। अमरीका में अगर आदमी दो दफ़ा खाना ठीक नहीं खा सके, तो वो क्या-

शु० : अच्छा, तुम ने मेरी बात अभी समझी नहीं। सुनो। बताता हूँ। अमरीका में—

छ० : भई, तुम मेरी बात पूरी होने दो। बीच में दूसरों की बात काटना अच्छा नहीं है।

छ० : जो सचमुच। कितना बुरा लगता है, आप ही ने मुझे सिखाया है आज।

करेगा। हत्या करेगा, चोरी करेगा, सब कुछ करेगा। लेकिन इंडिया में खाना मिले न मिले, आदमी अपने धर्म-अपनी संस्कृति को छोड़ेगा नहीं।

छ० : जहाँ दो दफा खाना नहीं मिलता, वहाँ संस्कृति होती है? अगर होती तो भी इससे क्या लाभ?

शु० : लाभ केवल पैसे का नहीं, लाभ केवल खाने का नहीं। अच्छा, मैं एक बहुत अच्छे आदमी से तुम्हारा परिचय करा दूँगा, जो वित्त मंत्री जी के चाचा जी के मामा जी के साला जी लगते हैं। बहुत बड़े स्कालर हैं, तुम्हें अच्छी तरह से समझा देंगे।

छ० : वे साला जी आपके कौन लगते हैं?

शु० : मित्र हैं। और तुम ने शिवप्रसाद जी का नाम तो सुना होगा, जिनकी पहुँच बहुत बड़े-बड़े आदमियों तक है वे मेरा कहा टाल नहीं सकते हैं। उनसे भी तुम्हारी बात कराऊँगा।

छ० : वे किस के साला जी हैं?

शु० . सबके। मतलब सब लोग उनका आदर करते हैं। वे तुम्हारी मदद खूब करेंगे।

छ० : आपकी मेहरबानी है।

शु० : कोई बात नहीं और कोई भी मदद तुम मुझसे चाहते हो, तो कहना। संकोच मत करो। मुख्यमंत्री तक मुझसे सलाह लेते हैं। थोड़े दिन पहले भी सुबह-सुबह उनका टेलिफ़ोन आया था। वे बहुत चिंतित थे। जानते हो, क्यों? वे कहते थे कि इस साल प्रदेश में भूसे की पैदावार अच्छी नहीं है। ऐसा चलता रहा, तो अगले साल तक प्रदेश भर के घोड़े, बैल, और गधे भूखों मर जायेंगे। क्या उपाय करना चाहिये। मैंने कहा, गधों के मरने से आप इतना घबराते क्यों हैं, मानो कोई अपने सगे भाई मर रहे हों। आप बेकार चिंता कर रहे हैं। ऐसा कीजिये अब जितना भूसा होगा, वे सब पहले घोड़ों और बैलों को खिलवाइए और गधों को मरने दीजिये। गधे सब मर जायेंगे, तब उनकी खोपड़ियाँ तोड़-तोड़कर भूसा निकलवाइए। एक तरफ गधे सब मरेंगे, दूसरी तरफ भूसा भी हाथ आ जाएगा। इसको कहते हैं, एक पंथ दो काज। मंत्री जी बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होंने यहाँ तक कहा कि आप ही को मंत्री का पद मिलना चाहिये था। राजनीति से आपका बाहर रहना जनता के लिए नुकसान की बात है। मैंने कहा, न, न, ऐसा मत कहिये। आई एम सैटिसफाइड विद माई क्वाइट लाइफ बाई नेचर। पोलिटिक्स-बोलिटिक्स में मेरी कोई रुचि नहीं है। बट, हाँ, इफ यू लाइक ओर यू नीड, यू कान कोन्सल्ट विद मी एट एनि टाइम। यू आर वेलकम। ऐसा है।

छ० : एक बात नहीं समझ आती है। खोपड़ी में भूसा क्यों?

शु० : यही तो हिंदी की विशेषता है। आँखों में सरसों फूल सकता है, पेट में चूहा दौड़ सकता है। खोपड़ी में भूसे का होना क्या बड़ी बात है?

छ० : जी, आपका कहना बिल्कुल सही है।

शु० : सही ही कहता हूँ। झूठ क्या चीज़ है, मैं जानता भी नहीं। वैसे हमारी नज़र में झूठ और सच में कोई अंतर नहीं है। मतलब तर्क से है, सिद्धांत से है, लौजिक से है। लौजिक परफेक्ट है, तो वह सच है। लौजिक इम्परफेक्ट है, तो वह गलत हो सकता है, पर झूठ नहीं।

छ० : अगर कोई चोर यह कहेगा कि मैंने चोरी नहीं की, तो यह झूठ नहीं है?

शु० : यदि वह चोर चोरी को चोरी नहीं समझता है, तो वह सच कहता है कि मैंने चोरी नहीं की।

छ० : चोरी तो चोरी ही है।

शु० : नहीं। इट इज नोट इम्पोर्टेन्ट फोर अस हिंदू वाट इज द फैक्ट। क्या कहें, इसमें महत्त्व नहीं। किस तरह कहें, यही हमारे लिए इम्पोर्टेन्ट है। हम हमेशा इसी प्रयास में हैं कि अपना-अपना लौजिक, अपना-अपना सिद्धांत कायम रहे, जिससे कि वास्तविकता की व्याख्या की जा सके। संसार में अगर एक मानव भी न रहता, तो वास्तविकता होती। पर मानवों के बीच जिसको वास्तविकता कहा जाता है, वह हमारी व्याख्या के है। हमारे लिए इक्सप्रेशन ही सब कुछ है। ईसाई लोगों के लिए यह सब भगवान की ओर से निश्चित किया गया है कि सच क्या है और झूठ क्या है। हमारे लिए भी भगवान् जिसको सच कहेगा, वह सच है, जिसको झूठ कहेगा, वह झूठ है। पर वह भगवान कहीं बाहर या आसमान में नहीं रहते, वह हमारे अंदर ही रहते हैं या यों कहें कि हम खुद एक-एक भगवान् हैं। ईसाई लोग फैक्ट की व्याख्या को मसीह से माँगते हैं, हम अपने-अपने अंदर के भगवान् से माँगते हैं। यहाँ सच और झूठ का प्रश्न नहीं उठता है। सब कुछ सच है। हम यूनिवर्सेलिटी को एक इन्डिविडयुअल के अंदर यानी अपने अंदर देखते हैं। मानवों के बीच में नहीं देखते हैं। संसार की सब चीज़ें इसलिए रेलेटिव हैं कि हम इन्डिविडयुअल में ऐबसेल्यूटिस्ट हैं। वी आर द ग्रेटिस्ट रेलटिविस्ट ओफ द वर्ल्ड अज अ सोशल बीइंग, बट अज अन इन्डिविड्युअल वी आर द ग्रेटिस्ट ऐबसल्यूटिस्ट ओल्सो। इस माने में हम कहते हैं कि भगवान् कृष्ण हो, या राम हो, सब हमारे अंदर रहते हैं। जब हम पूजा करने मंदिर जाते हैं, तब हम अपने आपसे मिलते हैं और अपनी पूजा करते हैं।

छ० : तो आप भी भगवान् शुक्ल जी है?

शु० : बिल्कुल।

छ० : मैं कह नहीं सकता कि कहाँ तक आपकी बात समझ सका।

शु० : कोई बात नहीं। समझ का घर दूर है। यह कोई पाप नहीं कि ऊँची बातें समझ नहीं सकते। अच्छा, मैं लाभ की बात कर रहा था। यू मस्ट सी फ्रोम अनदर पॉइंट ओफ व्यू। जंपनीज इंडस्ट्री ने बहुत बड़ी, अद्भुत उन्नति की है। अब उसका जी०एन०पी० रूस और अमरीका को छोड़ दुनिया में सबसे बड़ा है। लेकिन मैं तो कहूँगा, यह सब प्राइस की उन्नति है। लेकिन भारत की संस्कृति प्राइस की नहीं है, वैल्यू की है। समझे? ठीक है, सुनो। बताता हूँ। प्राइस इज वन थिंग एंड वैल्यू इज क्वाइट अनदर थिंग। कारखाने में कैमरा जो बनता है, उसको खरीदकर तुम खुश हो जाओगे। पर वह खुशी प्राइस की खुशी है, मटिअरिटी की खुशी है। लेकिन अच्छी कविता पढ़कर जो खुशी मिलती है, वह वैल्यू की ज्योई है। यानी स्पिरिच्युअल) ज्योई है।

छ० : पैसा देखकर जो खुशी मिलती है, वह प्राइस की ज्योई है या वैल्यू की ज्योई?

शु०: तुम ने समझा नहीं। अच्छा, एक बात सुनो। जापान के बारे में लोगों का विचार यह है कि जैपनीज़ नकल करने में स्किलफुल हैं, यानी सिद्धहस्त है। हिंदी समझते हो न? इफ यू विल फाइन्ड इट डिफिकल्ट टू फोलो माई प्युअर हिंदी, सो कहना।

छ० : शुक्रिया। लेकिन हिंदी को हिंडी कहें, तो आपकी हिंदी और प्युअर हो जाएगी।

शु० : तुम तो हिंदी की चिंदी निकालते हो। यह आदत तुम्हारी कतई पसंद नहीं मुझे। मैंने कब द को ड और ड को द कहा। द और ड का अलग प्रनाउन्सिएशन है, यह तो बच्चे भी जानते हैं।

छ० : मुझे लगता है कि बच्चे ही जानते हैं

शु० : ऐं? क्या कहा तुमने?

छ० : कुछ नहीं आप गलत समझ रहे हैं। मैं यह कहना चाहता था कि बीच-बीच में आप एकदम से इतनी प्युअर हिंदी बोलने लगते हैं, कि मेरे सिर में चक्कर आने लगता है। लेकिन लगभग ठीक-ठीक मैं समझता हूँ यदि हिंदी का बहुत ही कठिन शब्द आए, तब अवश्य आपसे पूछूंगा मैं।

शुं० : ठीक है। अच्छा, लोग यह कहते हैं कि जैपनीज़ नकल करते हैं, पर उनमें ओरिजिनेलिटी कम है। आई डोंट अग्री टू दिस ओपिनियन माईसेल्फ। पर लोगों की मान्यता यह है। कार, कैमरा, घड़ी, वह भी बढ़िया से बढ़िया, सींको की तरह, बनते हैं खूब लेकिन ये सब पाश्चात्य संस्कृति की उपज है। जापान की ओरिजिनेलिटी की उपज नहीं है।

छ० तो बताइयेगा, थाइलैंड में क्या ओरिजिनेलिटी है जो जापान में नहीं है? और कोरिया में क्या ओरिजिनेलिटी है जो जापान में नहीं है। आस्ट्रेलिया में क्या ओरिजिनेलिटी है, जो जापान में नहीं है। सीधी-सी बात है। अगर इन देशों में यदि ओरिजिनेलिटी है, तो जापान में भी होगी। यदि इन देशों में ओरिजिनेलिटी नहीं है, तो जापान में भी नहीं होगी पर इन सब देशों के पास यदि ओरिजिनेलिटी नहीं है, तो संसार के किस देश के पास ओरिजिनेलिटी है? आप शायद यह कहेंगे कि जापानी ने पहले चीनियों की नक़ल की अब अमरीकियों की नक़ल करते हैं। तो मैं कहूँगा कि आर्यों ने भी द्रविडों की कम नकल नहीं की। आखिर ओरिजिनेलिटी से आपका क्या मतलब है?

शु० : ओरिजिनेलिटी से मेरा मतलब है, अपनी फिलोसोफी है और अपना प्रिन्सिपल है। इन्डिया ने जापान को बुद्धिज्म दिया। दुनिया भर को फिलोसोफी दी। यू कान्ट इमैजिन हाउ

फार इंडियन फिलोसोफी हैज इन्फ्लुअन्सड द थोट्स ओफ द वर्ल्ड सिन्स टाईम इमिमोरिअल जैपनीज़ रेडियो बहुत अच्छा बनाते हैं बट दे हैव नो देअर ओउन फिलोसोफी एंड प्रिंसिपल। हमारी फिलोसोफी, संस्कृति, और इतिहास के सामने सोनी का रेडियो कितनी छोटी चीज़ है।

छ० : लेकिन सम्राट अशोक के जमाने में अगर सोनी का रेडियो होता, तो वे अवश्य भारत-जापान मंत्री संघ का सदस्य बन जाते।

शु० : तुम भी अजीब कहते हो? उस जमाने में रेडियो कैसे?

छ० : तो रेडियो को सोना कहिए या हीरा। एक ही बात है।

शु० : रेडियो हो या सोना हो, उससे हमारा कोई मतलब नहीं है। बात संस्कृति की है। जैपनीज़ ने घड़ी या रेडियो को संस्कृति समझ रखा है, जोकि बिल्कुल गलत है। हमारे लिए संस्कृति कुछ दूसरी चीज़ है जो कारखानों में बनती नहीं और घड़ी या कैमरे के दाम बिकने वाली भी नहीं। जैपनीज़ के मित्र की हैसियत से मैं सलाह यह देता हूँ कि नकल करते रहने से कोई स्पिरिट्युअल प्रोग्रेस नहीं हो सकेगा। वेद में भी लिखा है "नकल रा चे अकल" यानी नकल में अकल की क्या ज़रूरत।

छ० : आप अपने को जापानियों का मित्र कहते हैं। लेकिन मान लीजिये हमारे पास कोई रेडियो घड़ी नहीं होती, फिर भी हमारे साथ दोस्ती करना चाहेंगे? सच पूछिये तो यदि आपके स्थान पर मैं होता तो शायद ही मैं चाहूँगा।

शु० : वेद में यह भी लिखा है "जइसन छिनरी आप छिनार ओइसन जाने सभ संसार" हमारी फिलोसोफी ने भूख तक को पोजिटिवली अपनाया है। तुम्हें महात्मा गाँधी जी का स्मरण करना चाहिए। जिनके लिए भूख कुछ भी नहीं है, उनके लिए मटिअरिअलिटी का अर्थ ही नहीं रहता। जैपनीज़ अपनी पुरानी संस्कृति को छोड़ रेडियो के पीछे पागल हो गए हैं। इसका नतीज़ा यह हुआ कि जापान इम्पेरिअलिज्म का शिकार हो गया और सारा एशिया जैपनीज़ इम्पेरिअलिज्म का शिकार। यह हुई बहुत बड़े दुःख की बात।

छ० : वह बड़े दुःख की बात थी। इसमें कोई संदेह नहीं। लेकिन यह भी सच था कि एशिया में अगर एक देश भी गोरों का सामना न करता होता, तो आज हम सब की क्या हालत होती। ज़रा इस पर भी ध्यान दीजिए।

गु० : लेकिन जैपनीज़ इम्पेरिअलिज्म के कारण कितने लोग मारे गए थे।

छ० : किसी लड़ाई में मनुष्यों का मर जाना स्वाभाविक है।

शु० : जैपनीज़ सैनिकों ने किसानों, व्यापारियों, बूढ़ों और औरतों को भी यानी निर्दोष, निर्बलों को भी क्रूरता से मार डाला है।

छ० : जो लोग उस अत्याचार में शामिल थे, उनके पास माफ़ी माँगने के लिए शब्द भी नहीं होगा। बल्कि माफ़ी माँग रहे हैं या पछतावे के आँसू बहाते हैं, वे सब दिखावे के लिए ही करते हैं। सचमुच जो अपने किए का भोग रहे हैं, वे चुप्पी साधने के सिवा कुछ नहीं कर सकेंगे। उनकी ओर से मैं केवल यही कहना चाहता हूँ कि उस प्रकार का अत्याचार किस ने नहीं किया, कौन नहीं करता है और आगे कौन नहीं करेगा।

शु०: मैं तो कभी नहीं करूँगा। सोच भी नहीं सकता हूँ। इस तरह के अत्याचार की खबरें पढ़ने भर से सिहर उठता हूँ। यह जो तुम लोगों ने लड़ाई में किया है, वह मानवता के प्रति चुनौती है, मानवता का घोर अपमान है।

छ० : मुझ से बड़ी गलती हुई होगी, तभी तो आप इतना गुस्सा कर रहे हैं। अब आज्ञा दीजिये। मैं चलता हूँ।

[यह कपोल-कल्पित वार्तालाप तीसरे विश्व हिंदी सम्मेलन के अवसर पर लिखा गया था। लेखक के अनुसार इस वार्तालाप का अभिप्राय भारतीय जीवन-दर्शन या संस्कृति पर आक्षेप करना नहीं है वरन हिंदी की आज की स्थिति पर व्यंग्य करना है।] —**संपादक**

हिंदी कहानी में आधुनिकता का प्रतीक : भिक्षावृत्ति

योशिअकि सुज़ुकि

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से आधुनिकता के विषय में तरह-तरह की कहानियाँ लिखी गई हैं। भारत के बदलते समाज के पहलुओं पर प्रकाश डालकर प्रेमचन्दोत्तर नई पीढ़ी के कहानीकारों ने कई प्रकार की रचनाएँ प्रकाशित कीं। आधुनिक युग में प्रवेश होने के समय में, अर्थात् 18वीं शती के उत्तरार्द्ध से 19वीं शती के प्रारंभ में दुनिया भर के लोगों के मन में कुछ भी संदेह पैदा नहीं हुआ था कि आधुनिकता अथवा यंत्रीकरण, शिल्प-विज्ञान का विकास मानव समाज की उन्नति एवं कल्याण के लिए ज़रूरी है। 18वीं शती की औद्योगिक क्रांति ने दुनिया भर के लोगों को बहुत प्रभावित किया था। उसका प्रभाव भारत में भी पड़ा, परंतु सही रूप में आधुनिकता का भारतीयकरण स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से शुरू हुआ और भारतीय समाज तेज़ गति से बदलने लगा है। इस बदलते समाज को ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए, तो स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिकता ने परंपरागत भारतीय अध्यात्म मानव संबंध को तोड़ दिया। आधुनिक पूँजीवादी प्रगति ने आध्यात्मिक लोगों को वस्तुवादी (भौतिकवादी) व्यक्ति में बदल दिया। पहले लोगों का संबंध धर्म अथवा परंपरागत रीति-रिवाज़ के आधार पर बनाया गया था, अब इसका संबंध धन, वस्तु के आधार पर बनाया जा रहा है। अर्थात् लोगों का आपसी संबंध आर्थिक शक्ति के आधार पर होने लगा। परंपरागत जाति प्रथा के अलावा आधुनिकता अथवा पूजीवादी विकास ने और एक वर्ग व्यवस्था बना दी, वह है आर्थिक वर्ग भेदभाव। पूँजीवादी विकास ने लोगों को बुर्जुआ वर्ग, मध्य वर्ग और निम्न वर्ग के तीन वर्गों में बाँट दिया और उसका विकास जितनी गति से होता है उतनी ही गति से तीनों वर्गों के बीच की दूरी बढ़ जाती है। फिर भी यह आर्थिक वर्ग होने के नाते स्थाई नहीं है। मध्य वर्ग के लोग बुर्जुआ वर्ग में शामिल हो सकते हैं। क्योंकि यह वर्ग आर्थिक शक्ति के आधार पर बनाया गया वर्ग है।

आधुनिक युग में जीने वाले सब आधुनिक जीवन नहीं जीते। आधुनिकता के कारण परिवर्तनशील समाज में बुर्जुआ वर्ग के लोग अर्थात् अमीर लोग खूब आधुनिक जीवन जीते हैं और मध्य वर्ग के लोग इस बदलते परिवेश में अपने स्थान एवं अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्नशील हैं, पर निम्न वर्ग के लोग आशाहीन जीवन जीते हैं और अपना अस्तित्व खो बैठे हैं। सिर्फ़ जीने के लिए हाँफते हैं। उन लोगों के सामने घटित कई सामाजिक परिवर्तन उन लोगों की उपेक्षा से ही होते हैं अर्थात् निम्न वर्ग के लोग जानते हैं कि उन लोगों की आँखों के सामने घटित सामाजिक परिवर्तन उनके लिए नहीं हैं। मध्य वर्ग के लोग निम्न वर्ग के लोगों

के प्रति सहानुभूति ज़रूर दिखाते हैं पर उन लोगों के निकट तक उतरकर एक साथ संगठित नहीं हो पाते। यही परिस्थिति आज के साहित्य में भी देखी जा सकती है। प्रस्तुत लेख में हिंदी कहानियों में अभिव्यक्त आधुनिक व्यवसाय पर विचार किया जाएगा।

भारतीय पाठकों में से कुछ लोग अवश्य कहेंगे कि भारत में भिक्षावृत्ति की परंपरा प्राचीन काल से है। इस निबंध का लेखक इस मत से सहमत है परंतु आधुनिकता के कारण जिन लोगों को काम छोड़ना पड़ता है और जीने के लिए भीख माँगनी पड़ती है, उस दृष्टि से यह व्यवसाय आधुनिक युग में शुरू हुआ। दूसरे शब्दों में भीख माँगना आधुनिक युग का प्रतीक कहा जा सकता है। इस भिखमंगी को विषय में रखकर कई कहानीकारों ने कहानियाँ लिखीं। निराला जी की "देवी" अमरकांत की "ज़िंदगी और जोंक", गंगाप्रसाद विमल की "मैं भी" आदि इन कहानीकारों ने निम्न वर्ग के प्रति जिज्ञासा और सहानुभूति अभिव्यक्त की और यथार्थपूर्ण ढंग से निम्न वर्ग के लोगों का जीवन प्रस्तुत किया है, परंतु महसूस होता है कि कहानीकार सिर्फ़ तटस्थ रहते हैं। हाँ, हमें यह भी मालूम है कि अधिकांश हिंदी कहानीकार मध्य वर्ग के लोग हैं। इसलिए निम्न लोगों की ज़िंदगी यथार्थपूर्ण ढंग से लिखते हुए भी इन लोगों की धरती तक उतरना असंभव प्रतीत होता है।

इस निबंध का उद्देश्य भिखमंगी के विषय में उपरोक्त तीन कहानियों को तुलनात्मक दृष्टि से पढ़कर कहानीकारों के विचार और युग की सामाजिक परिस्थितियों की खोज करना है।

पहले अमरकांत की कहानी "ज़िंदगी और जोंक" और गंगाप्रसाद विमल की कहानी "मैं भी" में चित्रित भिखमंगी को तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए। दोनों कहानियों में चित्रित भिखारी रोगी हैं, एक हैजे से पीड़ित है, दूसरा चर्म रोग से। परंतु दोनों भिखारियों की पृष्ठभूमि में स्पष्ट अंतर है। "ज़िंदगी और जोंक" में चित्रित रजुआ पहले भिखारी है और बाद में हैजे के शिकार रजुआ को मुहल्ले के लोगों से परिचित होकर मुहल्ले के लोगों के घर का छोटा-मोटा काम मिल जाता है और बाद में हैजे से पीड़ित होते हुए भी जीने का प्रयास करता है। रजुआ भिखारी के जीत के प्रयास को देखकर पात्र "मैं" चकित हो जाता है। इस कहानी में लेखक ने निम्न वर्ग के लोगों के प्रति मध्य वर्ग के लोगों की सहानुभूति प्रस्तुत की है और साथ ही निम्न वर्ग के लोगों के जीने के लालच पर मध्य वर्ग के लोगों का आश्चर्य व्यक्त किया है। क्योंकि मध्य वर्ग के लोगों को मालूम है कि उसे मरने तक इस दुनिया में कष्टमय जीवन ही जीना पड़ेगा फिर भी जीने का प्रयास क्यों। कहानी के अंत में इसलिए पात्र "मैं" को सोचना पड़ा कि जोंक वह था या ज़िंदगी, वह ज़िंदगी का खून चूस रहा था या ज़िंदगी उसका और पात्र "मैं" स्वयं तय नहीं कर पाया था क्योंकि पात्र "मैं" रजुआ जैसे निम्न वर्ग का आदमी नहीं था। इस कहानी का पात्र "मैं" मध्य वर्ग का प्रतिनिधि है, वह सिर्फ़ तटस्थ रहता है।

गंगाप्रसाद विमल की कहानी "मैं भी" में चित्रित भिखारी की पृष्ठभूमि अमरकांत के भिखारी से आती है। जहाँ गाँव के मुखिया के घर में उसे काम करना पड़ा, वहाँ मुखिया के

पुत्र के कोढ़ रोग का उस पर भी असर पड़ा और उसे गाँव से निकाल दिया गया। तब से उसे जीने के लिए भीख माँगनी पड़ी। इस कहानी में आधुनिक युग होते हुए भी भारतीय गाँव की सामंतवादी प्रवृत्ति दिखलाई गई है। कोढ़ से पीड़ित व्यक्ति के लिए भिखमंगी के अलावा कोई जीने का साधन नहीं था। न चाहते हुए भी जीने के लिए उसे भीख माँगनी पड़ी, लेकिन गाँव में बाढ़ वाने की वजह से खेत नष्ट हो गया और गाँव के किसान नौकरी खोजने के लिए शहर में आने लगे। शहर में नौकरी खोजने वालों की भीड़-भाड़ है। आजकल शिक्षित लोगों को नौकरी नहीं मिलती है तो अशिक्षित किसानों के लिए कहाँ काम मिलेगा। वस्तुवादी आधुनिक युग में पैसा हो सब कुछ है, बिना पैसे क्या किया जा सकेगा। इस दृष्टि से बेरोज़गार किसानों की तुलना में भिखमंगी अच्छा व्यवसाय है क्योंकि भिखारी को रोज़ कुछ-न-कुछ नकद मिल जाता है। सामाजिक एवं व्यावसायिक दृष्टि से भिखमंगी सबसे निम्न व्यवसाय एवं वर्ग माना जाता है। भिखारी होने के लिए अपनी मर्यादा छोड़नी पड़ती है। कितने लोग अपनी मर्यादा भंग न कर पाने के कारण भूखे मर रहें हैं, परंतु इस कहानी में भूखे मर जाने से बचने के लिए शरणार्थी किसान का लड़का भीख माँगने के लिए सड़क पर बैठ जाता है और नायक को देखकर भाग जाता है। "मुझे भी कोढ़ हो जाए। कम-से-कम नंदू भाई की तरह परिवार का पेट भर सकूँ। मैं भी।" कहकर तभी नायक को लग रहा है कि वे लोग भी भिखमंगों की तरह बैठ जाने वाला हो। आधुनिक युग होते हुए भी खेत मजदूरों को प्रकृति से डरना पड़ता है। बाढ़, भीष्म सूखा, शीत लहर आदि के प्राकृतिक बदलाव पर खेतों की फसल निर्भर रहती है। अगर फसल नहीं मिलती तो खेत मजदूरों को शरणार्थी बनकर काम खोजने शहर में आना पड़ता है क्योंकि उन लोगों के मन में एक आशा है कि शहर में काम बहुत है, इसलिए कुछ-न-कुछ काम मिल जाएगा। कहा जाता है कि दिल्ली, कलकत्ता, बंबई जैसे शहरों में आने वाले शरणार्थियों की संख्या एक दिन में तीन सौ परिवार से अधिक हैं। उन लोगों को कहाँ काम मिलेगा। इसलिए इस कहानी की अंतिम पंक्ति के नायक का कथन यथार्थपूर्ण है।

अब मेरे मन में और एक भिखारी की याद आई है। वह है निराला जी की "देवी" में चित्रित भिखारिन। उन्होंने एक महिमा गूंगी भिखारिन को गहरी सहानुभूति के साथ चित्रित किया था। लगता था निराला जी की सहानुभूति उस भिखारी और गूंगी माँ के धरातल तक उतरी है। निम्न एवं कमज़ोर लोगों के प्रति कितनी दया और लगाव उनके मन में था-यह कहने की आवश्यकता नहीं है। सब उनके जीवन चरित से मालूम होता है। इस कहानी में भी उनकी मानवतावादी सहानुभूति दिखाई देती है।

लेकिन एक ओर ऐसा भी कहा जा सकता है कि निराला जी का युग भविष्य में आशा रखने का युग था। स्वतंत्रता प्राप्ति के लक्ष्य के लिए सभी भारतीय लोगों के मन में आशावादी किरणें चमक उठी थीं, जो आशा स्वतंत्रता पर ही नहीं थी, बल्कि हर एक सामाजिक पहलू पर भी केंद्रित थी। स्वतंत्रता के बाद ग़रीबी मिटेगी, काम मिलेगा इत्यादि

और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह आशा मृगतृष्णा में बदल गई। लोगों को यथार्थ देखना, भोगना और सहना पड़ा। एक ओर बेरोज़गार की संख्या, ग़रीबों की संख्या बढ़ रही थी, दूसरी ओर अमीर लोग और अधिक अमीर होने लगे। क्या आधुनिकता का अर्थ यह था? अमरकांत और गंगाप्रसाद विमल की कहानी में चित्रित किया गया यथार्थ आधुनिकता का एक प्रतीक है और निम्न वर्ग के लोगों की परिस्थिति और तटस्थ रहने वाले मध्य वर्ग के लोगों की परिस्थिति भी आधुनिकता का प्रतीक है। समकालीन समाज की परिस्थिति को देखें तो भविष्य में मध्य वर्ग के लोगों के भिखमंगे बनने की कहानी पाठकों के सामने आने की संभावना है। ऐसा सोचते वक़्त और एक भिखमंगे और कमज़ोर व्यक्ति से संबंधित कहानी मिल गई।

मिथिलेश्वर कृत कहानी का नाम "सवाल" है। इसमें एक अपाहिजनुमा व्यक्ति की ज़िंदगी चित्रित की गई है। इस कहानी में भिखारी अपने व्यापार क्षेत्र से उस कमज़ोर व्यक्ति को हटाने के लिए आक्रमण करता है। मिथिलेश्वर ने इस कहानी में इस प्रकार निम्न वर्ग के भिखारी से लेकर बारी-बारी से उच्च वर्ग के लोगों के व्यवहार को चित्रित किया है। भिखारी, रिक्शावाला, दुकानदार, बड़े बाबू का ड्राइवर सभी ने उस अपाहिजनुमा व्यक्ति से घृणा की और स्टेशन में खड़े हुए लोग भी उसकी उपेक्षा करते रहे। आखिर वह अपाहिजनुमा व्यक्ति मर जाता है। इस अपाहिजनुमा व्यक्ति के लिए मरना ही अच्छा था या नहीं। अब तक के मिथिलेश्वर का कथा संसार गाँव में था और गाँव में घटित गतिविधियों को फ़ोटोग्राफर की तरह कागज पर तस्वीर उतारते थे। अब महानगर में रहकर महानगर के सुविधा भोगी समाज में घटित दयाहीन यवार्थ को चित्रित करने लगे हैं। अब तक लेखक गाँव के पदार्थ को तटस्थता से चित्रित किया करते थे और यह रचना-प्रक्रिया ही उनका दृष्टिकोण था, परंतु लेखक ने इस कहानी में नगर वासी की मानसिकता में मानवता की एक आशा जोड़ने का प्रयास किया है। यह कहानी की अंतिम पंक्तियों में स्पष्ट दिखायी देता है। कुछ लोग या सब लोग समाज में कमज़ोर आदमी या निम्न वर्ग के लोगों के प्रति उपेक्षा नहीं करते, फिर भी वे कुछ नहीं कर पाते हैं। उन लोगों के मन में दया और मानवता की भावना अब भी बची हुई है पर उस भावना से क्या होगा। यह लेखक का "सवाल" है और लेखक इस "सवाल" को पाठकों के सामने छोड़ देता है? इस प्रकार भिक्षावृत्ति परंपरागत व्यवसाय होते हुए भी आधुनिक युग के प्रतीकात्मक व्यवसाय के रूप में इसे कई कहानीकारों ने चित्रित किया है। उसमें युग और समाज प्रतिबिंबित हैं और इस प्रकार निम्न वर्ग के लोगों की ज़िंदगी चित्रित करने से बाह्य यथार्थ एवं मध्य वर्ग के लोगों का आंतरिक यथार्थ स्पष्ट उभर आए हैं। अगर मध्य वर्ग के लोगों के तटस्थ रहने की भावना आधुनिकता का प्रतीक है तो लेखक के तटस्थता से लिखने की प्रवृत्ति भी आधुनिकता का प्रतीक कहलाएगी क्या?

आपके पत्र

"ज्वालामुखी" का तीसरा अंक प्राप्त हुआ। आपके इस ऐतिहासिक प्रयास का मैं अभिनंदन करता हूँ। मैं इस पत्रिका को केवल हिंदी की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि भारत-जापान संस्कृति संबंधों को सुदृढ़ करने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण रचनात्मक प्रयास मानता हूँ। इस पत्रिका के माध्यम से जापान के हिंदी प्रेम का परिचय मिलता है।

लल्लन प्रसाद व्यास
"विश्व हिंदी दर्शन"
नई दिल्ली

"ज्वालामुखी" का दूसरा अंक प्राप्त हुआ। आज सवरे मैं इसके दो ही लेख "भारतीय फ़िल्में" और आधुनिक जापानी साहित्य की प्रवृत्तियाँ" पढ़ सका हूँ। दोनों लेख गजब के हैं। अगर दूसरा लेख जापानी साहित्य की उपलब्धियाँ और प्रवृत्तियों को समझने में सहायक है और उसके द्वारा हमें यह पता चलता है कि मानसिक धरातल पर हमारी अनुभूतियाँ कितनी समान हैं, तो "भारतीय फ़िल्में " लेख में तामाकि मात्सुओका ने हिंदी फ़िल्मों और तुलनात्मक ढंग से अन्य भारतीय फ़िल्मों का जो बेबाक और ज्ञानवर्धक चित्र खींचा है।

जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी

संपादकीय में एक बात है--"हाँ, अंग्रेज़ी अंतर्राष्ट्रीय भाषा अवश्य है, पर अपने देश में अंतर्राष्ट्रीय भाषा की क्या आवश्यकता है" पूरी व्यक्ति की आँखें खोलने के लिए काफ़ी है।

रवींद्र कालेकर
पुणे

इस पत्रिका के प्रति मेरे मन में एक विशेष प्रकार की आत्मीयता है। इसका कारण यह है कि आप जापान के ही बंधुओं को हिंदी में लिखने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं। आपकी इस सेवा का निश्चय ही दूरगामी सुखद परिणाम निकलेगा। जापान और भारत दोनों देशों के संबंध अधिक प्रगाढ़ होंगे। भाषा और साहित्य कभी तोड़ने का काम नहीं करते, बल्कि जोड़ते हैं।

यशपाल जैन
नई दिल्ली

“ज्वालामुखी” की पत्रिका मिली धन्यवाद। इसके कुछ लेख तो बहुत ही अच्छे लगे। हिंदी भी ऐसी बढ़िया लिखी है कि कभी-कभी तो विश्वास नहीं होता कि जिसने लिखी है हिंदी उसकी मातृभाषा नहीं है। आशा है आप से प्रेरित होकर अन्य देशों में हिंदी के अध्ययन और अध्यापन के लिए ऐसे ही कदम उठाये जायेंगे।

डॉ० विजय गंभीर
पेनसिलवनिय विश्वविद्यालय
अमरीका

पत्रिका के आइने में जापान का हिंदी प्रतिबिंब देखा जिसने कोमल भावनात्मक रिश्ता ही कायम कर दिया है उन अनजाने लेखक-लेखिकाओं से एक सूक्ष्म मुलाकात सी हो गई तहेदिल से आभारी हूँ।

उर्मिला कौल
बिहार

“ज्वालामुखी” में कहानी की कमी रही तथा उसमें भारत आए जापानियों के संक्षिप्त विचार भी रहना चाहिये।

वीरेन्द्र जैन
पहाड़वाले
नजीबाबाद

छह अगस्त 1983 हिरोशिमा में

आकिओ ताकामुरा

मैं जापान में एक प्रसारण निगम एन०एच०के० में रेडियो जापान के हिंदी विभाग में कार्यरत हूँ। रेडियो जापान शार्ट वेब प्रसारण के ज़रिये विदेशी श्रोताओं को जापान के विभिन्न पहलुओं से अवगत कराता है।

हर वर्ष अगस्त मास में हिरोशिमा शहर में परमाणु विरोधी विभिन्न आंदोलनों का आयोजन किया जाता है। मैंने उनसे संबंधित कार्यक्रम बनाने के लिए इस वर्ष भी हिरोशिमा की यात्रा की। हिरोशिमा में प्रवास के दौरान मुझे परमाणु विरोधी आंदोलन में संलग्न अनेकानेक जापानियों तथा विदेशियों के साथ बातचीत करने का मौका मिला। मैं पाठकों को उस वक़्त लिए इंटरव्यू में से कुछ अंश संक्षिप्त रूप में अवगत कराऊँगा।

सबसे पहले अणु बम के शिकार बने और अब भी उसके उत्तर प्रभाव से पीड़ित एक व्यक्ति ने मेरे प्रश्न का जवाब ऐसा दिया।

"टी०वी० या रेडियो कार्यक्रम बनाने वाले केवल छह अगस्त को, जिस दिन हिरोशिमा पर अणु बम गिराया गया था, हिरोशिमा आते हैं और हमारे साथ बातचीत करते हैं। लेकिन आप इस दिन को छोड़कर अन्य किन्हीं अवसरों पर हमारी स्थिति पर ध्यान रखने का प्रयास नहीं करते। हमारी बीमारी हमेशा जारी रहती है। मेरा विचार है कि परमाणु युद्ध की त्रासदी न दोहराने की अपील करने के लिए निरंतर प्रयासों की आवश्यकता है।"

और दूसरी ओर एक अन्य अणु बम पीड़ित ने यों कहा-

"हाँ, उनका कहना ठीक है। मगर अगर लोग छह अगस्त को भी हिरोशिमा पर ध्यान न दें, तो बात और भी गंभीर हो जाएगी। इसलिए मेरा विचार है कि कम-से-कम छह अगस्त को हिरोशिमा पर ध्यान केंद्रित करना ठीक है। विश्व के लोगों को हमारी दुःखपूर्ण स्थिति से अवगत कराने का प्रयास किया जाता है।"

हिरोशिमा में एक शांति सम्मेलन में भाग लेने वाली एक अमरीकी महिला के साथ भी मेरी भेंट हुई। उनका यह कथन है।

"यह मेरी पहली हिरोशिमा यात्रा है। शांति पार्क के एक कोने में स्थित अणु बम संग्रहालय में तत्कालीन विभीषिका पर विचार करना पड़ा। आजकल अमरीका में परमाणु विरोधी आंदोलन ज़ोर पकड़ता जा रहा है, क्योंकि दो महाशक्तियों के बीच परमाणु शस्त्र होड़ भीषण स्थिति ग्रहण कर चुकी है, और अब उससे संबद्ध कोई समझौता संपन्न होने की संभावना दिखाई नहीं देती। मगर सच तो यह है कि परमाणु विरोधी हमारी भावना में कोई वास्तविकता

नहीं है। मेरे विचार में वह शायद इसलिए कि हम अमरीकी एक बार भी अणु बम की विभीषिका का शिकार नहीं बने हैं। मेरा अनुरोध है कि परमाणु शस्त्र होड़ में संलग्न विश्व के सभी लोग हिरोशिमा में अणु बम संग्रहालय का दौरा करें और परमाणु युद्ध की अति भयानक स्थिति के विभिन्न पहलु देखें।"

इसी बीच दक्षिण कोरिया के एक व्यक्ति ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए।

"यह बहुत अच्छी बात है कि जापानी लोग परमाणु विरोधी आंदोलनों में गंभीरता से जुटे हुए हैं। परंतु मेरे विचार में वे केवल कष्ट पाने वालों के पक्ष में ही आवाज़ उठाते हैं और यह भूल जाते हैं कि द्वितीय विश्व युद्ध में वे एशियाई देशों के हमलावर थे। जब तक वे अपने इस रवैये में परिवर्तन नहीं करते, तब तक उनके परमाणु विरोधी आंदोलनों के लिए अन्य एशियाई लोगों का समर्थन पा लेना मुश्किल होगा। यह भी एक वास्तविकता है कि जापानी सेना के एशियाई देशों पर आक्रमण, दो अणु बमों से खत्म हो गए।"

इस प्रकार हिरोशिमा में एकत्र लोगों का मत, अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार मेरे सामने उभर आया। मगर मेरा पक्का विश्वास है कि इन सभी लोगों की शांति का रास्ता खोजने की गहरी इच्छा है। विश्व के अधिकतर लोग सोचते हैं कि अगर परमाणु शस्त्र होड़ यों ही जारी रही, तो मानव का भविष्य अंधकारमय होगा। फिर भी आजकल परमाणु युद्ध की आशंका दूर करने के प्रयासों में सफलता नहीं मिल रही है। ऐसा क्यों है? इस प्रश्न का उत्तर देना कोई सहज कार्य नहीं है। लेकिन मेरे मन में हिरोशिमा में रहने वाली अणु बम पीड़ित एक कवियत्री के ये शब्द अब भी ताज़ा हैं

"परमाणु बम तो मानव के हाथों से ही बना है। इसलिए उसे उसी के हाथों नष्ट करवाना कोई मुश्किल काम नहीं होगा।"

समीक्षा

हमारे पास समीक्षार्थ कई पुस्तकें प्रेषित की जाती हैं। खास तौर पर तृतीय विश्व हिंदी सम्मेलन के अवसर पर संपादक को कई पुस्तकें प्रेषित की गई। परंतु उस वक़्त पत्रिका भी प्रकाशित होने वाली थी। अतः समयाभाव के कारण इन सभी पुस्तकों की समीक्षा इस पत्रिका में प्रस्तुत करना असंभव प्रतीत होता है। जिन लोगों ने संपादक को पुस्तकें दी हैं उनके प्रति संपादक आभार प्रकट करता है।

"जापानी हाइकु और आधुनिक हिंदी कविता"

(लेखक : डॉ० सत्य भूषण वर्मा, प्रकाशक : हिंदी विकास पीठ, मेरठ, 1983, मूल्य 40 रुपये (भारत में), 6 अमरीकी डालर (विदेशों में)

यह पुस्तक डॉ० सत्यभूषण वर्मा की हाइकु संबंधी दूसरी पुस्तक है। डॉ० वर्मा ने इस पुस्तक में जापानी हाकुक के मूल स्वरूप अर्थात् दर्शन, सिद्धांत का परिचय सरल भाषा में देने के साथ-साथ हिंदी हाइकु का ऐतिहासिक विश्लेषण भी किया है।

हाइकु जापानी भाषा की 17 अक्षरी त्रिपदी लघु कविता है जिसमें प्रकृति वर्णन अनिवार्य है, परंतु जापानी हाइकु को प्रकृति प्रधान काव्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस प्रकृति वर्णन में ही जापानी लोग जीवन की क्षण-भंगुरता, प्रकृति के गतिमान, नश्वर रूप को महसूस कर सकते हैं अर्थात् इस प्रकृति वर्णन में जापानी लोगों का जीवन-दर्शन सम्मिलित है। उसे डॉ० वर्मा ने विस्तार से अवगत कराया और उन्होंने हाइकु से प्रभावित हिंदी कविताओं एवं हिंदी हाइकु का जापानी हाइकु सिद्धांत की दृष्टि से नया मूल्यांकन भी किया है उनका प्रयास प्रशंसनीय है।

इस पुस्तक में लेखक ने जापानी हाइकु के हिंदी अनुवाद का मूल्यांकन भी किया है। अब तक भारत में जिन जापानी हाइकु का अनुवाद हुआ है उनका अनुवाद मूल जापानी हाइकु से न होकर अनूदित अंग्रेज़ी भाषा से हुआ है। परिणामतः उनके हिंदी अनुवादकों ने मूल जापानी हाइकु से अलग किस्म की कविता बना दी। लेखक ने इन अनूदित हिंदी हाइकु को मूल जापानी हाइकु से तुलना करके तर्क संगत ढंग से उन अनूदित हाइकु के अभावों का स्पष्टीकरण किया। जहाँ तक अनुवाद का सवाल है हाइकु के हरेक शब्द को हिंदी में या जापानी भाषा में अनुवाद करना ही उत्तम अनुवाद नहीं होगा। दरअसल हाइकु में छिपे भावार्थ को भी उजागर करना अनुवाद की आवश्यकता है। यह हाइकु को अनुवाद करते समय बड़ी समस्या बन जाती है। हमारे पास भारत के हाइकु अनुवाद करना' ही उत्तम अनुवाद नहीं होगा। अनुवाद की हिंदी हाइकु को अनुवाद करके किसी जापानी हाइक पत्रिका में प्रकाशित कर दें। दूसरी

भाषा में रचे हाइकु को प्रेमियों द्वारा हिंदी हाइकु प्रेषित किया जाता है और हाइकु के साथ अनुरोध पत्र भी संलग्न हैं जिसमें लिखा है कि जापानी हाइकु के सिद्धांतानुसार 5-7-5 क्रम वाली जापानी हाइकु में अनुवाद करना क्या संभव होगा? अलग संस्कृति वाले देशों के लोगों के हाइकु का जापानी लघु कविता में अनुवाद कैसे हो सकेगा। अगर सौभाग्य से जापानी हाइकु के सिद्धांतानुसार किया भी जा सकता है पर वह अनूदित हाइकु, जापानी हाइकु साहित्य में उच्च कोटि का हाइकु अर्थात् हाइकु का संज्ञा दिया जाएगा या नहीं- यह अलग बात है। अगर हिंदी हाइकु का अनुवाद गद्य में किया जाता है तो ठीक ढंग से किया जा सकता है। हाइकु बहुत गहरी कविता है। इन दो-तीन सालों में भारत में भारतीय भाषाओं का हाइकु बहुत विकसित हुआ है। इस समीक्षक का व्यक्तिगत विचार है कि हिंदी हाइकु हिंदी में ही विकसित करना सबसे उचित होगा।

“पेड़ उदास हैं”

(लेखक: अनंत रमेश, “ऋतु चत्र” इक्कीस अंक)

लेखक ने लघु कथा में पेड़ के द्वारा बदलते परिवेश को स्पष्टता से चित्रित किया है। प्राचीन काल से पेड़ महत्त्वपूर्ण कार्य निभाते आया है। गर्मी के दिनों में पेड़ लोगों को छाया और ठंडी हवा देता है, पत्तों की सरसराहट की आवाज़ सुनकर लोगों को कितना आनंद महसूस होता है। लेकिन आधुनिकता के नाम पर समाज बदलने लगा है। लोहे का घोड़ा धुआँ निकालकर चलता है जिसे लोग रेलगाड़ी कहते हैं। लोहे के घोड़ों को पेड़ों की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता तो कोयला है। उद्योगीकरण के नाम पर वृक्ष काटा जा रहा है। प्रकृति नष्ट हो रही है। इस बदलते परिवेश को देखकर “पेड़ उदास हैं” और पेड़ ही नहीं आदमी भी उदास हैं। इस लघु कथा में लेखक की यह भावना भी छिपी है।

“टुकड़ा टुकड़ा आदमी”

(लेखिका : मुदला गर्ग, प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, द्वितीय संस्करण 1983, मूल्य 22 रुपये)

इस कहानी संग्रह में संगृहीत कहानियों की विशेषता है हर एक इंसान के मन में छिपी स्वार्थ भावना का चित्रण | “टुकड़ा-टुकड़ा आदमी” में लेखिका ने इंसान की कथनी और करनी के अंतर को चित्रित किया है। किसी भी इंसान के मन में कुछ-न-कुछ स्वार्थ भावना होती है पर उसे दिखाते नहीं। बुर्जुआ वर्ग के लोग कभी निम्न वर्ग का सही जीवन देखते हैं तो उस पर दया की भावना उत्पन्न हो जाती है पर क्षण भर के लिए आजकल धर्म का भी अपने हितों के

लिए इस्तेमाल होता है ("दूसरा चमत्कार")। दांपत्य जीवन में भी अगर स्वार्थ भावना उत्पन्न होती है तो दांपत्य जीवन का पतन होगा। "अवकाश" में दांपत्य जीवन का पतन चित्रित किया गया है। लेखिका इंसान की स्वार्थ भावना को उजागर करने के साथ प्रेम के बारे में भी यथार्थ पूर्ण ढंग से चित्रण करती हैं। सुबोध कुमार और प्रभा का प्रेम संबंध क्या है? "अवकाश" में चित्रित दम्पत्ति का प्रेम क्या है? श्रीमती मृदुला गर्ग की कहानियाँ पाठकों को सोचने पर मजबूर कर देती हैं चाहे पाठक अमीर हो या निम्न मध्य वर्ग का हो।

"हम प्यार कर लें"

(लेखक: गिरिराज किशोर, प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन, सन् 1980, मूल्य: 16 रुपये)

इस कहानी संग्रह में दस कहानियाँ संग्रहीत हैं। इन कहानियों में से ऊपर लिखित शीर्षक की कहानी एक अजीब-सी मनःस्थिति की कहानी है। बारिश के मौसम में एक मर्द और लड़की (लेखक ने इसे औरत या महिला नहीं लिखा। शायद लड़की मर्द से काफ़ी जवान होगी।) एक कमरे में लेटे हैं। बाहर तेज़ बारिश हो रही है। कमरे में एक अजीब-सा सन्नाटा छाया हुआ है। मर्द और लड़की बातें करते हैं परंतु दोनों का वार्तालाप एक दूसरे से संबद्ध नहीं है व्यर्थपूर्ण बातें करते हैं पर उन व्यर्थपूर्ण बातों से न जाने क्यों दोनों का संबंध स्पष्ट उभर आता है और कहानी के अंत में कहते हैं कि हम प्यार कर लें। लेकिन उन दोनों का प्यार कौन-सा प्यार है? प्रेम का सही स्वरूप क्या है? यह कहानी श्रीमती मृदुला गर्ग की कहानियों की तरह प्रेम के संबंध में पाठकों को सोचने पर मजबूर कर देती है।

इसके अलावा अब तक निम्नलिखित पुस्तकें प्रेषित की गई हैं :

"जनमेजय" (लेखक : मदन मोहन उपेन्द्र), **"इतिहास का दौर"** (लेखक : रामकृष्ण 'विकलेश), **"हल्दी घाटी से गौरव"** (लेखक : भानसिंह शेखावत 'मरुधर'), **"श्रद्धांजलि"** (लेखिका : मिथिलेश कुमारी मित्र), **"तुलसी के राम"**, **"गोस्वामी तुलसीदास समाज के पथ-प्रदर्शक"**, **"अस अद्भुत बनी"** (सं : मानस संगम), **"सरदार ऊधम सिंह"** (लेखक : मुरलीधर झा) **"यथा प्रस्तावित"** (लेखक : गिरिराज किशोर) **"अपनी जबान में कुछ कहो"** (वित्तोरिया तोकारेवा की रूसी कहानियाँ, अनुवादक : हेमचंद्र पाँडे), **"समुद्र का एकांत"** (लेखक : आलोक शर्मा), **"प्रेमचन्द"** (मेरठ विश्वविद्यालय हिंदी परिषद्), **"तेवरी"** (लेखक : देवराज एवं ऋ० दे० शर्मा 'देवराज'), **"श्रेष्ठ समान्तर कहानियाँ"** (सं० : हिमांशु जोशी), **"अदृश्य नदी"**, **"सड़कों पे ढले साये"** (लेखक : उपेन्द्रनाथ अश्क), **"अनारो"** (लेखिका : मंजुल भगत), पत्रिकाएँ **"ऋतु चक्र"**, **"कथांतर"**, **"वीथी"** और हाइकु से संबंधित पत्र जैसे "हाइकु" आदि।

इस अंक के लेखक

1. डॉ० तोमिओ मिज़ोकामि, ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, हिंदी विभाग सहायक प्रोफ़ेसर, पता : 24-6, गोतेनयामा 2 च्योमे, ताकाराज़ुका-शि, ह्योगो केन्
2. श्री महेन्द्र साइजी माकिनो, विश्व भारती, जापानी भाषा विभाग, अध्यापक, पता : 11, एण्ड्रयूज पाल, पो०ओ० शांतिनिकेतन, पश्चिम बंगाल
3. डॉ० नोरिहिको उचिदा, क्योतो विश्वविद्यालय, साहित्य विभाग प्रवक्ता पता : विवाको मिसोरा दाइनी दान्ची 8-102, मिसोरा-च्यो, ओत्सु-शि, शिगा-केन्
4. आकिओ ताकामुरा, रेडियो जापान हिंदी विभाग, पता : 2-17 कागा 1 च्योमे, काशिवा-शि, चिवा केन्
5. योशिअकि सुज़ुकि, "ज्वालामुखी", संपादक, पता : 5-9 मात्सुयामा 3 च्योमे, कियोसे-शि, तोक्यो
6. आकिरा ताकाहाशि, ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, हिंदी विभाग प्रवक्ता, पता : 5-6-12 सोने हिगाशिच्यो, तोयोनाका-शि, ओसाका

विशेष सहयोगी

1. मासुरो त्सु जिमुरा, 4-5 हिगाशिकानामाचि 4 च्योमे, कात्सुशिका-कु, तोक्यो
2. कैलाशचंद्र पांडे एवं उनके परिवार, वाई 81 हौज खास, नई दिल्ली
3. योशिको ओगावा, केंद्रीय हिंदी संस्थान, दिल्ली कैम्पस, नई दिल्ली
4. शिगेओ अराकि, अध्यक्ष, एशियाई सांस्कृतिक संघ पता : 249-7 मोमुरा, इनागि-शि, तोक्यो

(पाँचवें अंक का) संपादकीय

योशिअकि सुज़ुकि
गणतंत्र दिवस
26-1-1985

हाल ही में भारत के प्रधानमंत्री श्री राजीव गाँधी के राष्ट्र के नाम हिंदी प्रसारण को लेकर हिंदी प्रदेश में काफ़ी चर्चा हुई। लोकसभा चुनाव में विजय के तुरंत बाद टी०वी० द्वारा प्रधानमंत्री जी ने पहले अंग्रेज़ी में भाषण दिया और बाद में हिंदी में। इससे हिंदी प्रेमियों ने आपत्ति व्यक्त की कि प्रधानमंत्री जी अंग्रेज़ी को प्रथम दर्जा की भाषा मानते हैं क्या? और प्रधानमंत्री जी की हिंदी सुनकर और निराश हो गए कि हिंदी प्रदेश में जन्म लेकर भी उनके हिंदी भाषण में गलतियाँ बहुत हैं। बेचारे प्रधान मंत्री जी को लोकसभा में शपथ ग्रहण करने के वक़्त हिंदी में ही बोलना पड़ा। वास्तव में भाषा राजनीति से संबंधित है। कोई कहता है कि चुनाव के वक़्त उम्मीदवार हिंदी में ही भाषण देता है और निर्वाचित होने के बाद वह अंग्रेज़ी में ही बोलेगा। स्पष्ट है कि भाषा में राष्ट्रीयता जोड़ने से भाषा स्वयं राजनीति बन जाती है। इससे भाषाई समस्या भी पैदा हो सकती है।

आजकल हिंदी शब्दों के बदले अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग बहुत किया जा रहा है। इससे शुद्ध हिंदी बोलने वाले चिंतित हैं कि हिंदी का स्वरूप बिगड़ता जा रहा है। परंतु सोचना होगा कि भाषा परिवर्तनशील है, जीवित है। उदाहरण के लिए Shopping को लीजिए। आजकल लोग बोलते हैं कि Shopping करने जा रहे हैं। शुद्ध हिंदी प्रेमी इस वाक्य को सुनकर नाराज हो जाएँगे कि क्यों अंग्रेज़ी शब्द का प्रयोग करते हो। पर बाजार का विज्ञापन बोर्ड देखिए अंग्रेज़ी में Shopping Center लिखा है 'खरीदारी केंद्र' नहीं लिखा है। तब Shopping शब्द का प्रयोग होगा ही। यह अंग्रेज़ीपन नहीं है। हिंदी भाषा कभी अंग्रेज़ी भाषा नहीं बन पाएगी क्योंकि अंग्रेज़ी हिंदी में व्याकरण बिल्कुल अलग है। भाषा बिगड़ने की बात करने से ज़्यादा महत्त्व यह होगा कि हर एक आदमी को अपनी मातृभाषा पर गौरव रखना होगा तब भारतीय भाषाओं का सही विकास होगा। अपनी भाषा पर गौरव न रखने का प्रमाण गत वर्ष जापान में देखने को मिला। गत वर्ष जापान में अंतर्राष्ट्रीय पुस्तक प्रदर्शनी आयोजित की गई थी। इस प्रदर्शनी में विश्व के कई देशों की पाठ्य पुस्तकें साहित्य आदि प्रदर्शित की गई। इन देशों में सिर्फ़ भारत ही ऐसा देश था कि प्रदर्शित किताबों के 95 प्रतिशत अंग्रेज़ी की थी। इससे जापानी लोगों में भ्रम पैदा होने की संभावना है कि भारत में पाठ्य-पुस्तक साहित्य की भाषा अंग्रेज़ी अथवा अंग्रेज़ी ही राष्ट्र भाषा

होगी। शायद भारत के संयोजक ने इस मौके पर व्यापार करने के लिए अंग्रेज़ी किताबें ही दिखाई होगी।

अब अगले वर्ष फीजी में विश्व हिंदी सम्मेलन होने वाला है। मातृभूमि भारत से दूर रहते हुए भी फीजी के मूल भारतीय लोग कितनी अपनी भाषा से प्यार करते हैं। इसका प्रमाण आगामी विश्व हिंदी सम्मेलन का आयोजन होगा।

भारतीय साहित्य की खोज में एक यात्रा

योशिअकि सुज़ुकि

इस वर्ष एशियाई देशों के संस्कृति, साहित्य, जन-आंदोलन में रुचि रखने वाले जापानी संगठन 'एशियन कल्चरल फ़ोरम' की ओर से भारत भ्रमण का आयोजन किया गया। भारत की साहित्यिक परिस्थिति, संस्कृति, जन-जीवन आदि की जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से यह यात्रा आयोजित की गई। इस यात्रा मंडल में एशियन कल्चरल फ़ोरम के अध्यक्ष श्री शिगेओ अराकि, 'ज्वालामुखी' के संपादक, जापान दूरदर्शन के कैमेरामैन, बाल साहित्यकार आदि शामिल थे। लेकिन 9 सदस्यों में से अधिकांश लोग पहली बार भारत के भ्रमण में आए। वे लोग भारतीय भाषाओं से, साहित्य से, संस्कृति से परिचित नहीं थे फिर भी उनके बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए उत्सुक थे।

इस यात्रा का संस्मरण यहाँ प्रस्तुत है।

कलकत्ता

2 जनवरी रात के 11 बजे जापानी यात्रा मंडल जापान से कलकत्ता हवाई अड्डे पहुँचा। 3 जनवरी की शाम 6 बजे भारतीय भाषा परिषद के सभा कक्ष में प्रथम गोष्ठी भारतीय भाषा परिषद के साहित्य सूचना केंद्र की डॉ० प्रतिभा अग्रवाल के सहयोग से हुई। इस गोष्ठी में कलकत्ता के नई पीढ़ी के बंगला कवि, कवयित्रियों ने भाग लिया और हिंदी लेखक, पत्रकार भी आए थे। भाग लेने वाले लोगों के नाम हैं, श्रीमती स्नेहलता चट्टोपाध्याय, हिंदी लेखक श्री नवल, हिंदी कवयित्री ऋता मेहता, लेखक श्री नगेन्द्र चौरसिया, बंगला युवा कवि श्री सुतपन चट्टोपाध्याय, श्री सुरजीत घोष, श्री गौरशंकर बनर्जी, श्री सिद्धार्थ मुखर्जी आदि थे। जापानी लोगों को भारत के आधुनिक साहित्य के बारे में जानकारी बहुत कम थी और शायद उपस्थित भारत के लोगों को भी जापानी साहित्य की जानकारी कम थी। इसलिए साहित्यिक चर्चा में समझने के लिए आपस में थोड़-सी कठिनाई भी हुई। पहले जापानी लोगों की ओर से यह पूछा गया कि कहा जाता है बंगला साहित्य अन्य भारतीय भाषा साहित्य से उत्तम है यह बात सही है या नहीं। इस सवाल के जवाब में डॉ० प्रतिभा अग्रवाल ने कहा कि एक जमाना ज़रूर था, बंगला साहित्य दूसरे साहित्य से आगे चलता था परंतु अब बंगला साहित्य श्रेष्ठ दूसरा साहित्य श्रेष्ठ नहीं है यह कहना उचित नहीं है। भारतीय भाषाओं का साहित्य एक साथ विकसित हो रहा है और होता ही रहेगा। इसलिए एक-दूसरे से तुलना करना भी कठिन है। अगर तुलना करें तो किस प्रकार करें। इस पर अनुवाद के बारे में भी चर्चा हुई।

इसके बाद मुख्य विषय जीवन से संबंधित साहित्य पर केंद्रित रहा। हिंदी साहित्य ही नहीं, बल्कि अन्य भारतीय भाषा साहित्य का लक्ष्य जनता को जागृत करने के लिए है। जीवन से जुड़ा साहित्य जनता को प्रभावित कर सकता है। इसलिए भारत के लेखकों की ओर से पूछा गया कि जापान में जीवन से जुड़ा साहित्य लिखा जाता है तो किस प्रकार का? इस प्रश्न से जापान के लोग एक क्षण दंग रह गए। क्योंकि जापान के जन-जीवन और भारत के जनजीवन में काफ़ी अंतर है। भारतीय साहित्य मुख्यतः जनता की समस्याओं अथवा समाज की समस्याओं को चित्रित करके पाठकों को जागृत करने के उद्देश्य से लिखा जाता है, जबकि जापान में साहित्य की रचना पाठकों को जागृत करने का उद्देश्य नहीं होती। जापानी समाज उपभोगतावादी समाज है जहाँ सब चीज़ें मिल जाती हैं, वहाँ प्रत्यक्ष रूप से ज़िंदगी व्यतीत करने में कोई ठोस समस्या नहीं है। इसलिए साहित्य जनता को जागृत करने का साधन नहीं है। तब इस जवाब से भारत के लेखकों में हलचल मची कि जापान का साहित्य जीवन से जुड़ा हुआ नहीं है तो साहित्य का मतलब क्या? जापानी लोगों की ओर से यह कहना पड़ा कि भले ही जापानी साहित्य प्रत्यक्ष रूप से जीवन का चित्रण न करता हो, फिर भी इसमें परोक्ष रूप से जीवन का चित्रण ज़रूर है। कलाकार हो या साहित्यकार हो, सब समाज से अपने जीवन में संबंधित हैं और जीवन से संबंधित सृजनात्मक कार्य करते हैं। उदाहरण के लिए जैसे फ़िल्मकार फ़िल्म में सैक्स दिखाता है, पर सैक्स के माध्यम से परोक्ष रूप से जीवन को भी चित्रित कर सकता है। अमूर्त (Abstract) चित्र को देखकर जीवन से कटा हुआ नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें भी चित्रकार का जीवन चित्रित किया गया है।

इस चर्चा के बाद भारत के कवियों से कविता सुनाने का अनुरोध किया गया। जापान में कविता पढ़ी जाती है सुनाई नहीं जाती। यह सुनकर भारतीय कवि चकित हो गया। अधिकांश जापानी लोगों का पहला अनुभव था भारत के कवि की कविता सुनने का अर्थ तो समझ में नहीं आता था, पर बंगला भाषा की संगीतात्मक ध्वनि ने जापानी लोगों को काफ़ी प्रभावित किया।

इस गोष्ठी की अध्यक्षता डॉ० प्रतिभा अग्रवाल ने की और जापानी भाषा से हिंदी में, हिंदी से जापानी भाषा में अनुवाद इस पत्रिका के संपादक सुज़ुकि ने किया।

पटना

कलकत्ता से विमान द्वारा पटना आए 4 जनवरी शाम को पटना में जनवादी साहित्य एवं संस्कृतिकर्मी 'नई संस्कृति' के संपादक श्री राणाप्रताप सिंह से मिले। श्री राणाप्रताप सिंह से बिहार की छोटी पत्रिकाओं की परिस्थिति, पत्रिकाओं का उद्देश्य, योगदान आदि की जानकारी प्राप्त की। यहाँ पर भारत के साहित्य एवं छोटी पत्रिकाओं का लक्ष्य स्पष्ट रूप से समझने का अवसर मिला। श्री राणाप्रताप सिंह के साथ भेंटवार्ता के बाद श्री जितेन्द्र राठौर से

मिले, जिन्होंने जापानी कवि केन्जि मियाजाबा की कविताओं को हिंदी में अनुवाद करके प्रकाशित किया। उन लोगों के साथ जापानी साहित्य एवं अनुवाद की समस्या के संदर्भ में बातें हुईं।

5 जनवरी शाम को साहित्यकार श्री मधुकर सिंह, श्री प्रियरंजन, और 'प्रस्ताव' के संपादक श्री हरिहर प्रसाद से मिले। खास तौर पर लेखक श्री मधुकर सिंह हमारे अनुरोध पर आरा से पटना तक आए थे इसके लिए उनके प्रति हम आभारी हैं। उन लेखकों के साथ हमारी भेंटवार्ता का विषय रहा- सही हिंदी साहित्य की प्रतिनिधि रचना क्या है। उन लोगों का कहना था कि भारत में ज़मीन से जुड़े हुए साहित्य को हमेशा कला के लिए कलावादी साहित्य से संघर्ष करना पड़ता है। व्यवसायी पत्रिकाओं में प्रकाशित साहित्य ही भारतीय साहित्य का प्रतिनिधित्व नहीं करता, बल्कि अव्यवसायी छोटी पत्रिकाओं में प्रकाशित साहित्य भी भारतीय साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिए दोनों ओर ध्यान देना चाहिए। जापानी लोगों की ओर से प्रश्न किया गया कि, "सुना है हिंदी साहित्य का स्तर गिरता जा रहा है यह सही है?" उन लोगों का जवाब था कि यह किस दृष्टि से? साहित्य निरंतर विकसित होता है गिरता नहीं है। समीक्षक ऐसा ही कहते हैं पर आज के समीक्षक ठीक ढंग से समीक्षा नहीं करते। अंत में उन लोगों ने जापानी लोगों की दृष्टि से चयन किया जापान का प्रतिनिधि साहित्य जानने का अनुरोध किया और हम लोगों ने मदद करने का वादा किया।

वाराणसी

भारत के तीर्थ स्थान वाराणसी में रेल से आए। लेखक डॉ० काशीनाथ सिंह ने स्टेशन पर मंडल का स्वागत किया।

7 तारीख को सुबह से लोग गंगा स्नान देखने गए और इसके बाद बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के ग्रामीण विकास केंद्र के निदेशक प्रोफ़ेसर सत्येन्द्र त्रिपाठी और डॉ० काशीनाथ सिंह के साथ चिरई गाँव क्षेत्र का अवलोकन किया। ग्रामीण विकास केंद्र के सहयोग से विकसित गाँव को देखकर हमारे मन में लेखक श्री मधुकर सिंह की बात याद आई। उन्होंने कहा था कि आज के गाँव के लोग प्रेमचन्द के जमाने का किसान नहीं है जो गर्दन झुकाते थे, समस्याओं से पीड़ित थे। गाँव कुछ न कुछ विकसित हो रहे हैं। गाँव के अवलोकन करने के बाद बौद्ध धर्म के तीर्थ स्थान सारनाथ होते हुए बनारस हिंदू विश्वविद्यालय पहुँचे। वहीं ग्रामीण विकास केंद्र एवं प्रगतिशील लेखक संघ के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित गोष्ठी में भाग लिया। इस गोष्ठी में निदेशक प्रोफ़ेसर त्रिपाठी ने स्वागत भाषण दिया और डॉ० काशीनाथ सिंह ने एशियन कल्चरल फ़ोरम के बारे में परिचय दिया। इसके बाद एशियन कल्चरल फ़ोरम के अध्यक्ष श्री अराकि ने एशियाई देशों की जनता के साथ मित्रता स्थापित करने की अपील की और जापानी पूँजीवादी शासन की नई आर्थिक उपनिवेशवादी नीति पर

टिप्पणी की। इसके बाद प्रश्न उत्तर कार्यक्रम हुआ। इसमें श्री अराकि से पूछा गया था कि क्यों जापान में सन् 1975 के बाद छात्र आंदोलन और मजदूर आंदोलन ठंडा हो गया? जवाब में श्री अराकि ने कहा कि छात्र आंदोलन और मजदूर आंदोलन का मुख्य विषय समाज को सुधारना नहीं था, अमेरिकी जापान समझौता का विरोध करना था। अमेरिकी-जापान समझौता पर हस्ताक्षर हो जाने से छात्र आंदोलन एवं मजदूर आंदोलन का मुख्य मुद्दा ही लुप्त हो गया इस वजह से जापान में छात्र आंदोलन ठंडा हो गया।

गोष्ठी के समापन भाषण में हिंदी विभागाध्यक्ष डॉ० बच्चन सिंह ने जापान के आर्थिक उपनिवेश दादी शासन पर चिन्ता व्यक्त की। इस गोष्ठी के बाद जापानी लोगों ने डॉ० काशीनाथ सिंह के घर पर रात्रि भोजन किया। फ़र्श पर बैठ कर जापानी लोगों ने अपने हाथों से खाना खाया। घर के स्वादिष्ट भोजन से सब जापानी लोग संतुष्ट थे। वाराणसी में सुबह से लेकर रात तक कार्यक्रम थे, इसलिए सब लोग थके हुए थे फिर भी वाराणसी का एक दिन उन लोगों के लिए अविस्मरणीय रहा।

आगरा

आगरा में पूरा दिन विश्राम का दिन रखा। पूर्णिमा की रात पूस की चाँदनी थी और ताजमहल के आस-पास कुहरा छाया हुआ था। एक जापानी सदस्य ने अपनी पत्नी के कान में फुसफुसाया कि तुम्हारे लिए इतना बड़ा मक़बरा मैं नहीं बनवा सकता। सिर्फ़ एक महारानी के लिए इतना बड़ा मक़बरा कितना ख़र्च करके बनवाया है शाहजहाँ ने! सब लोग कुहरे के बीच क़ैद ताजमहल को देखते रहे।

दिल्ली

9 तारीख को आगरा से ताज एक्सप्रेस गाड़ी द्वारा राजधानी दिल्ली पहुँचे। 11 तारीख को साहित्य अकादमी के श्री एस० बालूराव से भेंटवार्ता की। श्री राव अंग्रेज़ी और कन्नड़ के कवि होने के अलावा अंग्रेज़ी पत्रिका ‘Indian Literature’ का संपादन करते हैं। हम लोगों ने उनसे साहित्य अकादमी की जानकारी प्राप्त की। हमारी ओर से सत्ता और अकादमी का संबंध, हस्तक्षेप के बारे में पूछे जाने पर श्री राव ने कहा कि साहित्य अकादमी एक स्वतंत्र संस्थान है जिस पर सरकारी हस्तक्षेप नहीं होता। आपातकाल के वक़्त के अकादमी का कार्य और अकादमी में काम करने वालों का उदाहरण देकर श्री राव ने अकादमी की स्वतंत्रता पर बल दिया। अंत में हमारे अनुरोध पर श्री राव ने अपनी अंग्रेज़ी और कन्नड़ कविताएँ सुनाई।

शाम को हम लेखक श्री हिमांशु जोशी से मिले। भेंटवार्ता में श्री अराकि ने पूछा कि सच्ची प्रगतिशील क्या है? श्री हिमांशु जोशी ने जवाब में कहा कि किसी भी लेखक के मन

में प्रगतिशील भावना है परंतु पार्टी से संबंधित प्रगतिशीलता सही प्रगतिशील नहीं होगी। सही प्रगतिशील साहित्य पार्टी की नीति से ऊँचा है। साहित्य किसी भी बंधन को तोड़ देता है। वही साहित्य की सृजनात्मकता है। क्या पार्टी की नीति की पाबंदी से बंधा साहित्य सही अर्थ में प्रगतिशील साहित्य कहा जा सकता है? साहित्य सब लोगों के हितों के लिए होना चाहिए। हम लोगों ने उनसे भी साहित्य के स्तर में गिरावट के बारे में पूछा। जवाब में उन्होंने कहा कि हम प्रेमचन्द जी की तरह या प्रेमचन्द जी से अच्छी रचना सृजन करने की कोशिश करते हैं। पर साहित्य के स्तर में गिरावट किस दृष्टि से? क्यों? इस सवाल का जवाब कौन दे सकता है। आज के समीक्षक निष्पक्ष तौर पर समीक्षा करते हैं या नहीं? साहित्य समीक्षक के लिए नहीं होता, पाठक के लिए है। पाठक ही सही प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करेगा। उनके साथ भेंटवार्ता में एशियन कल्चरल फ़ोरम के श्री अराकि एवं श्री मोउरि ने पूरे तौर पर सहमति व्यक्त की।

एशियन कल्चरल फ़ोरम के प्रतिनिधि मंडल की साहित्यिक यात्रा कलकत्ता से होते हुए दिल्ली तक पहुँची। कलकत्ता में, पटना में, वाराणसी में अथवा दिल्ली में कई साहित्यकारों से मिलकर भेंटवार्ताएँ की और इससे ज़रूर भारत के साहित्य एवं साहित्यिक परिस्थिति समझने का रास्ता मिल गया होगा। एशियन कल्चरल फ़ोरम के प्रतिनिधि मंडल सामान्य जापानी Tour Group की तरह भारत के 'Site Seeing' के लिए नहीं आया। भारत के लोगों से मिलने आए, साधारण चाय की दुकान में बैठकर चाय पी, घर का खाना खाया, गाँव देखने गए, रेल से यात्रा की। सब लोगों के मन में भारत की जनता के प्रति सद्भावना पैदा हुई। अधिकांश जापानी लोगों के पास भारत के साहित्य की जानकारी नहीं थी। इस यात्रा द्वारा साहित्य का लक्ष्य, भारत में साहित्य का अर्थ समझने का अवसर सब लोगों को मिला। इस यात्रा के लिए भारत के लेखकों ने दिल खोलकर हमारा स्वागत किया और बड़ी मदद की। इसके लिए हम आभारी हैं। एशियन कल्चरल फ़ोरम के यात्रा मंडल 12 जनवरी की रात को दिल्ली से जापान के लिए रवाना हो गए।

कहानी 'वापसी'

तोमिओ मिज़ोकामि

नाविक कमलनाथ आज घर वापस लौट रहा था। बंदरगाह पर रुके जहाज में चढ़ने और अपनी-अपनी निर्धारित सीट पर बैठने में अभी कुछ समय की देर थी। कुछ औपचारिकताओं का निर्वाह अभी बाक़ी था। यात्रियों और जहाज-कर्मचारियों की चहल-पहल के बीच गुमसुम खड़ा कमलनाथ अपने आपको बिल्कुल अकेला अनुभव कर रहा था। भीड़ में भी बिल्कुल अकेला। वह घर जा रहा था, परंतु इस जाने और पहले के जाने में बहुत अंतर था। आज उसके मन में थोड़ा-सा भी उत्साह, थोड़ी-सी भी उमंग नहीं थी। वह पूरी तरह निष्प्राण पुतला सा लग रहा था। बार-बार उसका मन जापान में हुई दुर्घटना का स्मरण कर काँप उठता था जिसने उसके संपूर्ण जीवन को अप्रत्याशित रूप से बदल दिया। उस दुर्घटना का स्मरण आते ही उसके चेहरे का रंग फीका पड़ गया, उसके रोंगटे खड़े हो गए। उसे लगा जैसे उसके पैरों के निकट ही एक भयंकर कर्णभेदी विस्फोट हुआ है। वह पसीने से लथपथ हो गया। अपने जहाज पर काम करते-करते ऐसे ही विनाशकारी, कर्णभेदी विस्फोट की आवाज़ सुनकर वह सुन्न-सा हो गया था। उसी आवाज़ के साथ जहाज के पूरे इंजिन रूम में धू-धू करती हुई आग लग गई थी। उसने आग को बुझाने के भरसक प्रयास किए थे, परंतु निष्फल चेष्टाओं के बाद लपलपाती हुई आग की लपटों से अपने आप को बचाने के लिए जब तक वह बड़ी कठिनाई से एक सीढ़ी पर चढ़ के बाहर निकला तब तक उसने अपने आप को प्रायः संज्ञाहीन पाया था। दूर से क्रमशः निकट आती हुई दमकल गाड़ियों के सायरन की आवाज़ें वह अन्यमनस्क भाव से सुन पा रहा था। 'फ़ायर होज' से बरसते पानी का धुंधला-सा अहसास भी उसे हो रहा था, परंतु खुद अपने विषय में वह कुछ भी सोच नहीं सकता था। अग्निकांड पर काबू पाते पाते लगभग एक घंटा बीत गया, किंतु उसे ध्यान ही नहीं रहा कि वह समय कैसे बीता। वह कुछ भी सोचने या करने की मनःस्थिति में नहीं था, परंतु अचानक अपने हाथों में हथकड़ी पड़ते देखकर वह एकदम चौंक उठा था। संयोगपूर्ण मानव हत्या के अभियोग में उसे गिरफ्तार किया गया था। इस अग्निकांड में दस जापानी कारीगर, जो इंजिन रूम में उस समय काम कर रहे थे, मृत्यु के शिकार हो गए हैं। इस बात को सुनकर ही उसके पैरों तले की ज़मीन खिसक गई, वह बेसुध हो गया था। भला उसे कैसे विश्वास हो सकता था कि इस अप्रत्याशित अग्निकांड की वजह से दस मनुष्यों के प्राण गए होंगे? वह अपने दुर्भाग्य पर रोता रहा। जापानी पुलिस की तीखी जाँच-पड़ताल के समय भी वह केवल अपने भाग्य को ही कोसता रहा था। उसकी अंतरात्मा भी उसे प्रताड़ित कर रही थी।

यह सब कुछ छः महीने पहले हुआ था।

जापान के सासेबो बंदरगाह पर भारतीय जहाज 'बलजक' में हुए इस भयंकर अग्निकांड का पहला मुकदमा सासेबो की अदालत में ही हुआ था। कमलनाथ अपने अधीनस्थ कर्मचारी सुरेश के साथ अभियुक्त के रूप में पेश हुआ था। घर से इतनी दूर विदेश की एक अदालत में उसके भाग्य का फैसला होने वाला था! इससे पूर्व उसने अदालत का दृश्य केवल हिंदी फ़िल्मों में ही देखा था। उसने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि वह जीवन में कभी असली अदालत देखेगा—और वह भी खुद अभियुक्त की कुर्सी पर बैठकर। अदालत में तीन न्यायाधीशों के, जिनमें से मध्य में बैठने वाले बुज़ुर्ग मुख्य न्यायाधीश थे, बायीं ओर दो वकील, दायीं ओर दो सरकारी वकील बैठे थे और ठीक न्यायाधीशों के सामने उसके और सुरेश के बैठने का प्रबंध था। दोनों अभियुक्तों के पीछे दर्शकों तथा संवाददाताओं की कुर्सियाँ थीं। न्यायाधीशों का काला गाउन बिल्कुल वैसा ही था जैसा उसने प्रायः फ़िल्मों में देखा था, परंतु वैसी ज़ोर-शोर वाली बहसें नहीं थीं। फ़िल्मों में तो प्रभावशाली भाषण कला तथा नाटकीय शैली की आवश्यकता होती है, पर यहाँ अदालत की संपूर्ण कार्यवाही अत्यंत शांति से चलती रही— यह फिल्मी दुनिया जो नहीं थी। उल्लेखनीय बात केवल यह थी कि चूंकि कमलनाथ और सुरेश दोनों को जापानी भाषा नहीं आती थी, इसलिए दोनों अभियुक्तों के लिए एक दुभाषिये को रखा गया था जो उनके पास बैठकर जापानी से हिंदी में तथा हिंदी से जापानी में अनुवाद करता जाता था।

जापान के क्यूशू द्वीप के पश्चिमी तट पर स्थित सासेबो नगर जलपोत उद्योग का एक मुख्य केंद्र है। अतः यहाँ बहुत सारे विदेशी जहाज भी आते रहते हैं, इसलिए सासेबो की अदालत के मुकदमों में विदेशी अभियोगी-अभियुक्तों का होना कोई असाधारण-सी बात नहीं। वस्तुतः अंग्रेज़ी के दुभाषिये तो यहाँ कई बार नियुक्त हो चुके थे परंतु इस अदालत के इतिहास में किन्हीं भारतीयों को लेकर मुकदमा होना पहली घटना थी, विशेषकर हिंदी के लिए दुभाषिये की नियुक्ति अपने आप में एक उल्लेखनीय घटना सिद्ध हो रही थी। इस भाषा-समस्या के कारण अदालत की कार्यवाही में दुगुना समय लग रहा था और कमलनाथ जानता था कि अदालत में बैठे अधिकांश दर्शकों को इससे बोरियत भी हो रही थी। पर उस समय उसका ध्यान इस ओर नहीं गया था।

अदालत में कमलनाथ और सुरेश पर आरोप लगाते हुए पूरी दुर्घटना का विवरण प्रस्तुत करके सरकारी वकील ने कहा था—भारतीय समुद्री जहाज 'बलज़क' (45,000 टन) ने विशाखापट्टनम बंदरगाह से रवाना होने के बाद सिंगापुर, हांगकांग होते हुए जापान की विशालतम बंदरगाह योकोहामा को अपना गंतव्य बनाया था, परंतु यात्रा के दौरान ही यह योजना बनाई गई कि योकोहामा पहुँचने से पूर्व सासेबो बंदरगाह पर जहाज की मशीनों की मरम्मत और रंग-रोगन का लेप आदि करा लिया जाए, इससे जहाज-कर्मचारियों को विश्राम

भी मिल जाएगा। जहाज संबंधी सारा काम सासेबो की ही एक जानी-मानी जापानी कंपनी को सौंप दिया गया, लेकिन जहाज पुरानी मशीनों, जो खराब हो चुकी थीं, को हटाने का काम खुद 'बलजक' के कर्मचारियों को करना था। अतः जहाज के चीफ़ इंजीनियर वसंत मेहता ने इंजिन रूम में लगे पुराने जनरल सर्विस पंप को निकालने का आदेश थर्ड इंजिनियर कमलनाथ और असिस्टेंट पंप-मैन सुरेश को दिया था। इस मशीन को फर्म के साथ जोड़ने वाले छह बोल्ट-नट थे जिन्हें सामान्यतः स्पैनर से ढीला करके मशीन को हटाया जा सकता था परंतु 'बलज़क' की यह मशीन बहुत पुरानी होने के कारण उन बोल्ट-नटों में जंग लगा हुआ था। पहला और दूसरा बोल्ट-नट तो मुश्किल से खुल गए किंतु तीसरा बोल्ट-नट इतना सख्त हो चुका था कि अनेक कोशिशों पर भी नहीं खुल पा रहा था। शेष तीनों बोल्ट-नटों का भी यही हाल था। मशीन को उसी दिन हटाने का कड़ा आदेश चीफ़ इंजिनियर ने दिया हुआ था परंतु स्पैनर से बोल्ट-नटों के न खुलने से समस्या उत्पन्न हो रही थी। तब कमलनाथ ने सुरेश से कोई समाधान ढूँढने को कहा। सुरेश का सुझाव था कि गैसकटर से पिघलाकर बोल्ट-नटों को खोला जाए, परंतु न तो कमलनाथ और न ही सुरेश के पास गैसकटर था। सुरेश ने बताया कि उसने जहाज पर जापानी कर्मचारियों को गैसकटर का प्रयोग करते देखा था इसलिए वह उनसे उसे उधार ले सकेगा। हालाँकि कमलनाथ को मालूम नहीं था कि सुरेश को गैसकटर का प्रयोग करना आता है या नहीं, उसे सुरेश का सुझाव तर्क सम्मत लगा। अतः उसने अपनी सहमति दे दी। सुरेश जापानी कंपनी के कर्मचारियों से संकेतात्मक भाषा का सहारा लेकर दो गैसकटर ले आया और बोल्ट-नटों को पिघलाकर खोलने का काम वे दोनों ही करने लगे। तीसरा बोल्ट-नट जल्दी ही खुल गया लेकिन चौथे वाला इतना सख्त था कि गैसकटर के प्रयोग के बावजूद पिघलता ही नहीं था। दोनों ही गैसकटर की लौ को बहुत तेज़ करने लगे जिसके फलस्वरूप बिल्कुल लाल-लाल ज्वलंत लोहे के टुकड़े जनरल सर्विस पंप के नीचे वाले फ़र्श पर एक के बाद करके गिरने लगे। उस फ़र्श पर कई दिन से इंजिन रूम में हो रही मरम्मत की वजह से बहुत अधिक मात्रा में बिल्ज (गंदा तेल) फैला हुआ था और वह ज्वलनशील था। अभियुक्तों द्वारा गैसकटर के प्रयोग के लगभग पंद्रह मिनट बाद वही ज्वलनशील बिल्ज धीरे-धीरे गर्म होकर प्रज्वलन ताप तक पहुँच गया। तब एक भयंकर विस्फोट के साथ पूरे इंजिन रूम में आग लग गई। उस समय इंजिन रूम के दूसरी ओर बारह जापानी कर्मचारी काम कर रहे थे। उनमें से दो तो मुश्किल से भागकर बाहर निकलकर बच गए। शेष दस आदमी बाहर निकलने का रास्ता न पाकर विषाक्त कार्बन मोनोक्साइड के कारण मर गए। इसलिए दोनों अभियुक्तों का कर्त्तव्य था कि गैसकटर का प्रयोग करने के पहले जनरल सर्विस पंप के नीचे के बिल्ज को जाँच कर लेते। ऐसा नहीं किया गया अतः इस पूरी दुर्घटना के लिए अभियुक्त ही जिम्मेदार है। मृत्यु के शिकार बने सभी जापानी कर्मचारी तीस-चालीस वर्ष की आयु के थे और वे सब अपने अपने परिवार की रोज़ी-रोटी के मुख्य आधार

थे। उन परिवारों के अपार दु:ख तथा जीवन की भावी चिंताओं को देखते हुए अभियुक्तों का अपराध छोटा नहीं है— यद्यपि यह अपराध जानबूझकर नहीं किया गया था। अतः दोनों को कड़ी सजा मिलनी चाहिये। सरकारी वकील के इस बयान को सुनकर कमलनाथ पर वज्रपात सा हो गया था। उसकी गलती से ही दस व्यक्तियों की मृत्यु! उसे मालूम न था इंजिन रूम में आग लगने से पूर्व बारह जापानी कर्मचारी काम कर रहे थे। उसने अपने दुर्भाग्य को बार-बार कोसा था।

वैसे, उसके भाग्य में दु:ख ही अधिक लिखा हुआ था। कलकत्ते के एक मध्यवर्गीय बंगाली परिवार की वह इकलौती संतान था परंतु पाँच वर्ष की आयु तक पहुँचते न पहुँचते अचानक उसके पिता का देहांत हो गया था। विधवा माँ को पुत्र के भरण-पोषण में अनेक कष्ट झेलने पड़े। कलकत्ते जैसे महानगर में भी एक मध्यवर्गीय असहाय स्त्री के लिए नौकरी मिलना बहुत कठिन था। अल्प वेतन वाली छोटी-सी नौकरी मुश्किल से पाने के बाद माँ ने जी-तोड़ मेहनत की थी। वैसे भी माँ शरीर से स्वस्थ नहीं थी, इसलिए इस अतिरिक्त कठोर परिश्रम के कारण वह प्रायः बीमार हो जाती थी। फिर भी उसकी प्रबल इच्छा थी कि कमलनाथ यूनिवर्सिटी पास करे। किंतु माँ की दिन-प्रतिदिन बढ़ती कठिनाइयों को कमलनाथ देख न सकता था। वह जल्दी ही खुद कमाकर माँ की परेशानियाँ दूर करना चाहता था। बचपन से ही उसे मशीनों में रुचि थी, इस लिए वह इंजिनियर बनना चाहता था। परंतु जीवन की इन कठोर वास्तविकताओं ने उसकी इच्छा को पूरा न होने दिया। उसने मैरिन इंजिनियरिंग कॉलेज में प्रवेश ले लिया नाविक बनने के इरादे से। पर माँ के विरोध को देख वह दुविधा में पड़ गया था। माँ को छोड़कर दूर विदेशों में जाने का विचार अगर एक ओर उसे कष्ट पहुँचा रहा था तो दूसरी ओर उसके कौतुहल को बढ़ावा भी देता था। दुनिया देखने की इच्छा किसे नहीं होती? परंतु उसके लिए नाविक बनने के लिए सबसे बड़ा प्रेरक कारण तनख्वाह के अतिरिक्त अच्छा भत्ता मिलने की बात भी थी। माँ के सुख-आराम के लिए चिंतित कमलनाथ के लिए यह बड़ा आकर्षण था। से ही मशीनों के प्रति आकर्षण और इंजिनियर न बन पाने की अधूरी साध ने भी उसे नाविक बनने के लिए प्रेरित किया था। अतः तीन साल मरीन इंजिनियरिंग कॉलेज में पढ़ने के बाद, जब नाविक बनकर पहली बार सागर-यात्रा पर निकला था तो माँ फूट-फूटकर रोई थी। बड़ी मुश्किल से उसने माँ को समझाया था कि वह हर साल दो बार छुट्टी लेकर कलकत्ता वापस आया करेगा और हर महीने तनख्वाह भेजा करेगा। फ़िफ़्थ (पंचम) इंजिनियर के पद से शुरू करके उसने थर्ड (तृतीय) इंजिनियर के पद पर उन्नति कर ली थी। काम अच्छी तरह सीख लिया था। जहाज पर की दुनिया बिल्कुल भारत का लघु रूप था - भिन्न-भिन्न प्रांतों की भाषा प्रायः सुनने का अवसर मिलता था लेकिन वह हिंदी या बंगला में बात करता था, पर अपने उच्च अधिकारियों के साथ अंग्रेज़ी में ही बोलता क्योंकि मशीन संबंधी पारिभाषिक शब्द अंग्रेज़ी में ही थे। उसे अपने उज्ज्वल भविष्य का विश्वास हो चला था। चीफ़

इंजिनियर बनने की उम्मीद होने लगी थी। माँ को हर सप्ताह पत्र लिखता था। माँ अपने एकाकीपन को सहन करते-करते उसके कल्याण की कामना करती थी, पर उस दुर्घटना के बाद उसने माँ को कोई पत्र नहीं लिखा। किस तरह लिखता? क्या लिख सकता था?

उसी वक़्त बचाव पक्ष के वकील की आवाज़ ने उसके ध्यान को पुनः अदालत में खींच लिया था। जापानी वकील ने कहा था--बोल्ट-नट खोलने के लिए गैसकटर का प्रयोग करने से पहले दोनों अभियुक्तों ने नीचे फ़र्श पर टार्च से देखा था कि बिल्ज नहीं था यह बात कमलनाथ बार-बार कहता आया है, इसलिए उसकी बात पर विश्वास करना चाहिये। अगर फ़र्श पर कुछ बिल्ज फैला हुआ भी हो तो उस पर चिंगारी या ज्वलंत लोहे के टुकड़े गिरने पर हर समय आग लग जाय--यह कोई आवश्यक नहीं है यानि उसमें कारण और कार्य का कोई अवश्यंभावी संबंध प्रमाणित नहीं होता। जब आग लग गई थी तो कमलनाथ ने फ़ायर होस से उसे बुझाने की कोशिश की थी परंतु फ़ायर प्लग में पानी बिल्कुल नहीं आ रहा था। घबराहट के मारे उसने फ़ायर एक्सटिंग्युशर भी गिरा दिया था पर यह तो आग लगने की आरंभिक स्थिति में ही काम आ सकता है। दुर्भाग्य यहीं तक सीमित नहीं था। आग लगते ही बिजली बंद हो गई। इस अँधेरे ने इंजिन रूम में काम कर रहे लोगों में हड़बड़ी मचा दी। इससे भी बड़ी त्रासदी यह थी कि पोर्ट-साईड (जहाज की बायीं ओर) की सीढ़ी किसी कारणवश उतरवा दी गई थी, जिसकी वजह से उन दस जापानी कर्मचारियों के बाहर निकलने का रास्ता ही बंद हो गया। ये सारे दुष्परिणाम अभियुक्तों के लिए कल्पनातीत थे। निश्चय ही इन सबके लिए जापानी कंपनी ही पूरी तरह से दोषी है। अगर बिजली बंद न होती तो कर्मचारी बच सकते थे। फ़ायर प्लग में पानी होता तो अभियुक्त खुद उसे बुझा सकते थे। और-तो-और, यों भी जहाज पर इतने लोग काम कर रहे थे, जापानी कंपनी का कर्त्तव्य था कि वहाँ एक पहरेदार को नियुक्त किया जाता, ताकि किसी भी प्रकार की सम्भावित दुर्घटना की उचित चेतावनी दी जा सकती। जलपोत उद्योग के क्षेत्र में ऐसी जानी-मानी कंपनी ने ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की थी यह बहुत आश्चर्य की बात है। अदालत में बैठे दोनों अभियुक्तों की जापानी कंपनी की कार्य कुशलता का पूरा विश्वास था परंतु आग लगने की वह दुर्घटना बिल्कुल अप्रत्याशित थी, इसलिए दोनों अभियुक्तों को इसके लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

बचाव पक्ष के वकील की इन तर्कपूर्ण एवं प्रभावशाली दलीलों को सुनकर कमलनाथ का मन उनके लिए कृतज्ञता से भर गया था। उसे अपने आप को निरपराधी सिद्ध किए जाने का भरोसा हो चला था, परंतु सरकारी वकील ने इस बार अपनी दलीलों में तर्क के साथ भावना को भी मिला दिया था। उनका कहना या दुर्घटना के छह महीने बाद भी वे दोनों उन परिवारों के यहाँ क्षमा माँगने नहीं गए जिनके प्रियजन अग्निकांड में मरे थे। इससे यह पता चलता है कि अभियुक्तों को अपने अपराध का लेशमात्र भी खेद नहीं है। अतः सज़ा और भी सख्त मिलनी चाहिये।

कमलनाथ की सरकारी वकील का यह तर्क समझ नहीं आ रहा था। उसकी राय में क्षमा माँगने का मतलब था अपना अपराध स्वीकार करना और अपराध को स्वीकार करने का मतलब उसके लिए कड़ी सजा भोगने के लिए तैयार होना था। मनुष्यता के नाते उसे शोक संतप्त परिवारों से अपार सहानुभूति थी, परंतु उनके घर जाकर क्षमा माँगने की बात वह नहीं समझ पाया था। साक्षी के तौर पर अदालत में उपस्थित हुए 'बलजक' के कैप्टन तथा चीफ़ इंजिनियर ने भी अपना दोष स्वीकार नहीं किया। कैप्टन ने कहा था कि इंजिन रूम में जितने भी काम हो रहे थे उनका इंचार्ज तो चीफ़ इंजिनियर ही था। मुख्य न्यायाधीश ने इस पर असंतोष प्रकट किया था और बार-बार कैप्टन से पूछा था कि फिर भी जहाज के कैप्टन की हैसियत से आप पूरी तरह से दुर्घटना की जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हो सकते न? कम से कम नैतिक उत्तरदायित्व तो आपका है न? परंतु कैप्टन ने अंत तक अपनी जिम्मेदारी नहीं मानी, संभवतः वह 'नैतिक जिम्मेदारी' का मतलब ही न समझा हो। चीफ़ इंजिनियर ने भी कहा था- जब काम थर्ड इंजीनियर को सौंप दिया गया था तो उसे पूरा करना उसकी ही ज़िम्मेदारी थी। इस तरह दोनों ही उच्च अधिकारी अपने आप को निर्दोष ही सिद्ध करते रहे। बचाव पक्ष के वकील ने बाद में कमलनाथ को समझाया था कि न्यायाधीश चाहते थे कि यदि कैप्टन और चीफ़ इंजीनियर अपने-अपने 'नैतिक उत्तरदायित्य' को स्वीकार कर लेते तो कमलनाथ और सुरेश के दंड की मात्रा में कटौती हो सकती थी। परंतु ऐसा कुछ नहीं हुआ था। जापानी न्याय व्यवस्था में अपना दोष मान लेने से कुछ दया भी मिल सकती थी पर कमलनाथ के लिए दोष मानने का मतलब कड़ी सजा को भी मानना था। इसलिए कमलनाथ ने अपने बयान में कहा था कि उसने जो कुछ भी किया वह चीफ़ इंजीनियर के आदेश का पालन मात्र था। सुरेश ने भी यही कहा था कि उसने थर्ड इंजीनियर की आज्ञा से ही वैसा किया था।

मुकदमे के अंत में सरकारी वकील ने अदालत से कमलनाथ के लिए तीन साल और सुरेश के लिए दो साल की क़ैद की सजा माँगी थी। सरकारी वकील की माँग को सुनकर कमलनाथ को चक्कर-सा आ गया था। उसे अपने पैरों तले की ज़मीन खिसकती-सी जान पड़ी थी। उसे तुरंत अपनी बूढ़ी माँ की याद आई थी। इस खबर को सुनकर तो शायद वह जी नहीं सकेगी, आत्महत्या ही कर लेगी। मुख्य न्यायाधीश ने निर्णय देते हुए कमलनाथ को दो साल (पर दो साल की माफ़ी) और सुरेश को डेढ़ साल (पर डेढ़ साल की माफ़ी) की क़ैद की सजा दी थी। इससे पूर्व कमलनाथ और सुरेश, वकील के सुझाव पर, उन शोक संतप्त परिवारों के सम्मुख सिर झुकाकर क्षमा माँगने भी गए थे। शायद न्यायाधीश महोदय के निर्णय पर इसका कुछ अच्छा प्रभाव ही पड़ा था। अदालत ने उन्हें निर्दोष नहीं कहा था, पर जापानी कंपनी की गलती को भी मानकर उनकी सजा माफ़ कर दी थी।

'बलज़क' के मालिकों ने अपनी ओर से केवल इतना ही किया था कि उन दोनों के लिए वकीलों को नियुक्त किया और अपने बीमे की राशि में से अग्निकांड के शिकार बने प्रत्येक

परिवार के लिए एक करोड़ येन क्षतिपूर्ति के रूप में दान दिए थे। बस इतना करके 'बलजक' अपने गंतव्य की ओर बढ़ गया था। कमलनाथ और सुरेश को सासेबो में ही छोड़ दिया गया था। वकील साहब तथा दयालु दुभाषिये की ओर से मिलने वाला ढाँढ़स तथा आश्वासन ही दोनों के लिए मन का एकमात्र सहारा था।

कमलनाथ आज घर वापस लौट रहा था, पर अब वह नाविक नहीं था। बंदरगाह पर रुके जहाज में चढ़ने और अपनी-अपनी निर्धारित सीट पर बैठने में अभी कुछ समय की देर थी। कुछ औपचारिकताओं का निर्वाह अभी शेष था। यात्रियों और जहाज कर्मचारियों की चहल-पहल के बीच गुम-सुम खड़ा कमलनाथ अपने आप को बिल्कुल अकेला अनुभव कर रहा था। भीड़ में भी अकेला। वह घर जा रहा था, पर क्या यह जाना पहले-सा ही था?

आपके पत्र

'ज्वालामुखी' का चौथा अंक प्राप्त हुआ। धन्यवाद।

'ज्वालामुखी' पत्रिका वस्तुतः हिंदी के माध्यम से पारस्परिक विचार-विमर्श, संस्कृति एवं साहित्य के आदान-प्रदान का सेतु है। यह पत्रिका निश्चय ही जापान में रह रहे हिंदी भाषी लोगों को हिंदी साहित्य का रसास्वादन कराने में सहायक सिद्ध हो सकेगी। प्रस्तुत अंक में समाविष्ट लेखों का स्तर प्रशंसनीय है। 'हिंदी कहानी में आधुनिकता का प्रतीक' नामक लेख को पढ़कर ऐसा लगता है कि यह पत्रिका भारतीय हिंदी साहित्य के शोधात्मक पक्ष की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है।

राजमणि तिवारी
केंद्रीय हिंदी निदेशालय
निदेशक

'ज्वालामुखी' के चतुर्थ अंक में प्रकाशित प्रत्येक रचना अपने आप में बेजोड़ है। समग्र रूप से देखें तो कहा जा सकता है कि चौथे अंक तक की यात्रा में ही 'ज्वालामुखी' पत्रिका अत्यंत परिपक्व एवं प्रभावशाली हो गई है।

हिंदी अधिकारी
अवधेश मोहन गुप्त
भारतीय नौवहन निगम
कलकत्ता

'एक नामंज़ूर लेख' मैंने देख लिया है। मुझे इस बात से आश्चर्य नहीं हुआ कि वह लेख कहीं छप नहीं सका। आपका यह कथन कि शराब कोई बुरी चीज़ नहीं, 'विवादग्रस्त' है। हम लोग तो भारतवर्ष में उसे बहुत बुरी चीज़ मानते हैं। महात्मा गाँधी जी ने उसके खिलाफ बहुत लिखा था। हमारी स्वदेशी सरकार भी शराब बंदी नहीं कर सकी। स्वयं मेरे नगर फ़िरोजाबाद में उसकी कितनी ही दुकानें हैं।

श्री आकिरा ताकाहाशि का व्यंग्य निस्संदेह बहुत उच्चकोटि का है

बनारसीदास चतुर्वेदी

आपके द्वारा प्रेषित 'ज्वालामुखी' ने मेरे अन्तःकरण में उल्लास की विलक्षण ज्वाला का सर्जन किया है। हमारे लिए अत्यंत उत्साहवर्द्धक भी है।

संभव है कि पत्रिका में लिखित सभी बातों से हम में से कुछ लोग कदाचित सहमत न हों, किंतु इससे बढ़कर प्रसन्नता की बात क्या हो सकती है कि जापानी लोगों द्वारा लिखित यह पत्रिका हिंदी भाषा और साहित्य की ऐसी अनुपम सेवा कर रही है।

डॉ० रामकरण शर्मा
संयुक्त शिक्षा सलाहकार
शिक्षा तथा संस्कृति मंत्रालय

मुझे जापान में प्रकाशित हिंदी पत्रिका 'ज्वालामुखी' को देखने का अवसर मिला है। इसके लेखक और संपादक सभी जापानी हैं। उनकी अभिव्यक्ति तो ज़ोरदार है ही।

जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी
सदस्य केंद्रीय हिंदी समिति

'ज्वालामुखी' मिला, धन्यवाद।

उचिदा जी का लेख बहुत रोचक था। उनका व्यक्तित्व खूब उभर आता है। आशा करता हूँ कि ज़्यादा-से-ज़्यादा भारतीय लोग उनका लेख पढ़ें।

कहानी और लेखक की तटस्थता के बारे में सुज़ुकि जी ने जो चर्चा की, वे सब ठीक लगती हैं।

हिदेआकि इशिदा
तोक्यो, जापान

'इंडियन--जैपनीज़ भाई-भाई' व्यंग्य लेख बहुत ही सुंदर और सत्यता से परिपूर्ण है। वस्तुतः भारत में हिंदी का यही रूप रह गया है। डॉ० तोमिओ मिज़ोकामि का लेख 'ओसाका में ग्रीष्मकालीन पंजाबी गहन पाठ्यक्रम' पढ़कर मुझे नई जानकारी हुई है।

डॉ० त्रिलोकीनाथ वजवाल
मथुरा

गत वर्ष मैंने उड़ीसा के गाँव की यात्रा की। वहाँ के एक गाँव में 'ज्वालामुखी' नामक मंदिर मिला। मंदिर का नाम सुनकर आपकी पत्रिका की याद आई और उस मंदिर के पुजारी से पूजा भी करायी थी।

डॉ० मासातोशि कोनिशि
रिक्कयो विश्वविद्यालय
जापान

पत्रिका के लेख पढ़े। हिंदी-जापानी मित्रता संघ नामक लेख द्वारा लेखक ने काफ़ी सटीक व्यंग्य किया है तथा लेख हम भारतीयों की आँख खोलने वाला सिद्ध हो सकता है। यदि पत्रिका में लेखों की संख्या और बढ़ा दी जाय तो बहुत अच्छा रहे।

रोहिताश्व कुमार अग्रवाल
आगरा

इस अंक में विशेष रूप से उल्लेखनीय 'इंडियन जैपनीज़ भाई भाई' व्यंग्य रचना बहुत ही रोचक प्रतीत होती है। लेखक एक बेमिसाल वास्तविकता का रेखाचित्र खींचने में सफल रहा।

एस० के० राय
कलकत्ता

इस अंक की सामग्री पढ़ गया हूँ। 'भिक्षावृत्ति' की दृष्टि से हिंदी कहानी को समझने-समझाने की आपकी कोशिश दिलचस्प है। आकिरा ताकाहाशि का व्यंग्य मुझे बेहद अच्छा लगा। बहुत ही सहज ढंग से लेखक ने 'हिंदी प्रेमी' हिन्दुस्तानी की अंग्रेज़ी दासता पर व्यंग्य किया है। आकियो ताकामुरा की छोटी-सी भेंट वार्ताओं पर आधारित टिप्पणी 'छह अगस्त 1983 हिरोशिमा में' मानव में बसे दरिंदे का रूप सामने ले आती है।

कुल मिलाकर अंक अच्छा बन पड़ा है। विशेष रूप से यह देखते हुए कि इसके लेखक विदेशी हिंदी प्रेमी है।

दिविक रमेश
कवि, नई दिल्ली

'ज्वालामुखी' पत्रिका का चौथा अंक देखा। जापानी लोगों द्वारा लिखित यह पत्रिका मुझे अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय लगी। रचनाओं का चयन एवं संपादन ही श्रेष्ठ नहीं, इसके पीछे एक विजन दृष्टि भी है, एक मिशन भी

हिमांशु जोशी
लेखक, नई दिल्लो

संपादक की ओर से

'ज्वालामुखी' के चौथे अंक पर कई लोगों से प्रतिक्रियाएँ मिलीं। इसके लिए बहुत धन्यवाद। चौथे अंक में श्री आकिरा ताकाहाशि का व्यंग्य लेख बहुत पसंद किया गया एवं विवादास्पद भी रहा। लेखक के अनुसार उस लेख का अभिप्राय भारतीय जीवन-दर्शन या संस्कृति पर आक्षेप करना नहीं था वरन हिंदी की आज की स्थिति पर व्यंग्य करना था, परंतु कुछ लोग लेख के अभिप्राय को भारतीय जीवन दर्शन या संस्कृति पर आक्रोश करने वाला लेख समझे थे। कदापि ऐसा नहीं है। व्यंग्य लेखन कभी-कभी पाठकों को भ्रम में भी डाल देता है।

यह पत्रिका आपकी कोई भी प्रतिक्रिया का स्वागत करती है।

चाय पी लो, मिठाई ले लो

योशिको ओगावा

मुझे दिल्ली आए एक साल हुआ है। यहाँ के लोगों से मेल-जोल करते हुए मुझे कई दिलचस्प बातें दिखाई दीं।

एक दिन मैं उस सहेली के घर गई जिसके पति और तीन बेटे हैं। मैं कमरे में बैठकर उसके तीन बेटों से बातें कर रही थी। मेरी सहेली ने चाय और मिठाई लाकर मेरे सामने की मेज पर रखी और उसने कहा कि चाय ले लो, मिठाई ले लो। तब मैंने शुक्रिया कहकर एक मिठाई खा ली। उसके तीन बेटों की नज़रें मेरी तरफ थीं। फिर मेरी सहेली ने मिठाई की प्लेट मेरे सामने बढ़ाते हुए कहा, "एक और ले लो।" मैंने सीधे एक और मिठाई खा ली तब फिर तीनों बेटों की नज़रें मेरी तरफ फिर मुड़ी। उस समय उस घर में एक और मेहमान आया। जब मेरी सहेली ने उस मेहमान की ओर भी मिठाई की प्लेट बढ़ाते हुए कहा, "आप यह ले लीजिए।" तब उस मेहमान ने प्लेट हाथ में लेकर तीन बेटों की ओर बढ़ाते हुए कहा, "ले लो।" तीनों बेटों की आँखें चमक उठीं और तीनों ने शर्माते हुए एक-एक मिठाई लेकर खा ली। उस मेहमान ने मेरी सहेली की ओर भी प्लेट बढ़ाते हुए कहा, "ले लो।" लेकिन मेरी सहेली ने "नहीं, नहीं, आप ले लीजिए" कहकर प्लेट उसकी ओर ठेल दी। तब वह मेहमान मिठाई खाने लगा।

इस सारी घटना को देखकर मुझे पता चला कि चाहे मेहमान हो, पहले मेजबान के बच्चों को खिलाकर फिर स्वयं खाना चाहिए। यह मुझे बहुत अजीब लगा क्योंकि जापान में कोई मेहमान चाय या मिठाई जो मेजबान ने दी हो, उसकी प्लेट हाथ में लेकर मेजबान के बच्चों की ओर बढ़ाते हुए 'ले लो' कभी नहीं कहते। अगर मेहमान ऐसा कहे तो मेजबान को शायद अच्छा भी न लगे। और हो सकता है मेजबान अपने बच्चों को वह मिठाई लेने से मना करे।

दूसरे दिन फिर जब मैं अपनी सहेली के यहाँ बैठकर बातें कर रही थी तब उसकी पड़ोसिन आई। मेरी सहली बौर वह गपशप करने लगीं। काफ़ी समय बीत गया। जब वह पड़ोसिन विदा लेने लगी तब मेरी सहेली ने कहा, "अरे, जाओगी? अभी चाय बनाती हूँ, चाय पी लो जी।" पर वह पड़ोसिन "नहीं, नहीं, मैं जा रही हूँ।" कहकर चली गई। मैं इस बात को सुनकर ऐसा समझी कि 'चाय पी लो' में चाय पिलाने का अर्थ नहीं है, बल्कि इस बात का अर्थ 'जाइए, नमस्कार' है।

जापान में कई क्षेत्रों के लोग 'जाइए, नमस्कार' की जगह 'नाश्ता कीजिए' कहते हैं। अगर कोई मेहमान इस बात को सचमुच मानकर नाश्ता करे तो लोग कहेंगे कि वह मूर्ख है और उसको मेहमान के रूप में कभी नहीं बुलाया जाएगा। ऊपर लिखी हुई घटनाएँ छोटी-छोटी हैं। लेकिन वे मुझे बहुत दिलचस्प लगती हैं। मुझे आशा है कि और ज़्यादा ऐसी दिलचस्प बातें मिलेंगी।

जापानी साहित्य की प्रवृत्तियाँ (3)

शिगेओ अराकि

क्रांतिकारी साहित्य के नाम पर मजदूर साहित्य आंदोलन शुरू हो गया था पर वह आंदोलन सन् 1910 के कोतोकु षडयंत्र कांड (देखें 'ज्वालामुखी' अंक 2, पृष्ठ 21) के बाद धीमा पड़ने लगा। परंतु पूँजीवाद और मुद्रास्फीति के कारण साधारण जनता के दैनिक जीवन में तंगी आने लगी और जनता के मन में असंतोष की भावना उभर कर सामने आई। कई जगहों पर कई कारखानों में हड़ताल शुरू हो गई। इस समय रूस में समाजवादी सरकार स्थापित की गई थी और जर्मनी में क्रांतिकारी आंदोलन चरम सीमा तक पहुँच गया था। उन अंतर्राष्ट्रीय गतिविधियों को नज़र में रखते हुए जापान के बुद्धिजीवियों ने महसूस किया कि वर्ग-संघर्ष सफल बनाने के लिए तर्क-संगत अध्ययन की आवश्यकता है। रूस या जर्मनी के आंदोलन से प्रभावित होकर जापानी मजदूर भी सोचने लगा कि जापान में भी क्रांति का जमाना आ गया है। साहित्यकार ताकेओ आरिशिमा मजदूरों के हितों के लिए लिखते थे परंतु इस ईमानदार लेखक आरिशिमा ने अपने अंतर्विरोध से मुक्त होने के लिए आत्महत्या कर ली। उनका अंतर्विरोध यह था कि अमीर वर्ग के लेखक मजदूरों के प्रति सहानुभूति दिखाकर मजदूरों के हितों के लिए लिख सकते हैं पर मजदूरों के निकट तक उतरकर मजदूरों की तरह नहीं जी सकते। मजदूरों की तरह काम नहीं कर सकते। ऐसे में वे कैसे मजदूरों के सही मन को समझ सकते हैं।

सन् 1921 में प्रकाशित पत्रिका 'तानेमाकुहितो' (बीज बोने वाला) जापान की प्रथम समाजवादी के साहित्यिक पत्रिका थी। यह साहित्य से ज़्यादा समाजवादी विचार के प्रचार प्रसार की पत्रिका थी। यह रूस के साम्यवादी दल संबंधित साहित्यिक पत्रिका थी।

जब सन् 1923 में तोक्यो में भयंकर भूकंप आया, इससे हजारों लोग मर गए और लाखों लोग बेघर हो गए। इस घटना के दौरान असामाजिक तत्वों ने तरह-तरह की अफ़वाहें फैलाई कि भूकंप का कारण समाजवादी समर्थक थे और जापान में बसे हुए कोरियाई लोगों ने भूकंप के मौके पर आग लगाई आदि-आदि। जापानी पूँजीवादी सरकार ने भी इस मौके पर साम्यवादी दल एवं समाजवादी दल को भंग करने के लिए तरह-तरह के षडयंत्र रचे। इसी कारण समाजवादी पत्रिका का प्रकाशन बंद करना पड़ा। ऐसी परिस्थिति में भी समाजवादी साहित्यकार एवं संस्कृतिकर्मी संघर्ष करते रहे। पत्रिका 'बीज बोने वाला' के लेखकों ने सन् 1924 में जापानी मजदूर साहित्य संघ बनाया और साहित्यिक पत्रिका 'बुनगेई सेन- सेन' (साहित्य का मोर्चा) को प्रकाशित किया। इस संघ में कई विचार के लोग शामिल थे,

मार्क्सवादी, अनार्कोस्ट, Syndicatist, ईसाई, समाजवादी आदि इस संघ ने परंपरागत जापानी सामंतवादी समाज व्यवस्था पर आपत्ति व्यक्त की परंतु इस संघ के सदस्यों के विचारों में मतभेद के कारण संघ असफल रहा। फिर भी इस संघ के आंदोलन की संघर्ष शीलता ने जापान की जनता को काफ़ी प्रभावित किया। सन 1926 में 'साहित्य मोर्चा' के आलोचक सुएकिचि आओनो ने 'स्वाभाविक प्रगति और चेतना' शीर्षक निबंध लिखकर मजदूर साहित्य के उद्देश्य को स्पष्ट किया। उनके विचार में मजदूर साहित्य मजदूरों की कठोर परिस्थितियों से स्वाभाविक रूप से उभरा हुआ साहित्य हैं, इसलिए मजदूर साहित्य राजनैतिक क्रांति के लिए होना चाहिए। मजदूर साहित्य आंदोलन सिर्फ़ मार्क्सवादी साहित्य आंदोलन होना चाहिए। आओनो ने कहा कि मजदूर साहित्यकार, मजदूरों की ज़िंदगी को चित्रित कर संतुष्ट हो जाते हैं पर यह लेखक का व्यक्तिगत संतोष है मजदूर संतोष नहीं है। मजदूर साहित्य ऐसा होना चाहिए कि जिसमें लेखकों के मन में वर्ग व्यवस्था के प्रति विरोधी भावना व्यक्त हो और उसका साहित्य मजदूरों के हितों के लिए हो। मजदूर साहित्य मजदूर वर्ग की मुक्ति का मोर्चा है। मजदूरों की मुक्ति राजनैतिक है, इसलिए मजदूरों का साहित्य राजनैतिक अवश्य है। आओनो की दृष्टि में समाज वर्ग संघर्ष का मैदान था। आओनो का साहित्यिक सिद्धांत मार्क्सवादी था। आओनो के निबंध से प्रभावित मजदूर साहित्यकारों ने इस युग में 'सृजनात्मक कार्य किया।

इस युग में योशिकि हायामा का 'उमि नि इकुरु हितोबितो' ('नाविक' सन् 1924) उल्लेखनीय है। इसमें कठोर परिस्थिति के नाविक के ज़िंदगी और संघर्ष का चित्रण है।

"जाड़े का दिन था बर्फ़ तेज़ पड़ने लगी। खराब मौसम के कारण जहाज की रवानगी स्थगित होनी चाहिए थी पर जहाज समुद्र की ओर रवाना हो गया। जहाज में एक नाविक बीमार पड़ गया पर जहाज के कप्तान ने उसे दवाई देने से इंकार कर दिया। उधर समुद्र में खराब मौसम के कारण एक जहाज डूब रहा था और लालटेन से रक्षा के लिए इशारा कर रहा था नाविक ने उसे बचाना चाहा पर कप्तान ने उसे इशारे की उपेक्षा करने को कहा। इस तरह की अमानवीय विचार वाले कप्तान पर जहाज के नाविकों का क्रोध केंद्रित हुआ। जहाज बंदरगाह पहुँचते ही नाविकों की हड़ताल हुई। जब तक नाविकों की हड़ताल ज़ारी रहेगी तब तक जहाज रवाना नहीं हो सकता, इस विचार से कप्तान ने नाविकों की माँगों को स्वीकार कर लिया। देखने मैं तो नाविकों की हड़ताल सफल हो गई। नाविकों ने खुशी में भरकर जहाज रवाना कर दिया पर अगले बंदरगाह में पुलिस उन नाविकों को गिरफ्तार करने के लिए तैयार खड़ी थी।"

इस कहानी के लेखक हायामा को स्वयं नाविक जीवन का अनुभव था, इसके अलावा हायामा ने रेल में, सीमेंट कारखाने में, किताब की दुकान में नौकरी भी की थी और नौकरी करते वक़्त मजदूर आंदोलन में भाग लेकर दो बार जेल यात्रा कर चुके थे। यह कहानी और

'इन्बाइफु' ('वेश्या' सन् 1924) नाम की कहानी उन्होंने जेल में ही लिखी। इसके बाद हायामा ने 'सेमेन्तो दारु नो नाकानो तेगामि' ('सीमेंट के डिब्बे में एक चिट्ठी' सन् 1926) में लिखी। लेखक के विचारों में अराजकतावाद और समाजवाद आदि का विचित्र मिश्रण था। इसलिए बाद में वे राजनीतिक विचारधारा से संबंधित मजदूर साहित्य आंदोलन से अलग हो गए।

देन्जि कुरोशिमा भी 'साहित्य का मोर्चा' के प्रमुख लेखक थे। उनका उज़ुमा कारासु नो मु ('कौए की भीड़' मन् 1928) साइबेरिया में सैनिक के रूप में रहने के अनुभव के आधार पर लिखी गई युद्ध विरोधी कहानी है। बर्फ़ से घिरे साइबेरिया में रूस के सुखमय परिवार को देखकर जापानी सैनिक के मन में अपने देश के परिवार का स्मरण आता है। सुख क्या है? पर युद्ध में मर जाना ही उस सैनिक का भविष्य है। लेखक ने साइबेरिया के कठोर प्राकृतिक वातावरण को अच्छी तरह अभिव्यक्त किया और उस अभिव्यक्ति से युद्ध विरोधी सैनिक का मनोभाव भी पाठक के सामने उभर कर आता है। इसके बाद कुरोशिमा ने 'बुसोसेक शिगाई' ('शस्त्र शहर सन् 1930) प्रकाशित की वह भी युद्ध-विरोधी कहानी थी, इसलिए इसे सत्ता द्वारा जब्त कर दिया गया था।

सन् 1926 से 28 के दौरान जापानी मजदूर साहित्य आंदोलन में विभाजन और एकता का सिलसिला चलता रहा और जापान मजदूर साहित्य आखिर मार्क्सवादी साहित्यकारों का अखिल मजदूर कला संघ और यथार्थवादी मजदूर साहित्यकारों के मजदूर किसान कलाकार संघ में विभाजित हुआ।

अखिल मजदूर कला संघ पत्रिका 'सेन्कि' ('संघर्ष का झंडा') और मजदूर किसान कलाकार संघ 'बुनगाकु नो सेन सेन' ('साहित्य का मोर्चा') प्रकाशित करते थे। अखिल मजदूर कला संघ के अधिकांश सदस्य विश्वविद्यालय से स्नातक की उपाधि प्राप्त करने वाले उस जमाने के प्रगतिशील बुद्धिजीवी नवयुवक थे। उन लोगों ने जापानी साम्यवादी नीति के अनुसार समाजवादी क्रांति को सफल बनाने के लिए सक्रिय कार्य किया। उन लोगों के लिए साहित्य क्रांति का एक साधन था फिर भी उन लोगों ने साहित्य को क्रांति का नारेबाज़ी साहित्य नहीं माना। उन लोगों ने साहित्य में कला और राजनीति के समन्वय की खोज और सृजन किया। साहित्य आंदोलन ही उन लोगों का कार्य नहीं था, बल्कि उस जमाने के शिक्षित लोगों की करनी और कथनी के अंतर को मिटाने के लिए समाज सेवा का कार्य भी उन लोगों ने किया।

अखिल मजदूर कला संघ के प्रमुख लेखक सुनाओ तोकुनागा, ताकिजि कोबायाशि, शिगेहारु नाकानो थे। तोकुनागा को छापेखाने की हड़ताल से संबंधित होने के कारण नौकरी से निकाल दिया गया था। उसके अनुभव पर तोकुनागा ने "ताइयो नो नाइ माचि' ('बिना सूरज का शहर' सन् 1929) लिखी। ताकिञ्चि कोबायाशि '15 मार्च सन् 1928' लिखकर

साहित्य जगत में आए। यह कहानी जापानी साम्यवाद दल पर सत्ता के दबाव को लेकर लिखी गई थी। यह कहानी अखिल कला मजदूर संघ की पत्रिका 'संघर्ष का झंडा' में छपी थी। उसे सत्ता द्वारा जब्त किया गया था पर भूमिगत रूप में उनकी कहानी को लोकप्रियता मिली। लेखक कोबायाशि ने मजदूरों की दृष्टि से और वामपंथी समाजकर्मी की दृष्टि से यथार्थपूर्ण चित्रण किया था और चित्रण के पीछे आने वाले कल के मजदूरों के, पीड़ित लोगों की मुक्ति के लिए आशा की किरण दिखायी! कोबायाशि की प्रसिद्ध कहानी 'कानीको सेन' ('डिब्बा बंद केंकड़ा कारखाना नौका' सन् 1929) में नौका में काम करने वाले मजदूरों का संघर्ष चित्रित किया गया है। इसमें लेखक कोबायाशि ने मजदूरों का संघर्ष चित्रित करते हुए पूँजीवादी में प्रकाशित की गई थी परंतु उसे भी जब्त कर लिया गया था। लेखक कोबायाशि बाद में साम्यवादी दल के शासन, अमीर वर्ग, सेना के संबंधों की आलोचना भी की। यह कहानी भी 'संघर्ष का झंडा' में धारावाहिक रूप सदस्य बन गए और पार्टी का सांस्कृतिक कार्य करते हुए भी दूसरे नाम से कहानी या आलोचना लिखते रहे। 'तो सेकात्सुशा' ('पार्टी कामरेड सन् 1933) लिखने के बाद पुलिस ने उन्हें पकड़ लिया और पुलिस के अत्याचार के कारण लेखक कोबायाशि स्वर्गवासी हो गए।

'का' ('वसंत की हवा') ज़ोर किसान संस्कृतिकर्मी के संस्मरण द्वारा सामंतवादी परिस्थिति की आलोचनात्मक लेखक शिगेहारु नाकानो ने सन् 1928 में साम्यवाद दबाव कांड को लेकर कहानी 'हारुसाकि नो कहानी 'तेत्सु की कथा' (सन् 1929) लिखी। लेखक नाकानो पत्रिका 'संघर्ष का झंडा' के प्रमुख आलोचक भी थे। उनके साहित्यिक विचार दूसरे लोगों से भिन्न थे।

साहित्य जनता को जागृत करने के साधन से पहले स्वयं उच्च स्तर का साहित्य हो। उन्होंने मार्क्सवादी विचार और जापानी परंपरागत साहित्य के मिश्रण से जापान की ज़मीन में एक नया साहित्य रचने का श्री सन् 1933 से 34 में सत्ता के दबाव से अत्याचार से वामपंथी दल के कई नेताओं ने मार्क्सवादी विचार को छोड़ दिया। इस घटना ने मार्क्सवादी समर्थकों, शिक्षित लोगों को चकित कर दिया, परंतु दल-बदल के कई कारण हो सकते हैं। नाकानो ने अपने विचार के परिवर्तन को जापानी परंपरागत विचार से अभिव्यक्त कर कहानी 'मुरा नो इए' ('गाँव का घर' सन् 1935) लिखी और 'उता नो वाकारे' ('कविता से विदा' सन् 1939) और 'कूसोका तो शिनारिओ' ('कल्पनाकार और नाटक') लिखकर उस युग के अंतर्विरोधों को चित्रित किया। नाकानो की ईमानदार अभिव्यक्ति के प्रति ग़ैर-साम्यवादी साहित्यकार और उस युग के बुद्धिजीवी भी उनका आदर करते थे।

दूसरे महायुद्ध के बाद नाकानो ने प्रगतिशील साहित्य संघ 'शिन् निहोन बुनगाकु काई' ('नया जापानी साहित्य संघ') बनाने में बड़ी भूमिका निभाई।

मजदूर साहित्य आंदोलन में कुछ महिला साहित्यकार भी शामिल थीं। यह महिला साहित्यकार अधिकांशतः आंदोलनकर्ताओं की पत्नी थीं। श्रीमती इनेको साता, श्रीमती साकाए त्सुबोई, श्रीमती युरिको मियामोतो, श्रीमती ताएको हिराबायाशि, और श्रीमती फुमिको हायाशि प्रमुख हैं। उन महिला साहित्यकारों ने अपने पति की मदद करने के साथ उस कठोर जीवन को महिलाओं की दृष्टि से चित्रित किया। इस मजदूर साहित्य आंदोलन ने इस युग के बुद्धिजीवी और साहित्यकारों को काफ़ी प्रभावित किया था परंतु इस साहित्य आंदोलन पर भी सत्ता ने दबाव डाला। इस दबाव एवं हस्तक्षेप के कारण सन् 1934 में मजदूर साहित्य आंदोलन खत्म हो गया।

2.

मजदूर साहित्य आंदोलन खत्म होने के बाद का साहित्य पराजय और निराशा का साहित्य कहा जा सकता है। प्रगतिशील साहित्यकार संघर्ष की पराजय महसूस कर रहे थे और अकेलापन भी महसूस कर रहे थे। इस पराजय और अकेलेपन में तरह-तरह के साहित्य का सृजन हुआ। पराजय को लेकर कई कहानियाँ लिखी गई और निराशा में भी कई कहानियाँ लिखी गई। लेखक केन्साकु शिमाकि ने इस निराशा में अपना अस्तित्व खोजने का प्रयास किया। मार्क्सवादी विचार को छोड़कर दक्षिण-पंथी दल में शामिल होने वाले लेखक भी थे। फुसाओ हायाशि उनमें से प्रमुख लेखक थे। उन लोगों ने जापान रोमांसवादी साहित्य संघ बनाया। उन लोगों ने मजदूर साहित्य के पतन के बाद की गड़बड़ी में नए साहित्य की खोज की वह जापानी प्राचीन साहित्य को अपनाना था। उन लोगों ने जापानी प्राचीन साहित्य की भावना एवं जापानी 'राष्ट्रीयतावाद पर जर्मन रोमांसवाद को जोड़कर नए साहित्य की रचना का आह्वान किया और धीरे-धीरे यह साहित्य युद्ध के वातावरण में राष्ट्रवादी साहित्य बन गया। इस साहित्य का सौंदर्य बोध मृत्यु था। दूसरे महायुद्ध के दौरान जापानी सरकार ने हज़ारों, लाखों नवयुवकों को युद्ध के मैदान में भेज दिया था। उन लोगों के लिए मृत्यु ही सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि थी। देश के लिए बलिदान हो जाना ही साहित्य का सौंदर्य बोध था।

दूसरे महायुद्ध के बाद अर्थात् युद्ध में पराजय के बाद जापान का पुर्ननिर्माण प्रारंभ हुआ। पत्रकारिता में अभूतपूर्व विकास हुआ। इसके साथ-साथ जनता की ओर से साहित्य की माँग भी हुई। परंतु उस वक़्त तक जनता की माँगों को पूरा करने के लिए साहित्य नहीं था। साहित्य शिक्षित लोगों के लिए था। इससे जनता की माँगों को पूरा करने का साहित्य उभर कर सामने आया। इस साहित्य में सनसनी, व्यंग्य हास्य शामिल थे। यह बहुत लोकप्रिय हुआ। उस वक़्त तक जापान में साहित्य जीवन-दर्शन का साधन माना जाता था इसलिए साहित्य में व्यंग्य, हास्य, सनसनी की कमी थी, लेकिन जनता की माँगों ने जापानी साहित्य जगत में नया विचार जोड़ दिया। जापान में शुद्ध साहित्य और इस प्रकार के मनोरंजक साहित्य में स्पष्ट भेद होता

था। शुद्ध साहित्य के लेखक कभी मनोरंजक साहित्य नहीं लिखते थे, पर मनोरंजक साहित्य की लोकप्रियता से प्रभावित होकर कई शुद्ध साहित्य के लेखकों ने शुद्ध साहित्य और मनोरंजक साहित्य का समन्वय करके कहानियाँ लिखी। यह जापानी साहित्य में मध्य साहित्य कहलाता है।

(क्रमशः)

परिशिष्ट 1

तोक्यो में एशियाई कवि सम्मेलन

गत नवंबर तोक्यो में तीन दिवसीय एशियाई कवि सम्मेलन संपन्न हुआ। इस सम्मेलन में एशियाई देशों के कई कवियों ने भाग लिया। भारत से डॉ० जयन्त महापात्र, डॉ० ओमप्रकाश भटनागर, श्री श्याम सुंदर जोशी, डॉ० चिदानन्द गौड़ा ने भाग लिया। यह सम्मेलन एक कविता प्रकाशन कंपनी द्वारा आयोजित किया गया था। इस वजह से अंतर्राष्ट्रीय कवि सम्मेलन होते हुए भी भाग लेने वाले सीमित थे। इस पत्रिका का संपादक तीसरे दिन कवि-सम्मेलन देखने गया था। उस दिन विचार-गोष्ठी होने वाली थी। शीर्षक था 'पाश्चात्य देशों और पूर्वी देशों का परस्पर संबंध-–कविता, सभ्यता और आदमी' परंतु इस गोष्ठी में हुई बात-चीत विषय से दूर रही। सिर्फ़ साधारण विचार प्रस्तुत किए गए और अनुवाद भी ठीक से नहीं हुआ। विचारों का आदान-प्रदान कुछ भी नहीं था, इसलिए गोष्ठी के अध्यक्ष को कहना ही पड़ा कि यह विचार गोष्ठी विफल रही। सिर्फ़ दोष अनुवादक का ही नहीं था बल्कि संयोजक, गोष्ठी के अध्यक्ष का भी था। अध्यक्षता वालों ने ठीक से एशियाई कवियों के नाम याद नहीं किए थे। इसलिए अध्यक्ष कभी डॉ० जयन्त महापात्र को भटनागर कहा और डॉ० भटनागर को महापात्र कहा करते थे और थाइलैंड के युवा कवि श्री पोंपाई भून को दूसरे नाम से पुकारते थे। कवि सम्मेलन में एशियाई देशों के कवियों ने कविता पाठ किया। डॉ० ओमप्रकाश भटनागर ने पहले हिंदी में कविता सुनाई और बाद में अंग्रेज़ी में कविता सुनाई। श्रीमती महापात्र ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता बंगला में सुनाई। इस कवि गोष्ठी के अवसर पर थाइलैंड के युवा कवि पोंपाई भून ने श्रीमती इन्दिरा गाँधी की हत्या पर गहरा शोक प्रकट करते हुए शोक कविता सुनाई।

संपादक सिर्फ़ एक दिन के लिए इस कवि सम्मेलन देखने गया। इसलिए एक दिन को ही देखकर प्रतिक्रिया लिखना उचित नहीं होगा, फिर भी महसूस हुआ कि इस अच्छे मौके पर और कुछ किया जा सकता था और भारत में और प्रसिद्ध कवि हैं इन्हें क्यों आमंत्रित नहीं किया गया आदि-आदि।

जापान के अधिकांश लोग कविता सिर्फ़ पढ़ते हैं, कवि कविता लिखते हैं, सुनाते नहीं। अगर हम मौके पर एशियाई देशों की कविता जापान की जनता के लिए अवगत करा सकते तो कितना अच्छा था। स्पष्ट है कि यह भी एक कविता प्रकाशन कंपनी की मेहनत से नहीं हो पाएगा।

परिशिष्ट २

सद्भावना का फल

जापानी भाषा में आधुनिक हिंदी कथा साहित्य की परिचयात्मक पुस्तक प्रकाशित

पाठकों को यह सूचित करते हुए हर्ष होता है कि इस पत्रिका का संपादक भारत के हिंदी लेखकों एवं समीक्षकों के सहयोग से जापानी लोगों के लिए आधुनिक हिंदी कथा साहित्य की परिचयात्मक पुस्तक प्रकाशित करने में संलग्न था, जिसका प्रकाशन गत वर्ष दिसंबर में हुआ। पुस्तक का प्रकाशन पाठकों के सद्भावनापूर्ण सहयोग से ही संभव हुआ। इस पुस्तक के लिए जिन लोगों ने लेख भेजे हैं उनके प्रति संपादक बहुत आभारी है। यहाँ पाठकों और लेखकों के लिए इस पुस्तक का परिचय देना उचित होगा।

पुस्तक का शीर्षक जापानी भाषा में 'गेन्दाइ हिंदी बुन्गाकु एनो शोताई' अर्थात् 'आधुनिक हिंदी साहित्य में आमंत्रण' यानी 'आधुनिक हिंदी साहित्य का परिचय' है इस पुस्तक का क्रम और लेखक इस प्रकार हैं :-

1. हिंदी साहित्य में प्रवेश	योशिअकि सुज़ुकि
2. आधुनिक हिंदी साहित्य एवं राष्ट्रीयता	डॉ० प्रेमशंकर
3. प्रेमचन्द और उनका युग	योशिअकि सुज़ुकि
4. साहित्य धारा और साहित्य आंदोलन छायावाद	योशिअकि सुज़ुकि
प्रगतिशील साहित्य आंदोलन	श्री शैलेन्द्र चौहान
प्रयोगवाद	योशिअकि सुज़ुकि
5. नई कहानी	डॉ० शम्भुनाथ सिंह
नयापन क्या है, नई कहानी में व्यक्ति,	
परंपरा एवं मूल्य,	
अनुभूति की प्रामाणिकता, नई कहानी की विशेषता,	
आधुनिकता,	
नई कहानी का परिवेश, नई कहानी की दृष्टि	
6. समकालीन हिंदी साहित्य	योशिअकि सुज़ुकि
राजनीति और साहित्य, साहित्य में जनता,	
व्यंग्य, साहित्य में धर्म एवं मृत्यु, साहित्य में भेदभाव,	

साहित्य में सेक्स, मनोरंजक कहानी,
साहित्यक पत्रिका एवं छोटी पत्रिका हिंदी 'हाइकु'

7. हिंदी महिला साहित्य	श्रीमती मृणाल पाण्डे
8. दलित साहित्य और हिंदी भक्ति साहित्य एवं दलित साहित्य, दलित साहित्य की परिभाषा दलित साहित्य का दर्शन, हिंदी प्रदेश और दलित साहित्य	डॉ० आनंद प्रकाश दीक्षित
9. साहित्यकार का दायित्व (1)	डॉ० गंगाप्रसाद विमल
10. साहित्यकार का दायित्व (2)	श्री रघुवीर सहाय
11. बाधुनिक हिंदी कथाकार परिचय	योशिअकि सुज़ुकि

अज्ञेय, अजगर वजाहत, अमरकांत, अमृतलाल नागर, इलाचंद्र जोशी, उपेन्द्रनाथ अश्क, उषा प्रियम्वदा, काशीनाथ सिंह, गजानन माधव मुक्तिबोध, कमलेश्वर, गंगाप्रसाद विमल, ज्ञानरंजन, गिरिराज किशोर, कृष्णा सोबती, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, शंकर जोशी, जैनेन्द्र कुमार, जयशंकर प्रसाद, श्रीकांत वर्मा, शिवानी, धर्मवीर भारती, दूधनाथ सिंह, धूमिल, नामवर सिंह, निर्मल वर्मा, भारतेन्दु हरिशचंद्र, हरिशंकर परसाई, बरसाने लाल चतुर्वेदी, भवानी प्रसाद मिश्र, भीष्म साहनी, हिमांशु जोशी, फणीश्वरनाथ रेवु, प्रभाकर माचवे, प्रेमचंद, मार्कण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त, मधुकर सिंह, महावीर प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, ममता कालिया, मंजुल भगत, मन्नू भंडारी, मिथिलेश्वर, मृदुला गर्ग, मृणाल पाण्डे, मोहन राकेश, यशपाल, राजेन्द्र यादव, राहुल सांकृत्यायन, रामविलास शर्मा, रामधारी सिंह दिनकर, रांगेय राघव, रवीन्द्रनाथ त्यागी, लक्ष्मी नारायण लाल, रघुवीर सहाय का परिचय दिया।

निम्नलिखित ग्रंथों से भी सहायता लीं

डॉ० बच्चन सिंह, 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास'.
डॉ० भैसकलाल गर्ग, 'स्वातन्त्र्योत्तर हिंदी कहानी में सामाजिक परिवर्तन'.
कमलेश्वर, 'नई कहानी की भूमिका' कांति मोहन 'प्रेमचन्द और अछूत समस्या'.
डॉ० नामवर सिंह, 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ'.
राजेन्द्र यादव, 'एक दुनिया समानान्तर'.
आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 'हिंदी साहित्य का इतिहास'.
डॉ० रामदरश मिश्र, 'हिंदी उपन्यास'.
S. Balu Rao (ed), 'Who's Who of Indian Writers: 1983'.

संपादक को इस भारत प्रवास के दौरान भी कई लेखकों से पुस्तकें मिली हैं वह इनके लिए धन्यवाद व्यक्त करता है।

डॉ० काशीनाथ सिंह, 'प्रतिनिधि कहानियाँ', राजकमल पेपर बैक्स.
श्री मधुकर सिंह, 'भाई', चेतना प्रकाशन.
श्री हरिहर प्रसाद, 'मधुकर सिंह की प्रतिनिधि कहानियाँ', भारती प्रकाशन.
'प्रस्ताव' अंक 6, प्रस्ताव प्रकाशन.
श्री प्रियरंजन, 'पीपल का पौधा', अनामिका प्रकाशन.
श्री राणाप्रताप सिंह, 'नई संस्कृति' ,अक्तूबर-दिसंबर अंक, 1984.
'कथांतर,' अंक 9.
श्री गोपेश परीक्षित, 'अलाव', अगस्त अंक, 1984.
श्री कंचन कुमार, 'आमुख', दिसंबर अंक, 1984.
श्री अभय देव, 'फिलहाल.'
श्री एस० बालू राव, 'इंडियन लिटरेचर', जनवरी-फरवरी, 1985.
श्री के० एस० निसार अहमद, ''चानदाना', अगस्त-अक्तूबर अंक.
श्री जितेन्द्र राठौर, 'श्रमिक शतक', प्रत्यक्ष प्रकाशन.
श्री राम तिवारी, 'दिशा कंठ', नया लेखक प्रकाशन.
श्री हिमांशु जोशी, 'अरण्य', कल्पतरु प्रकाशन.
'हिमांशु जोशी की कहानियाँ', विकास पेपर बैक्स. 'अग्निसंभव', किताब घर प्रकाशन.

इसके अलावा हमें नियमित रूप से पत्रिकाएँ मिलती हैं जैसे 'ज्ञान-विविधा', 'पहल', 'दीर्घा' एवं डॉ० विक्रम कुमार की लघु कविता। उसके लिए आभारी हैं।

इस अंक के लेखक

1. डॉ० तोमिओ मिज़ोकामि, ओसाका विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, हिंदी विभाग
   पता : 26-6, गोतेनयामा 2-चोमे, ताकाराजुका-शि, ह्योगो केन्
2. योशिको ओगावा, केंद्रीय हिंदी संस्थान, दिल्ली कैम्पस, नई दिल्ली
   पता : बी-23, गुलमोहर पार्क, नई दिल्ली
3. शिगेओ अराकि, अध्यक्ष, एशियाई सांस्कृतिक संघ,
   पता : 249-7, मोमुरा, इनागि-शि, तोक्यो
4. योशिआ कि सुज़ुकि, संपादक ‘ज्वालामुखी’
   पता : 5-9, मात्सुयामा 3-चोमे, कियोसे-शि, तोक्यो

विशेष सहयोगी

1. कैलाश चंद्र पाण्डे, वाई-81, हौज खास, नई दिल्ली
2. कु० योशिको ओगावा
3. कु० योको फुकाजावा

(छठे अंक का) संपादकीय

योशिअकि सुज़ुकि
मकर संक्रांति
14-1-1986

काफ़ी अरसे से हमारी पत्रिका के पाठक माँग करते आए हैं कि इस पत्रिका के माध्यम से जापानी साहित्य का परिचय दिया जाए। इन पाठकों के अनुरोध पर यह जापानी साहित्य विशेषांक प्रस्तुत है। इस अंक में जापानी कथा-साहित्य से अवगत कराने के साथ-साथ पाठकों के लिए विशेष रूप से जापानी कविताओं का अनुवाद भी प्रस्तुत है। इस अंक में अनुदित कविताओं के कवि और कवयित्रियाँ सभी जापानी कविता जगत में प्रसिद्ध हैं।

पाठकों के लिए यहाँ पर जापानी कविता के विषय में परिचयात्मक रूप से कुछ कहना उचित होगा। जापानी कविता जगत में हाइकु-सेंर्यू, तांका और कविता अलग-अलग विधाएँ मानी जाती हैं। अर्थात् 5. 7. 5 क्रम अक्षरों वाली लघु कविता हाइकु-सेंर्यू की एक अलग दुनिया है। 5. 7. 5. 7. 7 क्रम अक्षरों वाली लघु कविता तांका की भी अपनी अलग दुनिया है और आधुनिक कविता की एक अलग। हाइकु के रचनाकार को हाइजिन कहते हैं और तांका रचने वालों को काजिन कहते हैं। कविता लिखने वालों को शिजिन अर्थात् हिंदी के अर्थ में कवि कहेंगे। उपरोक्त हाइकु और तांका जापान की परंपरागत लघु कविताएँ हैं (इसके बारे में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के डॉ० सत्यभूषण वर्मा की हाइकु संबंधी कृतियाँ देखें)। इन परंपरागत लघु कविताओं से अलग जापानी कविता का उद्भव यूरोपीय कविताओं के अनुवाद से हुआ। यूरोपीय कविताओं के प्रभाव से उसी तर्ज की कविता की रचना होने लगी और आज भी उसमें तरह-तरह के प्रयोग हो रहे हैं। इसलिए इतना तो मानना ही होगा कि कविता भारत में जितनी जनता के बीच में लोकप्रिय है उतनी जापान में नहीं। परंतु यह कदापि नहीं समझा जाए कि जापानी साहित्य में कविता का स्थान गौण है। आज की जापानी आधुनिक कविता एक तरह के संक्रमण काल से गुज़र रही है। एक समय में 'आधुनिक कविता' 'जीवन की कविता' नाम से जनता के बीच लोकप्रिय भी हुई थी पर आर्थिक विकास के साथ-साथ अर्थात् भौतिक समृद्धि प्राप्त होने के बाद कविता का जनता के बीच में इतना प्रसार नहीं हुआ कि जितना टी०वी० जैसे प्रसार माध्यम का। परंतु इसका मतलब यह भी नहीं कि जापानी कवियों ने लिखना बंद कर दिया। कवि जापानी भाषा की विशेषताओं का प्रयोग अपनी कविताओं में करते आए हैं। छंद का प्रयोग, शब्द-क्रीड़ा का प्रयोग आदि भी होता आया है। जापान में कई विश्व स्तरीय कविताकार भी हैं जैसे सुश्री काज़ुको शिराशि

पर न जाने क्यों जनता में उतने लोकप्रिय नहीं। लेकिन यह भी सही है कि कविता व्यक्तिगत अभिव्यक्ति है इस दृष्टि से इस अंक में अनूदित जापानी कविताएँ पाठकों को कैसी लगेंगी? हम प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा में हैं।

इस अंक के लेख विशेष रूप से 'ज्वालामुखी' के लिए लिखे गए हैं। श्री साइजी माकिनो द्वारा अनूदित कहानी को छोड़कर सभी लेखों और कविताओं का अनुवाद संपादक ने किया है अनुवाद में अशुद्धियों का दोष संपादक पर होगा।

जापानी साहित्य की प्रवृत्तियाँ (4)

शिगेओ अराकि

शुद्ध साहित्य और मनोरंजक साहित्य का समन्वय जापानी साहित्य जगत में मध्य साहित्य कहलाता है। युद्ध काल में यह साहित्य बहुत लोकप्रिय हुआ। इस लोकप्रियता के पीछे जापानी समाज की आर्थिक परिस्थिति में सुधार का होना था। आर्थिक परिस्थिति के सुधार के साथ-साथ शहरों में सिनेमाघर, कैबरे, मदिरालय, कॉफ़ी हाउस आदि बड़ी संख्या में खुलने लगे। जनता एक तरफ तो युद्ध का भय महसूस करती थी, दूसरी तरफ इन आमोद के स्थानों में आनंद उठाती थी। इस समय तक जो कुछ लेखक राजनीति से संबंधित साहित्य रचते थे, वे भी मध्य साहित्य की लोकप्रियता देखकर इस रास्ते पर आ गए।

सन् 1930 के बाद साहित्य जगत में आए कुछ लेखकों का परिचय नीचे दिया जाता है।

सर्वप्रथम फुमिओ निवा का नाम उल्लेखनीय होगा। निवा ने अपनी माँ को अपनी कथाओं का पात्र बनाया और अपनी माँ की युवा अवस्था के शारीरिक सौंदर्य को कहानियों में चित्रित किया। सिर्फ़ सौंदर्य का ही नहीं, बल्कि स्त्री-पुरुष के अनैतिक संबंध का कल्पनातीत चित्रण भी किया। लेखक निवा ने न तो अपने व्यक्तिगत विचार और नैतिकता को अपनी कहानियों में व्यक्त किया, और न समाज के प्रति कोई सामाजिक-राजनैतिक दिलचस्पी ही दिखायी। उन्होंने सिर्फ़ तटस्थता से स्त्री-पुरुष के संबंध का विस्तार से चित्रण किया। इस युग में आदर्श, नैतिकता, मानवतावाद आदि का विचार लगभग शून्य हो गया था। अनैतिकता को चित्रित करने वाले निवा की रचनाओं को इस युग का प्रतीकात्मक साहित्य कहा जा सकता है। द्वितीय महायुद्ध के समय अनैतिक समझा जाने के कारण सत्ता द्वारा निवा के इस साहित्य को दबाया गया। तब वे स्त्री-पुरुष शारीरिक संबंधी कहानियों को त्यागकर युद्ध समर्थक साहित्यकार बन गए और युद्ध समाप्त होने के बाद, मध्यकाल के बौद्ध भिक्षु को पात्रों में रखकर धार्मिक उपन्यास लिखने लगे।

सेइइचि फुनाबाशि ने युद्ध से पहले माँ-बेटी के मनोभाव और संबंध को कहानियों में चित्रित किया और युद्ध काल में उन्होंने शिल्पकारों, दुकानदारों आदि की ज़िंदगी को कहानी में ढाला। द्वितीय महायुद्ध के बाद जब प्रेम संबंधी साहित्य व्यापक रूप से समाज में स्वीकार किया जाने लगा तब उन्होंने कहानियों में वस्तुपूजा (Fetishism) को लाकर सैक्स संबंधी साहित्य का सृजन किया। उनका साहित्य विशेष रूप से अनैतिक सैक्स संबंधी साहित्य कहलाता है।

ताइजो इशिकावा ने किसी भी विचार या वाद से दूर रहकर साधारण जनता की सामाजिक नैतिकता को अपनी कहानी का आधार माना और इस आधार पर उन्होंने तटस्थता से

कहानियाँ लिखीं। युद्धपूर्व से लेकर आज तक आम जनता की दृष्टि से सामाजिक समस्याओं को चित्रित करने के कारण इशिकावा यथार्थ बादी लेखक के रूप में लोकप्रिय हुए। योजिरो इशिज़ाका का नाम भी प्रसिद्ध है। युद्ध पूर्व से लेकर युद्धोत्तर काल के बाद भी इशिज़ाका युवा लोगों की ज़िंदगी को चित्रित करते रहे। उनकी कहानियों में चित्रित मध्य वर्ग के नवयुवक हैं। उनकी कहानियों में गंभीरता कम मनोरंजन अधिक है।

इन चार लेखकों के अलावा पारिवारिक संबंधों को हास्य-विनोद में चित्रित करने वाले लेखक बुनरोकु शिशि तथा सामंतवादी युग की पृष्ठभूमि में उस समय की जनता की ज़िंदगी चित्रित करने वाले लेखक जिरो ओसारागि का नाम भी उल्लेखनीय है।

उपरोक्त साहित्यकारों का साहित्य अर्थात् मध्य साहित्य द्वितीय महायुद्ध से ही जनता के बीच में खूब लोकप्रिय हुआ। इसी कारण जापानी साहित्य की मुख्य धारा; मध्य साहित्य कहलाती है। उस समय साहित्य रचना के मूल में अथवा मूल विचार में यह होता था कि लेखक यथार्थ देखते हुए भी जनता को खुश करने की कोशिश करे अर्थात् पुस्तक बेचने के लिए पाठकों को प्राप्त करने का प्रयास करे। इससे पहले साहित्य को समाज एवं जीवन के सत्य खोजने का एक साधन माना जाता था लेकिन यह विचार मजदूर साहित्य के पतन के साथ-साथ समाप्त हो गया। इसके स्थान पर उपरोक्त मध्य साहित्य अर्थात् व्यावसायिक साहित्य का उद्भव हुआ। परंतु यहाँ यह बताना भी ज़रूरी होगा कि व्यावसायिक साहित्य के अलावा कला के लिए कलावादी साहित्य कुछ हद तक जीवित था। इस वर्ग के लेखक द्वितीय महायुद्धपूर्व में मार्क्सवादी साहित्य से प्रभावित लोग थे उन लोगों ने युद्ध के दौरान सत्ता द्वारा मार्क्सवादियों का दबाया जाना देखा था। मार्क्स वादी आंदोलन के पतन और सरकार के प्रति निराशापूर्ण अनुभवों से एक नया मार्क्सवादी लेखक उभरकर आया उन मार्क्सवादी अर्थात् कला के लिए कलावादी लेखकों में कुछ इस प्रकार हैं।

जुन ताकामि। उन्होंने कहानी में ऐसे शिक्षित लोगों के मनोभावों को चित्रित किया जिनको सत्ता के दबाव में अपने विचार बदलने पर मजबूर होना पड़ता था परंतु फिर भी वे सत्य को खोजने का प्रयत्न जारी रखते थे। युद्धकाल में ताकामि को सरकारी लेखक नियुक्त किया गया यानी ताकामि सत्ता के आलंबन में थे, यद्यपि ताकामि स्वयं मार्क्सवादी लेखक थे। अपनी कहानी के पात्र की तरह उन्हें भी अपना विचार बदलना पड़ा। सत्ता के आश्रय में होते हुए भी उन्होंने साहित्य की स्वतंत्रता का एक अपना ही रास्ता खोजा। सत्ता साहित्य के प्रभाव से डरती है, ऐसा जानते हुए भी ताकामि ने साहित्य को शक्तिहीन कहा और सत्ता के दबाव से बचते हुए साहित्य का सृजन करते रहे। युद्ध के बाद ताकामि ने परिवर्तनशील समाज के शिक्षित लोगों की दुर्बलता एवं शक्ति को उपन्यास में प्रस्तुत करते हुए मानो अपनी सारी ज़िंदगी को ही संपूर्ण रूप से चित्रित करने का प्रयास किया। इतो ने James Joyce और M. Proust की साहित्यिक विधा को अपनाकर शिक्ष लोगों के मन में छिपे अपराध भाव को

नंगा करने का प्रयास किया। युद्धकाल में इतो ने जापानी समाज को व्यंग्यात्मक दृष्टि से अभिव्यक्त किया और युद्ध समाप्ति पर उन्होंने युद्धकालीन शिक्षित लोगों के मनोभाव को चित्रित किया जो सत्ता के दबाव में जी रहे थे। इसके अलावा लेखक इतो ने आदमी का स्वार्थी स्वभाव और सैक्स के शून्यपन को भी अपनी कहानियों का मुख्य विषय बनाया।

लेखक जुन इशिकावा Andre Gide के साहित्य से प्रभावित थे। उन्होंने कठोर परिस्थिति में मनुष्य के मनोभाव के परिवर्तन का चित्रण हास्य के साथ प्रस्तुत किया। युद्धकाल में वे ऐतिहासिक उपन्यास और आलोचना लिख कर सत्ता के दबाव से बचते रहे। युद्ध के बाद उन्होंने तेजी से आने वाले सामाजिक परिवर्तन और अपरिवर्तनीय दर्शनशास्त्र के विषय पर उपन्यास लिखे।

आगो साकागुचि भी जापान में लोकप्रिय हैं। वे सत्य की खोज का और संन्यासी जीवन व्यतीत करना चाहते थे। परंतु न चाहते हुए भी कभी-कभी वे विकृत ज़िंदगी व्यतीत करते थे। संन्यासी जीवन और विकृत जीवन के अनुभवों को उन्होंने अपने साहित्य में चित्रित किया। उन्होंने युद्धकाल में सैनिकों के मृत्यु-बोध को अपने साहित्य का विषय बनाया। युद्ध के बाद नैतिकता को ध्वस्त कर पुनर्निर्माण के रास्ते को जापान के पुनरुत्थान का रास्ता माना। साकागुचि ने स्त्री-पुरुष शारीरिक संबंधों को अधिक चित्रित किया, इसी कारण वे विध्वंसवादी साहित्य के प्रमुख लेखक के रूप में जाने जाते हैं।

ओसामु दाजाइ भी आन्गो साकागुचि की तरह के विध्वंसवादी साहित्यकार हैं। वे ज़मींदार परिवार में जन्मे और युवावस्था में वामपंथी आंदोलन में शामिल हो गए, पर इस आंदोलन के बीच में ही अलग हो जाने के कारण उनके मन में गहरी चोट लगी। इस मानसिक चोट ने बार-बार उनको आत्महत्या करने के लिए प्रेरित किया। ओसामु दाजाई ने इस तरह का ध्वस्त-सा जीवन व्यतीत करते हुए मानव की दुर्बलता और परम सौंदर्य को साहित्य में खोजा। और सचमुच ही दाजाई ने अंत में आत्महत्या करके दुनिया से विदा ली।

इस संक्रमण काल में मध्य साहित्य जापानी साहित्य की प्रमुख धारा थी। पर साथ ही उपरोक्त विध्वंस वादी लेखकों का साहित्य-सृजन भी होता रहा था। विध्वंसवादी लेखक केवल सब कुछ नष्ट कर अनैतिकता का समर्थन नहीं करते थे। अनैतिकता को चित्रित करते हुए पाठकों के सामने सवाल रखते हैं कि सही नैतिकता क्या है? इसको जापानी साहित्य में कलात्मक विद्रोह कहा जाता है। जैसे पिछले अंक में कहा गया है कि जापान में मजदूर साहित्य आंदोलन लगभग समाप्त हो गया है। इस आंदोलन से प्रभावित साहित्यकारों ने इस संक्रमण काल में उल्लेखनीय रचनाएँ लिखीं।

काफू नागाइ ने 'बोकुतो किदान' (सन् 1937) में सैनिकवादी नैतिकता का विरोध करने वाली वेश्या की ज़िंदगी चित्रित की।

जुन्इचिरो तानिज़ाकि ने परंपरागत जापानी परिवेश की पृष्ठभूमि में अपने विशिष्ट सौंदर्य-संसार की रचना की। उनका साहित्य तानियाकि साहित्य कहलाता है।

शूसेइ तोकुदा ने अपने आपको तटस्थता से देखकर कहानियाँ लिखीं और तोसोन शिमाजाकि ने 10 साल लगाकर 'योआके माए' ('सुबह से पहले', सन् 1935) नाम का उपन्यास लिखा। इसमें मेइजि युग (सन् 1867 से 1912 तक) के गाँव का चित्रण है जहाँ आधुनिकीकरण के कारण परिवर्तन हो रहे हैं। उस कृति ने उन्हें जनवादी साहित्यकार के रूप में ख्याति प्रदान की।

कोजि उनो ने कलाकार के आदर्शवादी जीवन और वास्तविक जीवन के अंतर और उसकी व्यग्रता को कहानी में चित्रित किया।

नाओया शिगा ललित निबंधकार के रूप में प्रसिद्ध हैं, उन्होंने कहानियाँ, निबंध आदि लिखे हैं। उनका साहित्य उच्च शिक्षित लोगों में लोकप्रिय हुआ।

यूज़ो यामामोतो की कहानियाँ भी साहित्यिक दृष्टि से उच्च कोटि की थीं फिर भी भाषा सरल होने के कारण उनकी कहानियों ने जनता को बहुत प्रभावित किया। सरकार की दृष्टि में यूजो यामामोतो युद्ध विरोधी और प्रगतिशील लेखक थे। इस संदेह में सरकार ने कभी-कभी उनकी कहानियों को जब्त भी कर दिया था। उपरोक्त लेखक युद्धकाल से लेकर युद्ध के बाद भी अपनी साहित्यिक स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए कहानियाँ लिखते रहे।

अंत में द्वितीय महायुद्धकालीन जापानी समाज के बारे में कुछ लिखना चाहता हूँ।

जापानी साम्राज्यवादी सरकार ने सन् 1931 में चीन पर हमला किया और सन् 1941 में अमेरिका पर। इन दस सालों में जापान में सैनिक शासन तौर पर स्थापित हो चुका था और सैनिक शासन ने जापानी जनता की ज़िंदगी को भी अपने नियंत्रण में कर रखा था। विशेष तौर पर चीन पर आक्रमण का उद्देश्य चीन को अपने नियंत्रण में रख कर उसकी संपदा को लूटना और एशियाई देशों पर अपना नियंत्रण बनाना था। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए जापानी सैनिक शासन ने जनता की विचारधारा, नीति आदि को अपने नियंत्रण में रखकर युद्ध विरोधी तत्त्वों को दबा डाला था। यह नियंत्रण सिर्फ़ विचार धारा या नीति का ही नहीं था बल्कि शासन ने जनता की दैनिक उपभोग की वस्तुएँ भी अपने नियंत्रण में कर ली थीं।

सन् 1940 में साम्राज्यवादी सैनिक सरकार ने सूचना मंत्रालय की स्थापना की और इस मंत्रालय द्वारा वामपंथी, व्यक्तिवादी, स्वतंत्रतावादी तत्त्वों को गिरफ्तार किया गया। सरकार ने जापानी जनता पर देश-भक्त बनने का दबाव डाला। जनता के लिए ज़रूरी था कि वह सम्राट का सम्मान और युद्ध का समर्थन करे। केवल सरकार का निर्णय ही सब कुछ था। सरकारी नीति का विरोध करने वाले को देशद्रोही माना गया। अधिकांश जनता सरकार की नीतियों का विरोध नहीं कर सकती थी। न चाहते हुए भी सबको कट्टर राष्ट्रवाद का समर्थन करना पड़ा। मगर जनता की ज़िंदगी की कठिनाइयों में कोई सुधार नहीं हुआ। ऐसे समय में जो

लेखक जनता की ज़िंदगी का यथार्थपूर्ण चित्रण करते थे वे सैनिकवादी सरकार की नज़र में देशद्रोही थे। सूचना मंत्रालय ने काफू नागाइ, शिगेहारू नाकानो आदि के लिखने पर रोक लगा दी और दूसरी ओर तोकुदा की यथार्थवादी कहानियों, जुन्इचिरो तानिज़ाकि की कहानियों को अखबार, पत्रिकाओं में प्रकाशित करने पर प्रतिबंध लगा दिया। सरकार ने असंख्य साहित्यकारों को ज़बरदस्ती सेना में भर्ती करवा दिया और युद्ध प्रेरक कहानियाँ लिखवाने के लिए विदेश के युद्ध मैदानों में भेज दिया। उधर जापान में रह रहे लेखकों पर भी देशभक्ति साहित्य लिखने का दबाव डाला गया। चीन जापान युद्ध के दौरान जापान में लेखक, कलाकार, बुद्धिजीवियों में से कुछ युद्ध के विरोधी थे परंतु जैसे ही जापान अमेरिका युद्ध शुरू हुआ, तब लगभग सभी जापानी देशभक्त और राष्ट्रवादी बन गए। क्योंकि सभी जापानी लोगों के मन में भय मौजूद था कि युद्ध में पराजित हो जाने का मतलब होगा जापानी जाति का इस दुनिया से मिट जाना। इसलिए युद्ध के प्रति सहमति या असहमति के विचार से भी ऊपर देश और जाति पर आए संकट ने सभी जापानियों को देशभक्त बना दिया। पहले जापानी सरकार ने ब्रितानी एवं अमरीकी औपनिवेशिक शासन से एशियाई देशों को बचाने का आह्वान किया और बाद में जापानी सरकार ने खुद ही एशियाई देशों को अपने अधीन रखने की कोशिश की, साथ ही जापानी सत्ता ब्रिटेन और अमेरिका के प्रति हीन भावना से ग्रस्त थी। इस हीन भावना और असंतोष को हटाने के लिए जापानी सत्ता ने अमेरिका से युद्ध छेड़ दिया। जापानी सत्ता ने जापानी जनता को सिर्फ़ यह दिखाया कि ब्रिटेन और अमेरिका पर विजय प्राप्त करना ही युद्ध का उद्देश्य है। जापानी औपनिवेशिक शासन नीति को जनता से छिपाया गया, इस कारण इस युद्ध के प्रति आपत्ति उठाने वाले बहुत कम थे।

जापान-अमेरिका युद्ध के वक़्त जब सत्ता ने सभी लेखकों से युद्ध समर्थक बनने का आग्रह किया, इसके पड़ते ही राष्ट्रवादी लेखक देशभक्ति साहित्य का सृजन कर रहे थे लेकिन उन लेखकों के राष्ट्रवादी विचार सैनिक शासन के राष्ट्रवादी विचार से कुछ भिन्न थे। उन लोगों ने शुद्ध देशभक्ति और राष्ट्रवादिता पर विचार किया। उनके विचार में शुद्ध देशभक्ति उपनिवेशवादी शासन की देशभक्ति की परिभाषा से भिन्न थी। इसलिए वे देशभक्त होते हुए भी साम्राज्यवादी व उपनिवेशवादी शासन के खिलाफ थे।

इसके विपरीत जो पहले युद्ध विरोधी लेखन करते थे सत्ता के दमन के बाद सत्ता के आदेश के अनुसार युद्ध-समर्थक साहित्य लिखने लगे। यह जापानी साहित्यकार की कमज़ोरी कही जा सकती है। युद्ध विरोधी लेखक के लिए युद्धकाल में अपनी कहानियाँ छपवाने का कोई साधन नहीं था। जापान अमेरिका से पराजित हो रहा था और जापान आर्थिक संकट की स्थिति में भी था। उपभोग की वस्तुओं की देश भर में कमी थी। जनता को खाने-पीने की चीजें खरीदने के लिए भाग-दौड़ करनी पड़ती थी--साहित्यकार भी इसका अपवाद नहीं था। उन्हें भी आम जनता की तरह अपनी संपत्ति बेचकर खाने-पीने की चीज़ें खरीदनी पड़ीं। जापान में

अमरीकी आक्रमण होने से बच्चे शरण लेने गाँव की ओर जाने लगे। युद्ध का शिकार हमेशा जनता ही बनती है। असंख्य लोग युद्ध के शिकार हुए। युद्ध की समाप्ति की खबर मानो मृत्यु के चंगुल से निकलने की खबर थी। सबको एक बड़ी राहत का अहसास हुआ। युद्ध समाप्ति पर जापान का क्या होगा अथवा देश के भविष्य के बारे में सोचने तक का मन नहीं था। दूसरे महायुद्ध में हुई पराजय के तुरंत बाद विजेता अमेरिका ने जापान का शासन अपने नियंत्रण में ले लिया और जनतंत्र की स्थापना के लिए अमरीकी सैनिक शासन ने संविधान, दंड संहिता, नागरिक कानून आदि बना दिए। यह कानून जापानी लोगों को बिना विरोध स्वीकार करने ही पड़े। लोकतंत्र क्या है? क्या युद्ध में जीतने वाले का शासन ही लोकतंत्र है? यह सब सोचने का मन इस समय की जापानी जनता के पास नहीं था। जापानी सरकार के पराजित होने पर ही लोकतंत्र जापान में अपनाया गया। बिना क्रांति के बिना जनता के संघर्ष के। यह शायद लोगों के द्वारा खुद हासिल किया हुआ लोकतंत्र नहीं है।

युद्ध समाप्त होने पर लेखक काफू नागाइ, सुएकिचि आओनो, जुन् ताकामि आदि ने युद्धकालीन अपनी व्यक्तिगत डायरियाँ प्रकाशित कीं। ये डायरियाँ युद्ध पीड़ित जापानी साहित्यकारों के युद्धकालीन अप्रकाशित विचारों के दस्तावेज़ हैं।

द्वितीय महायुद्धोत्तर जापानी साहित्य

हिदेहिसा हिरानो

सन् 1868 के मेइजि युग से प्रारंभ हुए जापानी आधुनिकीकरण का सबसे बड़ा परिणाम सन् 1945 में द्वितीय महायुद्ध की पराजय थी।

जब जापान पहली बार युद्ध में हारा तो इस पराजय ने सत्ता ही नहीं बल्कि जापान की आम जनता को भी निराशा की अंधेरी में डाल दिया और उसे युद्ध के प्रति अपने दृष्टिकोण पर पुनर्विचार करने को मजबूर कर दिया। जापान के शहर मलबे का ढेर हो गए थे और जनता के मन में सूनापन फैल रहा था। परंतु युद्ध की पराजय के बाद साहित्य जगत में एक नई आवाज़ पैदा हुई अर्थात् एक नई पीढ़ी का जन्म हुआ। उन लोगों की आवाज़ स्पष्ट और गंभीर थी। उन लोगों ने युद्धकालीन अनुभवों को अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया। सन् 1946 में हिरोशि नोमा ने 'कुराइ ए' ('अँधेरा चित्र') प्रकाशित करके लोगों को झकझोर दिया। इसमें जापान-चीन युद्ध के प्रारंभ के एक दिन पहले का चित्रण है। उस समय विश्वविद्यालय में कुछ छात्र साम्यवादी और युद्ध-विरोधी आंदोलन छेड़ रहे थे। उस आंदोलन में भाग लेने वाले छात्रों की भावनाओं को लेखक नोमा ने विदेशी चित्रकार बुलूगेर के उदास और अंधकारमय चित्र को पृष्ठभूमि में रखकर चित्रित किया। यह उपन्यास पाठकों से प्रश्न करता है कि जब विद्रोह का परिणाम निश्चित रूप से मृत्यु है फिर भी नवयुवकों को क्रांतिकारी आंदोलन क्यों छेड़ना पड़ता है। बुलूगेर के 'अँधेरा चित्र' को देखकर लेखक को नवयुवकों के अंधकारमय भविष्य का स्मरण हो आता है। इस कहानी में भावनाओं का और सामाजिक चेतना का भरपूर चित्रण है उस समय जापान में इस प्रकार का कथा साहित्य पहली बार पाठकों के सामने पेश किया गया था यह उपन्यास खास तौर पर विश्वविद्यालय के छात्रों में लोकप्रिय हुआ। इसके बाद नोमा ने सैन्य शिविर द्वारा शिक्षाप्राप्त सैनिकों और अनपढ़ सैनिकों के आपसी सम्बन्धों को 'शिनकू चिताई' ('शून्य क्षेत्र' सन् 1952) में दर्शाया। जापान में इस कहानी ने उस समय विवाद खड़ा किया कि क्या सैन्य शिविर समाज से कटा हुआ 'शून्य क्षेत्र' है या नहीं। इसके बाद लेखक नोमा ने सन् 1947 में शुरू कर लगभग 20 साल लगाकर एक लंबा उपन्यास लिखा यह उपन्यास 'अँधेरा चित्र' का दूसरा भाग कहलाया जाने वाला उपन्यास है। उसका नाम 'सेड्नेन नो वा' ('युवा वर्ग की शृंखला') है। इसमें नगर पालिका में काम करने वाले नायक की संपूर्ण ज़िंदगी चित्रित है। दमनकालीन समय में नायक की विचारधारा युद्ध-विरोधी और क्रांतिकारी थी। नायक की दिलचस्पी जापान की अछूत जाति की समस्या में भी थी, वह बुराकु (जापानी अछूत वर्ग) मुक्ति आंदोलन का कार्यकर्ता था। उस नायक की ज़िंदगी के

माध्यम से लेखक नोमा ने नवयुवक के मनोभावों को और व्यवहार को अभिव्यक्त किया है। यह उपन्यास केवल काल्पनिक नहीं, लेखक नोमा स्वयं बुराकु मुक्ति आंदोलन के समर्थक हैं। इसलिए इस उपन्यास का चित्रण यथार्थपूर्ण है। इस उपन्यास पर नोमा को लोटस पुरस्कार मिला। वे आज भी सक्रिय रूप से समाज-सेवा और लेखन करते हैं। जहाँ एक ओर हिरोशि नोमा मध्य निम्नवर्गीय शिक्षित एवं जागृत लेखकों की दृष्टि से साहित्य सृजन करते हैं, तो दूसरी ओर रिनज़ो शिइना (सन् 1911-1973) 'शिन्या नो शुएन' ('रात का मदिरा भोज', सन् 1947) में निम्न वर्ग के लोगों की ज़िंदगी अस्तित्ववादी दृष्टि से चित्रित करते हैं। लेखक शिइना ने शुरू से अंत तक जनता के अंतर्द्वन्द को अपने साहित्य का विषय बनाया है। सन् 1951 में उन्होंने बौद्ध धर्म छोड़कर ईसाई धर्म अपनाया। उनकी कहानियों में 'च्योएकिनिन तो कोकुहाकु' ('अपराधी का वक़्तव्य', सन् 1969) भी प्रसिद्ध है।

लेखक तोशिओ शिमाओ (जन्म सन् 1917) ने भी बौद्ध धर्म से ईसाई धर्म में धर्म-परिवर्तन किया। द्वितीय महायुद्ध में शिमाओ नौ सेना के जहाज में कप्तान थे। उनके नीचे दो सौ जवान थे। उनका जहाज एक बार आक्रमण के लिए रवाना होना है और जवानों को अंतिम साँस तक युद्ध करने का आदेश होता है। यद्यपि जापानी पराजय के केवल दो दिन पहले ही शिमाओं को रवाना होने का आदेश मिला परंतु उन्होंने जवानों को रवाना होने का आदेश नहीं दिया। अर्थात् युद्ध के दौरान उन्होंने मृत्यु के निकट तक जाने का अनुभव किया। उन्होंने अपने इस अनुभव के आधार पर मृत्यु के सामने सैनिकों की मनःस्थिति को कहानी 'शुप्पात्सु वा त्सुइनि ओकोनावारे ज़ु' ('आखिर रवाना नहीं हुआ', सन् 1962) में चित्रित किया। शिमाओ की साहित्यिक शुरुआत अति यथार्थवादी कहानी 'युमेनो नाका नो निचिजो' ('सपने में दैनिक जीवन, सन् 1948) से हुई। इसके बाद पागल पति और उसकी पत्नी के बीच संबंध पर 'शिनो इबारा' (मृत्यु का कंटीला पौधा, सन् 1962) प्रकाशित हुई। इससे साहित्य जगत में उन्हें मानव के अस्तित्व की खोज करने वाले लेखक के रूप में समझा गया। देखने में उनकी कहानियाँ शुद्ध जापानी व्यक्तिगत साहित्य की परंपरा में हैं पर शिमाओ की पत्नी दक्षिण द्वीप की हैं जिससे उनका विवाह युद्धकालीन समय के संकट में हुआ। इसलिए आज के शांति के जमाने में भी लेखक के मन में युद्ध की छाया हमेशा बनी हुई है और इस भावना को लेखक अपनी कहानियों में अभिव्यक्त करते हैं।

यहाँ और एक लेखक का परिचय आवश्यक है। उनका नाम है कोबो आबे। हिरोशि नोमा, रिन्जो शिइना, तोशिओ शिमाओ ने द्वितीय महायुद्ध प्रारंभ होने से पहले अथवा युद्धकाल में साहित्य जगत में प्रवेश किया था पर कोबो आबे जापानी पराजय के समय हाई स्कूल का छात्र था। जापानी पराजय को कोबो आबे ने चीन में देखा था और सिर्फ़ पराजय ही नहीं, बल्कि जापानी साम्राज्य शासन की अराजकता, अनैतिकता को भी उन्होंने देखा। उस समय के अनुभवों को कोबो आवे ने 'ओवारिशि मिचि तो शिरबेनि' ('खत्म होने के रास्ता

का नोटिस', सन् 1948) में चित्रित किया। लेकिन यह परंपरागत जापानी साहित्य से अलग और कठिन कहानी थी, इसलिए इतनी लोकप्रिय नहीं हुई। उसके बाद उन्होंने 'कोबे' ('दीवार', सन् 1951) लिखकर सही तौर पर साहित्य में यश प्राप्त किया। यह अपना नाम, कार्ड पर लिखा अपना नाम और अपने अस्तित्व की दरार पर आधारित कहानी है 'सुनानो आन्ना' ('बालू की स्त्री', सन् 1962) कोबो आबे की सबसे प्रसिद्ध रचना है। आलसी दैनिक जीवन से भागने के लिए नायक एक गाँव पहुँच जाता है जो खाई के भीतर बालू से घिरा हुआ है। इस गाँव की स्त्री नायक को पकड़ लेती है। चारों ओर बालू की दीवार से घिरे हुए घर की छत से भी बालू गिरती रहती है। नायक से कमरे में गिरे बालू को बाहर फेंकने का काम करवाया जाता है। एक दिन वह इस गाँव से भागने की कोशिश करता है पर खाई की बालू की दीवार पार करने में असफल रहता है। नायक का दैनिक जीवन सिर्फ़ खाना खाना, सोना और बालू फेंकना ही है। आलसी जीवन से मुक्त होने के लिए इस गाँव में फंसा नायक सोचने लगा कि इस गाँव का दैनिक जीवन शहर के जीवन से अधिक आलसी दैनिक जीवन है। इस उपन्यास में चित्रित बालू का गाँव सामंती युग का प्रतीक प्रतीत होता है।

यह उपन्यास द्वितीय महायुद्धोत्तरीय साहित्य की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना कही जाती है।

हरुओ उमेज़ाकि (सन् 1915-1965) ने अपने युद्धकालीन अनुभवों को जापानी परंपरागत भावना 'मुज्यो कान्' जो अस्थायित्व भाव अनिश्चित भाव और त्याग की भावना से मिश्रित भावना है, द्वारा अभिव्यक्त किया। उनकी कहानियों में 'साकुरा जिमा' ('साकुरा द्वीप', सन् 1946) 'गेनका' ('माया', सन् 1965) प्रमुख हैं। 'साकुराजिमा' में उन्होंने युद्ध में भेजे गए सैनिक के अनुभवों और साकुरा जिमा में कैंप के अनुभव को चित्रित किया।

शोहेइ ओओओका (जन्म सन् 1919) युद्धपूर्व काल में फ्रांसीसी साहित्य के विद्वान थे। युद्ध के बाद उन्होंने युद्ध के अनुभवों को लिखकर साहित्य जगत में प्रवेश किया। उन्होंने 'नोवि' ('जंगल की आग', सन् 1948) 'फुर्योकि' ('कैदी की डायरी', सन् 1948) में अपने फिलीपींस युद्ध के अनुभवों को अभिव्यक्त किया। युद्ध की पराजय के बाद अपनी जान बचाने के लिए भागते हुए और जीवित रहने के लिए मरे हुए आदमी का माँस खाने तक का विचार लेखक ने किया था। ओओका ने सोचा हो कि शायद यह भगवान द्वारा परीक्षा है। कठिन परिस्थिति में मानवता की परीक्षा लेने का विचार जापानी साहित्य में कम था। उन्होंने उपरोक्त अनुभव पर आधारित दो कहानियाँ रचने के बाद प्रेम संबंधी कहानी 'मुसाशिनो फुजिन' ('मुसा शिनो क्षेत्र की श्रीमती जी', सन् 1950) प्रकाशित करके काफ़ी लोकप्रियता हासिल की, पर युद्ध के अनुभवों से मुक्त न होकर उन्होंने युद्ध के अनुभवों को ही विस्तार से चित्रित करने वाला उपन्यास 'रेइते सेन्कि' ('रेइते युद्ध की डायरी', सन् 1967 से 1969) लिखा।

ताइजुन ताकेदा (सन 1912-1976) चीनी साहित्य से पहले से परिचित थे। युद्धपूर्व उन्होंने चीन की ऐतिहासिक कथा 'शिकि नो सेकाइ' ('चीनी इतिहास की दुनिया', सन्

1942) प्रकाशित की। मंदिर के पुजारी के परिवार में जन्मे ताइजुन ताकेदा को चीन से लगाव था पर युद्धकाल में उन्हें एक सैनिक के तौर पर चीनी जनता से युद्ध करना पड़ा। यह दुःख अभी भी उनके मन में गहरा है। ताकेदा ने इस अनुभव से निष्कर्ष निकाला कि मानव का जीवन अंतर्द्वन्दों से भरा है। 'शिन्पान' ('निर्णय', सन् 1947) 'फूबाइका' ('An Anemophilous Flower', सन् 1953) आदि से पता चलता है कि अपने साहित्यिक विचार में वह हमेशा चीन के प्रति अपराधबोध से पीड़ित हैं।

उपरोक्त लेखकों से नई पीढ़ी में युकिओ मिशिमा (सन् 1925-1970) का नाम आता है। युवावस्था में मिशिमा ने युद्ध का अनुभव किया, तब उनके विचार में मृत्यु-बोध का विचार उभरा। उनके विचार में युद्ध ही मृत्यु का प्रतीक थी। जापानी सम्राट के लिए जान देना जापानी लोगों के जीवन का परम उद्देश्य समझा जाता था। इस विचार के माध्यम से मिशिमा ने सौंदर्य की खोज की और सौंदर्य दृष्टि और सम्राट प्रथा के बीच संबंध स्थापित करने का विचार किया। मिशिमा के लिए युद्धोत्तर काल माया की दुनिया थी। समाज तेज़ गति से बदल रहा था सम्राट जापान का सिर्फ़ प्रतीक ही माना गया। सेना का अस्तित्व सम्राट के लिए न होकर देश की आत्मरक्षा के लिए माना गया। कोई भी सैनिक सम्राट के लिए लड़ने को तैयार नहीं थे। इस जापानी सामाजिक परिस्थिति से उदास होकर सन् 1970 में मिशिमा ने आत्मरक्षा सेना के सैनिकों से सम्राट के सैनिक बन जाने का आह्वान किया और इस आह्वान के विफल होने पर मिशिमा ने आत्महत्या कर ली। जिस दिन मिशिमा ने अपने पेट को काटकर (हाराकिर) आत्महत्या की उसी दिन उन्होंने पुनर्जन्म से संबंधित लंबा उपन्यास 'होज्यो नो उमि' ('समृद्ध समुद्र', सन् 1969-1970) पूरा किया था। युकिओ मिशिमा के समकालीन एक ग्रुप है जिसका नाम 'मचिने पोएटिक' है। इस ग्रुप के लेखकों में शिन्इचिरो नाकामुरा (जन्म सन् 1918) शूइचि कातो (जन्म सन् 1919) ताकेहिको फुकुनागा (सन् 1918-1979) के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों की फ्रांसीसी साहित्य या यूरोपीय साहित्य में गहरी रुचि है और इन साहित्यों से प्रभावित होकर जापानी साहित्य पर इनका प्रभाव डालने की कोशिश करते हैं, परंतु इन लोगों के प्रयास का अब तक ठीक से मूल्यांकन नहीं हुआ है।

युद्धोत्तर संक्रमण काल में लेखकों में विचारों का आदान-प्रदान बहुत हुआ। इस आदान-प्रदान में नया जापानी साहित्य संघ और पत्रिका 'किन्दाइ बुन्गाकु' ('आधुनिक साहित्य') की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही हैं। नया जापानी साहित्य संघ के सदस्यों में से शिगेहारु नाकानो, युरिको मियामोतो, युइतो कुराहारा प्रमुख थे। वे युद्धपूर्व के मजदूर साहित्य आंदोलन से जुड़े लोग थे। इधर 'किन्दाइ बुन्गाकु' के लोग भी कुछ हद तक मजदूर साहित्य आंदोलन से संबंधित थे। इस ग्रुप के लोगों में युताका हानिया (जन्म सन् 1910), केन् हिरानो (सन् 1907 से 1978) किइचि सासाकि (जन्म सन् 1914) प्रमुख हैं। उपरोक्त ग्रुपों के भीतर मजदूर साहित्य आंदोलन का पतन, मूल्यांकन और आधुनिकता को लेकर काफ़ी तेज़ वाद-विवाद

हुआ। दोनों ग्रुपों से संबंधित अपनी आलोचनात्मक दुनिया बनाने वालों में कियोतेरु हानादा (सन् 1909-1974) हैं। उन्होंने आलोचना ही नहीं बल्कि ऐतिहासिक उपन्यासों को रच कर अपनी विशेष साहित्यिक दुनिया का निर्माण किया।

O

द्वितीय महायुद्ध की पराजय के बाद युद्धकाल में जिनसे लिखने का अवसर छीन लिया गया था उन लेखकों ने फिर से लिखना शुरू कर दिया। काफू नागाइ (सन् 1879-1959), नाओया शिगा (सन् 1883 1971), हारुओ सातो (सन् 1892-1964) जुनइचिरो तानिचाकि (सन् 1886-1965) यासुनारि कावा बाता (सन् 1899-1972) आदि। इन लेखकों में जापानी परंपरागत साहित्य अपनाने वाले जुन्इचिरो तानिज़ाकि और यासुनारि कावाबाता को छोड़कर बाक़ी लेखकों का साहित्यिक कार्य लगभग ठप हो गया। क्योंकि उन लेखकों की अभिव्यक्ति पुरानी हो गई थी और ये लेखक नए युग के सामाजिक यथार्थ को ठीक से अभिव्यक्त नहीं कर पाते थे। इन लेखकों में बचे यासुनारि कावाबाता ने भी नॉबेल पुरस्कार प्राप्त करने के चार साल बाद आत्महत्या कर ली। उपरोक्त लेखक युद्धपूर्व से युद्ध के दौरान काफ़ी प्रसिद्ध थे। इन लेखकों के आलावा युद्धोत्तर के संक्रमण काल में जो लेखक लोकप्रिय हुए उनके नाम हैं, आन्गो साकागुचि, जुन इशिकावा, ओसामु दाजाइ, साकुनोसुके ओदा। (इन लेखकों को विध्वंसक लेखक अथवा अनैतिकतावादी लेखक कहते हैं। इन लेखकों के बारे में श्री अराकि का लेख देखें।– संपादक)

O

द्वितीय महायुद्ध के बाद विश्व अमेरिकी पूँजीवाद समर्थक देशों और रूसी साम्यवाद समर्थक देशों में बाँटा गया। अमेरिका रूस शीत युद्ध यूरोप में पूर्व-पश्चिम जर्मन के मामले को लेकर और एशिया में उत्तर दक्षिण कोरिया के मामले को लेकर उत्तेजित हो गया। आखिर सन् 1950 के जून में शीत युद्ध गर्म-युद्ध में बदल गया यानी कोरिया युद्ध प्रारंभ हुआ। पड़ोसी देश कोरिया के युद्ध ने जापान को घबरा दिया कि जापान फिर युद्ध में फंसने वाला है। इस वातावरण में अखबार संवाददाता योशिए होत्ता (जन्म सन् 1918) ने इस परिस्थिति के संकट को अपने मन की आंतरिक भावना के साथ 'हिरोबा नो कोदोकु' ('मैदान का अकेलापन', सन् 1951) में चित्रित किया। इसके बाद जब नई दिल्ली में प्रथम एशियाई अफ्रीकी लेखक संघ का महा अधिवेशन हुआ तब होत्ता ने जापानी एशियाई-अफ्रीकी लेखक संघ के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। इस अधिवेशन के दौरान अनुभव की गई बातों को होत्ता ने 'इन्दो दे कान्गाएता कोतो' ('भारत में किया विचार' सन् 1957) में अभिव्यक्त किया। दीर्घकाल से योशिए होत्ता एशियाई-अफ्रीकी लेखक संघ के कार्य में सक्रिय भूमिका निभाते आ रहे हैं।

आजकल वे यूरोप खासकर स्पेन में रहकर कलाकार 'गोया' की कलात्मक आलोचना के अध्ययन में लगे हैं।

साहित्य-आलोचक, इतली साहित्य के अनुवादक मिन्पेइ सुगिउरा (जन्म सन् 1913) भी कोरिया युद्ध को लेकर चिंतित थे और साम्यवादी दल के सदस्य बन गए। इधर योशिए होत्ता अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जनतंत्र स्थापित करने का कार्य करते थे, उधर सुगिउरा गाँव की नेतागिरी व्यवस्था को तोड़कर गाँव में जनतंत्र स्थापित करना चाहते थे। सुगिउरा ने गाँव की सामाजिक समस्याओं और अमेरिकी सेना कैंप की समस्याओं को लेकर रिपोर्ताज लिखे जिनमें 'नोरिसोदा सोदोकि' ('नोरिसोदा दंगा डायरी' सन् 1952) और 'किचि 605 गो' ('कैंप नंबर 605', सन् 1953) प्रमुख हैं। साहित्यिक रचनाओं में 'शोसेत्सु वातानाबे काजान' ('उपन्यास वातानावे काजान') उनका प्रतिनिधि उपन्यास है। इसमें उन्होंने एदो युग के प्रगतिशील विचारक एवं कलाकार वातानाबे काजान की विपत्तिपूर्ण ज़िंदगी को ऐतिहासिक सचाई के साथ चित्रित किया।

मजदूर साहित्य आंदोलन से जुड़े हुए शिगेहारु नाकानो ने जापानी साम्यवादी दल के विभाजन की गड़बड़ के वक़्त भी साहित्य की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया। पहले पार्टी से जुड़े हुए साहित्य को ही साम्यवादी मजदूर साहित्य माना जाता था। नाकानो ने साहित्य की स्वतंत्रता पर बल देकर पार्टी के मैनिफेस्टो से भी स्वतंत्र होने को कहा। नाकानो ने सन् 1954 में उपन्यास 'मुरागिमो', सन् 1957 से 58 में 'नाशिनो हाना' ('नाशपाती का फूल') उपन्यास लिखे और इसके बाद आत्मकथात्मक उपन्यास 'उतानो वाकारे' ('कविता से विदा') लिखा। साम्यवादी दल से निष्कासित होने के बाद नाकानो ने उपन्यास 'को० ओत्सु ० हेइ० तेइ०' ('मार्कशीट : फर्स्ट क्लास, सेकेंड क्लास, थर्ड क्लास और फ़ेल', सन 1965 से 69) लिख दिया। इसमें जापानी क्रांतिकारी आंदोलन के प्रति क्रांतिकारी आलोचना चित्रित की है।

जापानी साम्यवादी दल के आंतरिक संघर्ष और विभाजन की गड़बड़ को लेकर मित्सुहरु इनोउए (जन्म सन् 1926) ने 'काकारोरु इश्शो' ('एक अलिखित अध्याय', सन् 1950) लिखा। इनोउए ने युवा अवस्था में कोयला खान में काम किया था जहाँ पर जापान में बसे कोरियाई लोगों का दमन और पीड़ित लोगों का दमन उन्होंने देखा था और उसका अनुभव भी किया था। इनोउए ने 'चिनो मुरे' ('भूमि की भीड़ सन् 1963) में परमाणु बम के प्रभाव से पीड़ित लोग और जापानी अछूत समस्या से पीड़ित लोगों के परस्पर विरोधों को चित्रित किया। वे निम्न वर्ग के लोगों के अंतर्द्वन्दों की उपेक्षा नहीं करते। वे पत्रिका 'हेनक्यों' ('अंचल') प्रकाशित करते हुए निम्न वर्ग के लोगों पर नज़र डालते हैं।

सन् 1953 में कोरिया युद्ध रुक गया। उस कोरिया युद्ध के दौरान जापान में आर्थिक उन्नति हुई। जापान में अमेरिकी सेना कैंप थे, पड़ोसी देश कोरिया में युद्ध के कारण लाखों अमेरिकी सैनिक जापान में आए और उन लोगों की खपत के लिए तथा युद्ध संबंधी वस्तुएँ

बनाने और बेचने के कारण आर्थिक उन्नति हुई। आर्थिक स्तर द्वितीय महायुद्धपूर्व स्तर से ऊँचा हो गया अर्थात् आर्थिक विकास हुआ। इस वक़्त साहित्य जगत में और नए लोग आए। शोतारो यामुओका (जन्म सन् 1920) शूसाकु एन्दो (जन्म सन् 1923) जुन्नोसुके योशियुकि (जन्म सन् 1929) नोबुओ कोज़िमा (जन्म सन् 1917) जुन्जो शोनो (जन्म 1921) आदि जिन्हें 'तीसरा नया लेखक' के नाम से जाना जाता है। समाज की स्थिरता को प्रतिबिंबित करते हुए इन नए लेखकों ने रोज़मर्रा की मानव संबंधी कहानियाँ लिखीं।

इस समय पाठकों की रुचि भी बदल गई। पाठकों को इन नए लेखकों की कहानियाँ पसंद आईं। इसके बाद इन लेखकों ने तरह-तरह के साहित्यिक प्रयोग करके साहित्यिक विकास में योगदान दिया। अभी भी उन लेखकों को जापानी साहित्य में प्रमुख स्थान प्राप्त है। यद्यपि इन लेखकों को नई पीढ़ी के लेखक कहा जाता है फिर भी इन लेखकों की रचनाओं में कुछ-न-कुछ द्वितीय महायुद्ध का प्रभाव दिखाई देता है। साहित्यिक दृष्टि से युद्ध के प्रभाव से बिल्कुल कटी रचना शिनतारी इशिहारा (जन्म सन् 1932) की 'ताइयो नो किसेत्सु' ('सूर्य की ऋतु', सन् 1955) है। इसमें अमीर वर्ग के नवयुवक का छात्र जीवन चित्रित है और इस कहानी में कहीं भी युद्ध की गंध नहीं है। साहित्य जगत में अमीर वर्ग के इशिहारा का आविर्भाव मध्य वर्ग के लेखकों के चौंकाने के लिए काफ़ी था। इशिहारा को देखकर 'हिनो उत्सुवा' ('दुःख का बर्तन', सन् 1962) के लेखक कात्सुकि ताकाहाशि (सन् 1931-1971) ने कहा कि उनका आविर्भाव ऐसा है मानो गंभीर चेहरा लिए चिंतन में लगे युवक के पीछे से कोई नए युग का युवक रफ्तार से तेज़ आवाज़ करते हुए मोटर साइकिल दौड़ाकर चले गए और हम उसे शून्यपन से देखते ही रहे। इशिहारा साहित्य रचने के साथ-साथ अब संसद सदस्य भी हैं। वे रुढ़िवादी लोकतंत्र दल के सदस्य हैं। कहा जा सकता है कि इशिहारा का विचार युद्ध के बाद का ही बना है। इशिहारा अन्य लेखकों से राजनैतिक और साहित्यिक दृष्टि से भी भिन्न हैं। इशिहारा युद्ध से अप्रभावित रूप में साहित्य जगत में आए पहले लेखक थे। इसके बाद इशिहारा के तरह के कई लेखक साहित्य जगत में आए। उदाहरण के लिए केन काइको का 'पनिक' ('आतंक', सन् 1957), केनजाबुरो ओओए का 'शिशा नो ओगोरि' ('मृतक का विलास', सन् 1957) आदि। केन् काइको (जन्म सन् 1930) ओसाका के लोगों की विशिष्टओं को अपने साहित्य में अभिव्यक्त किया करते हैं। उनका निप्पोन सान्मोन ओपेरा' ('तीन टके का जापानी स्वांग', सन् 1959) में शस्त्र कारखाने से चोरी करने वाला चित्रण है। यह कहानी युद्धोत्तर प्रतिनिधि कहानियों में से एक गिनी जाती है। उनके 'काको तो मिराइ नो कुनिगुनि' ('भूतकाल और भविष्य के देश', सन् 1961) में यूरोप और एशियाई देशों पर तुलनात्मक दृष्टि डाली गई है। बाद में काइको ने वियतनाम युद्ध के अनुभवों के आधार पर 'बेतोनाम सेन्कि' ('वियतनाम युद्ध की डायरी', सन् 1965) 'कागायाकेरु यामि' ('चमकता अँधेरा' सन् 1968) लिखे। इन दो उपन्यासों में उन्होंने इस युद्ध के अंतर्विरोध को चित्रित

किया। केन् काइको की तरह वियतनाम युद्ध विरोधी लेखकों की श्रेणी में माकोतो ओदा (जन्म सन् 1932) का नाम भी प्रसिद्ध है। वे भी ओसाका में जन्मे। उन्हें अमेरिकी संस्थान की छात्रवृत्ति लेकर अमेरिका के विश्वविद्यालय में अध्ययन करने का अनुभव था। अमेरिका प्रवास का अनुभव और वापसी में यूरोप और भारत होते हुए लौटने के अनुभव को 'नानदेमो मिते यारो' ('सब कुछ देख लेंगे', सन् 1961) में अभिव्यक्त किया। इस पुस्तक को आश्चर्यजनक लोकप्रियता मिली। एक मध्य-निम्न वर्ग के नव युवक का विदेश प्रवास का अनुभव एकदम ताज़ा था। उनका दृष्टिकोण एकदम अलग था जो आयातित नहीं था। खास तौर पर उन्होंने अमेरिका में और भारत में जो जातिगत समस्याओं को देखा उन्हें वे कभी भूल नहीं पाए। ओदा आज भी सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में सक्रिय हैं और साथ-ही-साथ साहित्यिक सृजन भी करते हैं। उनके सामाजिक कार्य के रूप में बे० हे० रेन (वियतनाम शांति अभियान! नागरिक संयुक्त संगठन) आंदोलन प्रसिद्ध है। ओदा अमेरिका द्वारा वियतनाम पर आक्रमण के सख्त विरोधी थे। साहित्यकार के रूप में वे आधुनिक समाज में मानव को समग्र रूप में पकड़ने का प्रयास करते हैं। उनकी ऐसी रचनाओं में 'गा तो' ('गा द्वीय', सन् 1973) और 'मारुइ हिप्पी' ('गोल हिप्पी', सन् 1977) प्रमुख हैं।

केनज़ाबुरो ओए (जन्म सन् 1935) का साहित्यिक प्रवेश राजधानी से दूर स्थित शहरों के विद्वान के रूप में हुआ। ओए ने 'हिरोशिमा नोतो' ('हिरोशिमा नोट', सन् 1965) 'ओकिनावा नोतों' ('ओकिनावा (नोट' सन् 1970) में क्रमशः परमाणु बम से पीड़ित लोगों की और ओकिनावा में औपनिवेशिक शासन की समस्या को चित्रित करते हुए मानव के अस्तित्व के सवाल को उठाया। इसके बाद ओए ने उपन्यास 'दोनिदाइ गेम' ('समकालीन खेल', सन् 1979) में आधुनिक लोक कथा के पुनर्जन्म का प्रयास किया। आयु की दृष्टि से हालाँकि शिचिरो फुकाजावा (जन्म सन् 1914) काफ़ी बुजुर्ग है उन्होंने 'नारायामा बुशिको' ('नारायामा नाम की लोककथा पर आधारित कहानी', सन् 1957) लिखकर साहित्य से प्रवेश किया। यहाँ परिचय कराए गए सभी लेखक उच्च शिक्षित हैं मगर अकेले फुकाजावा ही ऐसे लेखक हैं जो मात्र जूनियर हाईस्कूल पास हैं। उपरोक्त रचना प्रकाशित होने तक वे थियेटर में बैंड के सदस्य थे। उपरोक्त कहानी यद्यपि लोक कथा पर आधारित है फिर भी जापान की अर्थ-व्यवस्था जो पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था और लघु उद्योग व्यवस्था का मिश्रण है, के बीच दरारों के कारण पैदा हुई विसंगतियों और ज़िंदगी की कठिनाइयों का चित्रण है। इसके बाद फुकाजावा ने 'फुएफुकिगावा' ('फुएफुकि नदी', सन् 1958) लिखा जिसमें शासक और शासित लोगों के बीच परस्पर संघर्ष का चित्रण है और जापानी सम्राट पद्धति पर भी रोशनी डाली। 'फूर्यू मुतान' ('सपनों की कहानी', सन् 1960) में जब फुकाजावा ने सम्राट परिवार को सजा देने की कहानी लिखी तब दक्षिण पंथी सम्राट भक्तों ने फुकाज़ावा की जान लेने की कोशिश की। इसी कारण फुकाज़ावा को कुछ समय भूमिगत

होना पड़ा। इस घटना से लगता है कि अभी भी जापान में अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता नहीं है और साथ ही सम्राट पर लिखना अवरोधनीय समझा जाता है।

सन् 1960 में जापान में अमेरिका-जापान सुरक्षा संधि को जारी रखने को लेकर सत्ता और विपक्षी दलों के बीच गर्मा-गर्म बहस हुई। विश्वविद्यालय बंद हो गए शिक्षकों, रेल मजदूरों द्वारा हड़तालें की गई। 10 साल बाद फिर इस संधि को लेकर और वियतनाम युद्ध के विरोध में छात्र आंदोलन, मजदूर हड़ताल आदि हुई। आर्थिक दृष्टि से तो जापान विकसित होता रहा और जापान ने पूँजीवादी देशों में दूसरा स्थान प्राप्त किया।

भौतिक समृद्धि ने लोगों को भौतिकतावादी बना दिया। आज हर घर में टी०वी० है। लोग टी०वी० अधिक देखते हैं और पुस्तकें बहुत कम पढ़ने लगे हैं। नई पीढ़ी की रुचि साहित्य से ज़्यादा कार्टून कॉमिक्स में है। नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी के बीच की दरार भी एक सामाजिक समस्या है। ऐसी सामाजिक परिस्थिति में वर्तमान के जापानी साहित्य की रूपरेखा खींच पाना कठिन है। इस प्रकार की स्थिति में केन् हिरानो ने सन 1961 में 'शुद्ध साहित्य परिवर्तन सिद्धांत' लिखा और किचि सासाकि ने सन्1962 में कहा था कि युद्ध के समय का साहित्य एक माया था। साहित्य जगत में हिरानो के लेख और सासाकि के वक़्तव्य की काफ़ी चर्चा हुई। इस पृष्ठभूमि में आज के साहित्य को युद्धकालीन साहित्यिक सिद्धांतों द्वारा नहीं बाँधा जा सकता। शुद्ध साहित्य की परंपरा से जुड़े हुए लेखकों में आज भी युकिचि फुरुइ (जन्म सन् 1937) आकिओ गोतो (जन्म सन् 1936) सेन्जि कुरोइ (जन्म सन् 1932) कुनिओ ओगावा (जन्म सन् 1927) का नाम आता है। उन लेखकों को 'अंतर्मुखी पीढ़ी' कहते हैं। परंतु ये अधिकांश लेखक अपवाद हैं। आजकल प्रतिदिन असंख्य कहानियाँ प्रकाशित की जा रही है। इन कहानियों में प्रमुख धारा मनोरंजक जासूसी कहानी की धारा है। मनोरंजक जासूसी कहानीकारों में जिरो आकागावा (जन्म सन् 1948) का नाम प्रसिद्ध है। उनकी कहानियाँ लाखों में बिकती हैं। केवल शुद्ध साहित्य को ही महत्त्व देकर मनोरंजक साहित्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इधर शुद्ध साहित्य कमज़ोर पड़ता जा रहा है और उधर मनोरंजक साहित्य एवं मध्य साहित्य पाठकों की पसंद पर उन्नति करता जा रहा है। हालाँकि मनोरंजक साहित्य एकरस ही है फिर भी उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह व्यावहारिकता होगी। जासूसी कहानी के साथ-साथ सामाजिक जासूसी कहानी लिखने वाले लेखक भी मौजूद हैं। सेइचो मात्सुमोतो (जन्म सन् 1909) महज जासूसी कहानी नहीं लिखते बल्कि भ्रष्टाचार, सामाजिक घटनाओं को लेकर गंभीर जासूसी कहानियाँ लिखते हैं। उनकी कहानियों में चित्रित घटनाएँ सभी वास्तविक हैं। मात्सुमोतो सिर्फ़ सामाजिक घटनाओं पर ही जासूसी कहानियाँ नहीं लिखते, बल्कि प्राचीन जापान के इतिहास पर भी प्रकाश डालते हैं। उनका विशिष्ट ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी बहुत से लोगों को प्रभावित करता है।

उपरोक्त लेखकों के अलावा हिरोयुकि इत्सुकि, आकियुकि नोसाका, हिसाशि इनोउए के नाम भी लोकप्रिय हैं।

हिरोयुकि इत्सुकि (जन्म सन् 1932) ने 'सेइशन नो मोन' ('युवा अवस्था का दरवाजा', सन् 1972 80), 'साराबा मोसुकुवा गुरेन्ताइ' ('नमस्कार, मास्को के गुंडों, सन् 1966) आदि में आज के युग के नवयुवकों की प्रतिरोधी प्रवृत्ति को अभिव्यक्त किया।

आकियुकि नोसाका (जन्म सन् 1930) अपने आप को युद्ध के बाद के मलबे का लेखक कहते हैं। उन्होंने 'होतारू नो हाका' (सन् 1966) में युद्ध समाप्ति के बाद के जीवन के अनुभवों को चित्रित किया। वे भी इशिहारा की तरह संसद सदस्य बने पर विपक्षी दल के। इसके बाद भूतपूर्व प्रधानमंत्री तानाका के विरुद्ध तानाका के निर्वाचन क्षेत्र से चुनाव में खड़े हुए। नोसाका राजनीति में भी सक्रिय हैं।

हिसाशि इनोउए (जन्म सन् 1934) ने अपने ग़रीब छात्र जीवन को हास्य-विनोद के साथ चित्रित करना शुरू किया। उनका व्यंग्यात्मक उपन्यास 'किरिकिरि जिन' ('किरिकिरि नाम के क्षेत्र के लोग', सन् 1981) काफ़ी लोकप्रिय हुआ। इस उपन्यास में एक गाँव के जापान से स्वतंत्र होने की बात कही गई है। आज के हास्य-विनोद लेखकों में इनोउए सबसे प्रसिद्ध हैं। वे केवल हास्य-विनोद की कहानियाँ ही नहीं बल्कि नाटक भी लिखते हैं।

सातवें दशक के लेखकों में से अगर कोई नाम लेना हो तो, केन्जि नाकागामि का नाम लेना ही होगा। केन्जि नाकागामि (जन्म सन् 1946) जापानी कथा साहित्य को आधुनिक पुनर्जागरण कराने का प्रयास करते हैं और नाकागामि का ध्यान केवल जापानी समाज पर ही नहीं, बल्कि कोरिया आदि एशियाई देशों के जन-जीवन में भी उनकी गहरी रुचि रखते हैं। और आधुनिकता से अप्रदूषित एशियाई देशों की जनता में मानव के मूल स्वरूप देखने का प्रयास करते हैं। उनके उपन्यासों में 'मिसाकि' ('अंतरीय', सन् 1975), 'कारेकिनादा' ('कारेकि समुद्र', सन् 1977) और 'सेननेन नो युराकु' ('हज़ार साल का भोग', सन् 1981) प्रमुख हैं।

और एक जापानी कवि : ताकुबोकु इशिकावा

योशिअकि सुज़ुकि

सन् 1982 में बिहार के कवि श्री जितेन्द्र राठौर व जापानी महिला सुश्री कियो कुरु ने जापानी कवि केन्जि मियाज़ावा की कविताओं का हिंदी में अनुवाद कर कविता संग्रह ‘वसंत और यायावर’ नाम से प्रकाशित किया। उन लोगों के प्रयास से हिंदी प्रदेश में जापानी कवि केन्जि मियाज़ावा का परिचय हुआ। वास्तव में केन्जि मियाज़ावा की कविताएँ एवं कहानियाँ अभी भी जापान में लोकप्रिय हैं। जब जापानी लोग केन्जि मियाज़ावा की कविताओं का स्मरण करते हैं, तब स्वतः और एक अन्य कवि ताकुबोकु इशिकावा का नाम भी स्मरण हो आता है। ये दोनों लोकप्रिय कवि जापान के पूर्वोत्तरी क्षेत्र के इवाते प्रांत से संबद्ध थे। संयोग से इस लेख का लेखक भी इवाते प्रांत में ही जन्मा, इसी कारण दोनों कवियों की कविताओं से बचपन से ही परिचित है। इस लेख का उद्देश्य ताकुबोकु इशिकावा का एक जापानी लोकप्रिय कवि के रूप में संक्षिप्त परिचय देना है।

ताकुबोकु इशिकावा सन् 1886 में इवाते प्रांत के एक गाँव में जन्मे और केवल 27 वर्ष की अल्प आयु में ही ग़रीबी और बीमारी के कारण स्वर्गवासी हो गए। वे केवल कविता ही नहीं लिखते थे, बल्कि आलोचना और तांका यानी जापानी परंपरागत लघु कविता भी लिखते थे। उनके लिखे तांका उनकी कविताओं से अधिक लोकप्रिय हुए पर इसके बावजूद भी उन्हें काजिन की संज्ञा से संबोधित नहीं किया जाता है (तांका रचने वाले कवि को काजिन की संज्ञा दी जाती है)। वरना आम तौर पर उन्हें कवि की संज्ञा से ही संबोधित किया जाता है, क्योंकि उन्होंने एक पंक्ति में अभिव्यक्त करने की तात्का लघु कविता की परंपरा को 3 पंक्तियों में विभाजित करके उसे एक नया स्वरूप प्रदान किया। इतना ही नहीं, तांका की अलंकार रीति से भी मुक्त होकर इसमें अपने रोज़मर्रा के जीवन को व्यक्तिगत भावुकता से भरे स्वर में अभिव्यक्त किया। उनके तांका संग्रह ‘इचिआकु नो सुना’ (‘एक मुट्ठी रेत’, सन् 1910), ‘कानाशिकि गान्गु’ (‘दुःखमय क्रीड़ा’, सन् 1912) हैं और कविता संग्रह ‘आकोगारे’ (‘अभिलाषा’, सन् 1905) भी है।

ताकुबोकु के तांका इतने लोकप्रिय हैं कि कोई भी जापानी एक बार तो ज़रूर ही उनके तांका पढ़ेगा, लेकिन तांका की दुनिया में उनके तांका हमेशा चर्चा का विषय ही बने रहे। क्योंकि तांका के आलोचक स्पष्ट व्यक्त करते हैं कि उनका 3 पंक्तियों वाला तांका तांका की रीति से अलग एक दूसरी चीज़ हैं। वे सिर्फ़ अपने रोज़मर्रा के जीवन को कुल 31 अक्षरी

3 पंक्तियों में अभिव्यक्त करते हैं। तांका एक साहित्यिक विधा है जिसमें तान्ता के सिद्धांत के आधार पर रस होता चाहिए। तांका की रचना तो मनुष्य ही करता है पर रचने के बाद तांका स्वयं कवि यानी काजिन से मुक्त होकर स्वतंत्र हो जाता है। पर ताकुबोकु के तांका अतिव्यक्तिगत मनोभाव की अभिव्यक्ति हैं आदि-आदि। इसके बावजूद भी ताकुबोकु के तांका अभी भी जनता में लोकप्रिय हैं। उनके तांका की लोकप्रियता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अब तक ताकुबोकु के तांका पर दो सौ से अधिक लेख, आलोचनाएँ आदि लिखी गई हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि ताकुबोकु जापान के एक प्रख्यात कवि हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया कि ताकुबोकु रोज़मर्रा के जीवन को तांका में अभिव्यक्त करते थे, इस दृष्टि से जानकारी हेतु ताकुबोकु का संक्षिप्त जीवन का परिचय देना उचित होगा।

सन् 1886 में जन्मे ताकुबोकु इशिकावा को बचपन से ही तांका कविता आदि लिखने का शौक था। भारत के नवयुवकों की तरह ताकुबोकु भी कविताएँ लिखकर पत्रिका अथवा अखबार में छपवाने हेतु भेजा करते थे और वे छपीं भी। 17 वर्ष की आयु में पढ़ाई छोड़कर पूर्वोत्तरी क्षेत्र के इवाते प्रांत से राजधानी तोक्यो आए। उन्हें कवि बनने से पहले अपना पेट भरने के लिए नौकरी की ज़रूरत थी, पर नौकरी न मिलने के कारण कुछ महीनों बाद ही उन्हें वापस अपने गाँव लौटना पड़ा। फिर कुछ महीनों बाद अपनी कविता संग्रह छपवाने के लिए वे पुनः तोक्यो आए। इस तोक्यो प्रवास के दौरान उनके पिता को जो मंदिर में पुजारी थे, काम से निकाल दिया गया। अचानक ताकुबोकु परिवार ग़रीबी के संकट में घिर गया। नौकरी की तलाश में ताकुबोकु ने कभी जापान के उत्तरीय द्वीप होक्काइदो में काम किया, तो कभी तोक्यो में और कभी अपने गाँव में उनका काम गाँव में अध्यापक का, तोक्यो और होक्काइदो में अखबार के साहित्य विभाग में ग़रीबी ने उनका पीछा न छोड़ा और इस ग़रीबी के कारण घर पर हमेशा झगड़ा ही होता रहता था। इस वातावरण ने ताकुबोकु को तांका या कविता रचने पर मजबूर किया। यह वातावारण ताकुबोकु के लिए दुःखमय था, इसलिए ताकुबोकु कहा करते थे कि तांका मेरी दुःखमय जीवन की क्रीड़ा है। घर की समस्याओं को भुलाने के लिए उन्होंने होक्काइदो द्वीप में काम करते समय की यादों को, अपने गाँव की यादों को भावुकता भरे स्वर में अभिव्यक्त किया और तांका रचते रचते 27 वर्ष की अल्प आयु में ही ग़रीबी और बीमारी से भरी अपनी जीवन यात्रा समाप्त की।

ताकुबोकु के साहित्यिक विचार

कुछ लोग मानते थे कि साहित्यकार विशिष्ट प्रबुद्ध व्यक्तित्व होता है पर ताकुबोकु का विचार था कि साहित्यकार भी साधारण मनुष्य ही है, जो दूसरे आम लोगों से भिन्न नहीं हैं। अपने

आप को कवि मानने वाला सच्चा कवि नहीं हो सकता। कवि होने से पहले मनुष्य होना ज़रूरी है। मनुष्य की नज़र से देखकर मनुष्य की कविता लिखना ही कवि का कर्तव्य है और जीवन की व्यस्तता के बावज़ूद भी चाहे क्षण भर के लिए क्यों न हो, उभरती भावना को प्यार करने का मन जब तक रहेगा तब तक तांका अमर रहेगा। इस प्रकार के विचार से प्रेरित भावुकता भरे तांका सरल भाषा में ताकुबोकु ने लिखे।

उनके तांका और कविताओं का कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत हैं।

[**कविता**]

हवाई जहाज

देख, आज भी
इस नीले आकाश पर
जहाज की ऊँची उड़ान को
बहुत दिनों बाद
नौकरी में आज
छुट्टी का दिन
तपेदिक से बीमार माँ के साथ
घर पर ही अकेले
अंग्रेज़ी का पाठ पढ़ते
लड़के की आँखों में थकावट ...
देख, आज भी
इस नीले आकाश पर
जहाज की ऊँची उड़ान को

नोट : जापान में हवाई जहाज की प्रथम उड़ान सन् 1911 अप्रैल में हुई। यह कविता इसके दो महीने बाद लिखी गई। इस वक़्त तक ताकुबोकु ने हवाई जहाज नहीं देखा। देखें, ताकुबोकु की कल्पनाशक्ति :-

[तांका]

जैसा भी हो
यादों का शिबुतामि गाँव
यादों का पहाड़
यादों की नदी

गाँव से धकिया दिए जाने की
वह दुःखद घटना
कैसे भूलूँ

न जाने क्यों
दिमाग में अंधी घाटी बनी
दिन-पर-दिन मिट्टी दरकने की आवाज़

मेहनत करता हूँ दमतोड़
मगर जीवन का सुख नहीं
देखता हूँ अपने हाथों को ग़ौर से

यह वर्ष (सन् 1986) ताकुबोकु का जन्म शताब्दी वर्ष है। इस अवसर पर इवाते प्रांत में ताकुबोकु सम्मेलन का आयोजन भी होने जा रहा है।

जापानी कविताएँ

रोज़

श्री आकितो सुगितानि

सुबह से आलू के बीज बो रहा हूँ।
महज
समाजवाद के लिए
विश्व शांति के लिए
संघर्ष करना
कितना एकाकी जीवन होगा।
बीबी, बच्चे
और फिर अचानक एक दिन
हरे अंकुर फूटता छोटा-सा खेत
आदमी के जीवन की सोद्देश्यता के लिए
यही काफ़ी है।

दर्द

सुश्री फुमिको इतागुचि

दर्द होता है
ऊपर की दाढ़ में पीछे कहीं
पर पता नहीं चलता कि
पीड़ा किस दाँत में है
पर वह दाँत
सचमुच शिकायत करता है
चिल्लाता है।
दो साल
दर्द के बाद
एक दिन पता लगता है कि
वह दाँत नहीं रहा।

शिकायत करते-करते लुप्त हो गया
चिल्लाते-चिल्लाते लुप्त हो गया
वह दाँत।
क्या सभी जीव जन्मते हैं
केवल दर्द का अनुभव करने को?

* सुश्री इतागुचि बीमारी के कारण 40 साल से बिस्तर पर पड़ी हैं।
Mifukuro, Soja-shi, Okayama-ken, JAPAN-719 13

M भाई

श्री नोबुओ आयुकावा

यानी
जब कोहरे के भीतर से
या सीढ़ियों पर पैरों की आहट में से
वसीयत लिए वकील की आकृति उभरती है
-यहीं से सब शुरू होता है।

दूर वह कल...
जब हम
मदिरालय के अँधेरे में कुर्सी पर
उदास बिगड़े चेहरे लिए
चिट्ठी के लिफ़ाफ़े को उलट देते थे
'क्या सच है कि अब न कोई छाया है, न रूप?'
-क्योंकि मैं मरने से बच गया।
समझा!
यही सच है
M भाई
कल का नीला ठंडा आकाश
हमेशा के लिए उस्तरे की धार में बचा हुआ है।
पर मुझे याद नहीं
कब और कहाँ मैंने
तुम्हें खो दिया
हम खेला करते थे

- हमारा वह छोटा-सा स्वर्ण युग
शब्दों की उलट-पलट, भगवान-भगवान के खेल
हम खेल करते थे
तुमने कहा था
'यही हमारे इलाज का पुराना नुस्खा था'

मौसम हमेशा पतझड़ का ही होता
कल भी और आज भी
अकेलेपन में सूखा पत्ता गिरता है।'
वह आवाज़ भीड़ को, शहर को पार कर
काले शीशे की सड़क पर
चलती चली आ रही थी

दफ़न के दिन
कोई शब्द भी न थे
लोग भी न थे
क्रोध, दुःख, असंतोष की गद्देदार कुर्सियाँ भी न थीं
आकाश की ओर ताकते हुए
तुम
शांति से लेट गए
बस भारी जूतों में पैर घुसा कर
'अलविदा! यह सूर्य और समुद्र भी विश्वास के लिए काफ़ी नहीं'
M भाई
ज़मीन के नीचे सोए M भाई
तुम्हारी छाती का जख्म क्या अभी भी दु:खता है?

वसंत के लिए

श्री माकोतो ओओओका

समुद्र के तट पर बालू में
सोए हुए वसंत को खोदकर
तुम उससे बाल सजाती
तुम हँसती
लहरों की भँवर जैसी फैलती तुम्हारी हँसी
लहरों की फ़ेन की तरह ही
आकाश में मिट जाती
हरे रंग की किरणों को
समुद्र चुपचाप
गर्म कर देता है

अपने हाथों को मेरे हाथों में
अपने फेंके हुए पत्थरों को
मेरे आकाश में
देखो!
आज के आकाश में
तैरती बहते फूलों की छायाएँ
हमारी बाँहों में उगता अंकुर
हमारी नज़रों के बीच
बौछारें फेंकता घूमता
सोने का सूरज
हम झील हैं, वृक्ष हैं
हम घुंघराली लटें हैं
तुम्हारी बालों की
किरणों में झिलमिलाती

ताज़ी हवा दरवाज़ा खोलती
हरी छाया को
और हमें
पुकारते असंख्य हाथ
भूमि की परत पर
चमकती सड़क
झील में
तुम्हारी बाँहें झिलमिलातीं
और हमारी पलकों के नीचे फल
सूरज सेंकते पकता
समुद्र
और
फल

एक बाँसुरी वाला

सुश्री एरिको किशिदा

बाँसुरी वाला अकेला है
लेकिन
बाँसुरी वाले की दस छायाएँ
जब
तुम बाँसुरी बजाते
तब
दस छायाएँ भी बाँसुरी बजाने लगतीं
दस छायाएँ बाँसुरी बजाना बंद नहीं करतीं
इसलिए
ग्यारहवें बाँसुरी वाले, तुम बाँसुरी बंद कर देते

रात अँधेरा छा जाता
तो दूर कहीं
रोशनी भरी छायाएँ बाँसुरी बजाने लगतीं
कभी पाल पर, कभी चींटी के बिल में
कभी पत्तों पर
हर एक छाया बाँसुरी बजाती
मानो कोई तुम्हारी स्वर-लिपि
इसलिए तुम्हारी याद आती
तुम हमेशा बाँसुरी बजाते थे

तुम्हारी खिड़की पर
दस खिड़कियाँ दूर तक बर्फ़ में जम गई
जिन पर कभी हल्की बर्फ़ गिरती
तो कभी न रुकने वाली बारिश

फिर भी
तुम्हारी छायाएँ बाँसुरी बजाना नहीं रोकती
परेशान हो
तुम बाँसुरी वाली छायाओं को सुलाने के लिए
बाँसुरी छीन लेते हो
और तुम ग्यारहवीं छाया बन जाते हो।

स्त्री

सुश्री रिन् इशिगा कि

फिर भी उसे विश्वास था
युद्ध समाप्ति के बाद भी।

सरकारी दफ्तर का
सरकारी निगम का
बैंक का
अपने देश का।

वह कोई
क्रूर मकान मालिक नहीं था
साहू भी न था
कोई धोखा-धड़ी भी न थी
वह सार्वजनिक कहलाने वाला
एक व्यक्तित्व था
उसी पर
मैं विश्वास रखती थी,

'मैं विश्वास करती थी'
इतना ही कहकर खड़ी हो गई।
बस!
मूर्ख मैं ही थी।

1-1-1-307, Minamiyukigaya, Ota-ku, TOKYO

सान्गात्सु दो (मार्च मंदिर)

श्री तारो कितामुरा

मार्च का पहला दिन
हम गए मार्च मंदिर
मार्च का पहला दिन
कभी-कभी बर्फ़ पड़ती सुबह
बादलों के आवरण को हटा
नीला आकाश झाँकता है।
कुछ चौंधियाता-सा
बर्फ़ पड़ रही थी
मार्च का पहला दिन
पत्नी के साथ
मार्च मंदिर गए
तेन्यो-युगीन तेरह मूर्तियाँ
कामाकुरा, मुरोमाचि-युगीन तीन मूर्तियाँ
प्रकाश से भरे मंदिर में
सोलह मूर्तियाँ खड़ी थीं
(रात भर भी खड़ी रही होंगी)
मार्च का पहला दिन
मंदिर के छोटे से कमरे में
मुझे सुनाई दी

सीत्कार
अगरबत्ती की सुगंध
(शायद रात भी फैल रही होगी)
मंदिर के दिशापाल अपने पद तल में
दुष्टों को दबाए खड़े थे
उन्हें इसी तरह
हजारों साल से दबाया जाता रहा है

और अनंत काल तक दबाया जाता रहेगा
दबाए गए दुष्टों की आँखें
फैलकर निकल आई हैं
मार्च का पहला दिन
दोपहर होने को है
अगरबत्ती का धुआँ हिलता है
मैं शून्यपन से बाहर निकल आता हूँ
और सोचता हूँ
अगली बार आने पर
ये सोलह मूर्तियाँ
किस नज़र से देखी जाएँगी
मार्च का पहला दिन
'नमो नमो'
मेरी पीठ मानो बर्फ़ का खम्भा
बादलों के बीच
नीला आकाश
बर्फ़ से घिरा
मार्च मंदिर

c/o Sakura-so, 10, Oshibadai, Naka-ku, Yukohama-shi

चिचिबु कोन्मिन्तो (चिचिबु जनवादी आंदोलन)

श्री युताका आकितानि

जुलाई 1974 की सुबह
हालाँकि बगीचे में Hydrangea का फूल
बारिश में भीग रहा है
पर आधुनिक युग बंजर हैं।
अखबार वाला अखबार बाँधकर फेंक जाता है
मगर अखबार के अक्षरों के बीच
अँधेरा ही भरा हुआ है

मेइजि युग की वह सांस्कृतिक क्रांति
सोए हुए लोगों के लिए सूर्योदय थी
उसके बावजूद भी
मध्यकालीन युग का अँधेरा था
तोकोकु कितामुरा
केन्तारो ओओए
एमोरि उएकि
मुझे इन क्रांतिकारियों के नाम
स्मरण हो आते हैं.
चाँदनी रात में कोतोकु का प्रभाव चमकता है
पर जब चाँद डूब जाता है।
तो कवि की कविता भी अँधेरी हो जाती है
मैं कोन्मिन्तो की कथा लिखना चाहता हूँ
सन् 1884 के नवंबर की पहली तारीख
चिचिव कोन्मिन्तो के हजारों ग़रीब किसानों ने
आंदोलन छेड़ दिया
पर कुछ ही दिनों में यह क्रांति विफल हो जाती
नेता एइसके ताशिरो को कुमागाया जेल में
मृत्यु दंड

नोगामि गाँव का नाएकिचि ओओनो
कोदामा जिले के कानाया गाँव में
शहीद
कोन्मिन्तो के अधिकांश ग़रीब किसानों के बीच
सिर्फ़ देनजो इनोउए ही एक शिक्षित और गौर चेहरा था
क्रांति असफल
और वह लापता
और अंत में होक्काइदो द्वीप के एक गाँव में
मर गया
आह
माँ की सुगंध जैसा
धूल से सने किसान के लिबास जैसा
गाँव
याद आता है
और याद दिलवाओ अपने आप को
सुदूर अपने गाँव की ओर से
उस घाटी से होकर आई
भयंकर पहाड़ों की आवाज़ों को
मेरे दोस्त ने कहा
वह केवल पहाड़ से मिट्टी सरकने की आवाज़ है
परंतु
हमारे मन में Hydrangea का फूल
अब नहीं खिलता।

3-2-10, Motomachi, Urawa-shi, Saitama-ken,

जापानी पौराणिक कथा : आठ सिर-धारी साँप

साइजी माकिनो

जापान के 'इजुमी' राज्य के 'तोरिकामि' नामक स्थान पर एक आदमी अकेला आगे-आगे चल रहा था। कौन था वह! वह था, 'सुसानोओ' राजकुमार। चारों ओर कहीं भी इंसान का घर दिखाई नहीं दे रहा था। लंबा, पेड़-घास फैलता-निर्जन जंगल। नजदीक में कोई नदी बहती हो, क्योंकि कल-कल करती हुई आवाज़ सुनाई दे रही थी। काफ़ी थके-माँदे राजकुमार कहीं आराम करना चाहता था और प्यास खूब लग रही थी कि कहीं पानी भी पी लें। वह पानी की आवाज़ सुनते हुए नदी के तट पर आ गया। जब वह पानी पीने वाला था, तभी उसने देखा कि 'हासि' (Chop-stick) (जिससे जापानी खाना खाते हैं) बहता आ रहा था। ख्याल आया कि कहीं कोई इंसान है, जाकर देखूँ? वह नदी के किनारे-किनारे आगे बढ़ गया। कुछ दूर जाने के बाद उसने सामने एक घर देखा। उसने आवाज़ लगाई "नमस्कार"। पर निरुत्तर। एकाएक घर के भीतर रोने की आवाज़ सुनाई दी। "नमस्कार!" रोदन बंद हो गया और दरवाज़ा खुल गया। एक बूढ़ा बाहर आया। शायद वह अभी तक रो रहा था, क्योंकि आँखों के कोर लाल-लाल हो गए थे। आँसू की बूँद वृद्ध चेहरे की झुर्री पर लग रही थी। राजकुमार ने कहा "मैं यात्री हूँ। तनिक विश्राम करना चाहता हूँ।" बूढ़े ने उसको घर में बिठाया। देखा तो कमरे के कोने में एक लड़की रो रही थी। लड़की के कंधे पर हाथ लगाए हुए बुढ़िया माँ भी रो रही थी। राजकुमार ने पूछा, "आप लोग क्यों रो रहे हैं? बताइए, क्या बात है? मैं यथासंभव आपकी सहायता कर सकूँ? " बूढ़े ने कहा, "धन्यवाद, पर आप कौन हैं?" "मैं हूँ 'सुसानोओनो' जो 'आमातेरासु' देवी का छोटा भाई 'अभी 'ताकामानोहारा' से ही उतर कर आया हूँ।" बूढ़े ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और बोला "मुझे मालूम नहीं था कि आप इतने महान हैं।" बूढ़े ने अपना परिचय देते हुए कहा, "सुनिए, आज रात को यह लड़की मारी जाएगी। पहले मेरे पास आठ लड़कियाँ थीं। हर वर्ष एक-एक करके माई गईं, अब एकमात्र बच गई है जो आज रात मारी जाने वाली है।" "कौन है, वह जो इतनी निर्दयतापूर्वक हत्या करता है?" "वह मनुष्य नहीं, इस पहाड़ के उस पार पर रहने वाला आठ सिर-धारी साँप है। एक धड़ पर आठ सिर और आठ पूँछ हैं, जो दुनिया में अद्वितीय दुष्टात्मा है। उसकी बड़ी-बड़ी और लाल-लाल आँखें रत्न की भाँति चमकती हैं और उसकी उग्र दृष्टि से समस्त जीव सिकुड़ जाता है।" बूढ़े का वर्णन बड़ा भयंकर था, "ठीक है, चाहे वह कितना भी भयंकर हो, कितना ही बदमाश हो, दुष्टात्मा की हम माफ़ नहीं कर सकते। मैं अवश्य उसे मार दूँगा। चिंता न करो।" बूढ़ा-बुढ़िया से सर्प मारने की तैयारी करवाया गया। आठ दरवाजा बनवाया गया, जिसमें आठ मंच बनाया

और उस पर एक-एक बड़ा घड़ा रखा। घड़ा तेज़ शराब से भरा हुआ था। "अच्छा, अब आप लोग कुछ दूर पर छिपे रहिए।" राजकुमार ने लड़की पर अपना श्वास फूँका तो लड़की एक कंघी बन गई। वह घर के पीछे से सर्प के आगमन की प्रतीक्षा करता रहा। एकाएक भू-गर्ज सुनाई दी, तब अचानक अँधेरा हो गया। देखा तो आकाश में काला बादल छाया हुआ है और बदबूदार हवा ज़ोर से आने लगी। इसका मतलब अब आठ सिर वाला साँप आने ही वाला है। साँप के काया पर आठ घाटी और आठ पर्वत थे तथा पीठ पर चीड़ का पेड़ भी पनपता रहता था, जिसके हिल जाने ये भयंकर आवाज़ उत्पन्न होती थी।

साँप ने आठ दरवाजे से प्रवेश किया और मंच पर रखा हुआ शराब मज़े से पी लिया। शराब बहुत तेज़ होने के कारण वह तुरंत नशे में सो गया। यह देखकर राजकुमार ने अपने तलवार से उसका एक सिर काट डाला बाक़ी सातवां सिर नशे से जाग्रत हुआ, पर प्रत्येक सिर प्रत्येक दरवाजे में घुसा हुआ था, इसलिए शोर मचाने पर भी वह घूम-फिर नहीं सका। एक के बाद एक सभी काटे गए और धड़ भी इसी प्रकार टुकड़ा-टुकड़ा कर दिया गया। अंत में जब वह पूँछ काटने लगा, तब किसी चीज़ से टकराकर आवाज़ और तलवार की धार टूट गई। सावधानी से पूँछ को चीरने पर उसमें से एक चमकीला शानदार तलवार निकला। राजकुमार ने सोचा "इतना बहुमूल्य तलवार मेरे पास रखने योग्य नहीं, बहिन देवी को ही दे दिया जाए।" इस तलवार का नाम रखा गया 'आमेनोमुराकुमों' और बाद में 'ताकामागाहारा' की बहिन देवी के पास भेज दिया गया।

साँप को मारने के बाद राजकुमार ने अपने सिर पर रखी हुई कंघी को निकाल कर एक श्वास फूँक दिया। कंघी लुप्त हो गई और सुंदर 'कुसिइनादा' देवी जैसा का तैसा सामने आ गई। वृद्ध दम्पत्ति बोले "आपको बहुत-बहुत धन्यवाद। आपकी कृपा से ही हम सात लड़कियों का बदला ले सके।" राजकुमार का 'कुसिइनादा' देवी से विवाह हुआ और 'सुगा' नामक स्थान पर नया महल बना कर सुखपूर्वक रहने लगे।

परिशिष्ट

इस अंक के लेखक एवं लेखिकाएँ

श्री योशिअकि सुज़ुकि (संपादक)	3-6-3-415, Kiba, Koto-ku, TOKYO,JAPAN
श्री शिगेओ अराकि	249-7 Momura, Inagi-shi TOKYO
श्री हिदेहिसा हिरानो	4-11-9, Kugayama, Suginami-ku,TOKYO
सुश्री रिन् इशिगाकि	1-1-1-307, Minamiyukigaya ota-ku TOKYO
श्री युताका आकितानि	3-2-10, Motomachi, Urawa-shi, Saitama ken.
सुश्री एरिको किशिदा	5-9-4, Yanaka, Taito-ku, TOKYO
श्री तारो कितामुरा	C/o Sakura-so, 10, Oshibadai, Naka-ku, Yokohama-shi, Kanagawa-ken
श्री नोबुओ आयुकावा	4-38-16, Tamagawa, Setagaya-ku TOKYO
श्री माकोतो ओओओका	182, Jindaijiminamicho, Chofushi,TOKYO
श्री आकितो सुगितानि	699-4, Santanda, Hanagashima-cho, Miyazaki-shi, Miyazaki-
सुश्री फुमिको इतागुचि	ken Mifukuro, Soja-shi, okayama-ken, Japan 11
श्री साइजी माकिनो	Andrews Palli, Santiniketan. West Bengal

विशेष सहयोगी

श्री कैलाश चंद्र पांडे, वाई-81 हौज खास, नई दिल्ली
श्री हेमचंद्र पांडे

ज्वालामुखी किताब का मुखपृष्ठ बनाने वाले श्री शिगेआकि हरादा जी का परिचय[1]

प्रसिद्ध चित्रकार शिगेआकि हरादा जी का जन्म 1940 में जापान के तोकुशिमा राज्य के एक गाँव में हुआ। अपनी बड़ी बहन से प्रभावित होकर उन्होंने चित्रकला के शिक्षक बनने का सपना देखा और पूरा किया। उनकी बड़ी बहन भी एक चित्रकार और प्राथमिक विद्यालय में शिक्षिका थीं। जब वे हाई स्कूल के विद्यार्थी थे तब उन्होंने तोकुशिमा प्रीफेक्चरल प्रदर्शनी में पुरस्कार प्राप्त किया। 1959 में उन्होंने तोक्यो मुसाशिनो आर्ट स्कूल (वर्तमान नाम मुसाशिनो आर्ट विश्वविद्यालय) में दाखिला लिया। उन्होंने जापान के प्रसिद्ध प्रिंट मेकर श्री शिको मुनाकाता जी से शिक्षा ली। उन्होंने माध्यमिक स्तर के विद्यालय में कला शिक्षक बनने का अपना सपना भी पूरा किया।

1968 में ओसाका में उनकी एकल प्रदर्शनी आयोजित की गई। 1974 में उन्होंने कला शिक्षा का प्रशिक्षण देने के लिए भारत और नेपाल की यात्राएँ कीं और भारत से जुड़ी हुई तस्वीरें बनाने लगे। विशेष रूप से बुद्ध की प्रतिमाओं की तस्वीरें बनाईं। उनके चित्रों की क्योतो कला संग्रहालय में लगातार प्रदर्शनियाँ हुई हैं। 40 साल तक न जाने कितने विद्यार्थियों को स्कूल में चित्रकला सिखाने के बाद 2001 में वे सेवानिवृत्त हुए।

जापान-भारत के सांस्कृतिक संबंध के पचास साल पूरे होने के उपलक्ष्य में 2007 में 'फैसनैटिंग इंडिया वाटरकलर एक्ज़ीबिशन' नाम से कलकत्ता में आपके चित्रों की प्रदर्शनी का आयोजन हुआ। 2010 में भारतीय गणतंत्र के साठ साल पूरे होने पर जापान के मिनो शहर में 'मिनो नो मोरी गैलरी' में एकल प्रदर्शनी का आयोजन किया। 2013 में एक बार फिर कलकत्ता में एकल प्रदर्शनी हुई। इसमें पचास चित्रों को दिखाया गया, जिनमें से एक चित्र में एक आदमी हड़ताल के समय ज़मीन पर बैठा हुआ है। यह दृश्य उन्होंने दक्षिण भारत की अपनी यात्रा में देखा था। 2017 में जापान-भारत के सांस्कृतिक संबंध के साठ साल पूरे होने के उपलक्ष्य में जापान में भारत के प्रधान काउंसिलावास, ओसाका-कोबे और जापान के विदेश मंत्रालय और सुइता शहर की ओर से एक प्रदर्शनी का आयोजन किया गया। 2019 में भी जापान में भारत के प्रधान काउंसिलावास, ओसाका-कोबे के सहयोग से हरादा जी के तैलचित्रों की प्रदर्शनी 'फैसनैटिंग इंडिया' नाम से तोकुशिमा प्रीफेक्चर के आधुनिक कला संग्रहालय में आयोजित की गई।

2022 में जापान-भारत के राजनयिक संबंध के सत्तर वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में जापान में भारत के प्रधान कोंसलावास, ओसाका-कोबे और सुइता शहर, और सुइता सिटी बोर्ड ऑफ एजुकेशन सुइता शहर के कल्चरल हॉल में एक प्रदर्शनी का आयोजन किया जाएगा।

1. प्रस्तुतिकर्ता की कलम से

प्रेस जगत

क्या हिंदी? वह मुझे नहीं आती

एक नयी पत्रिका नयी ही नहीं, अनूठी भी, प्रकाशित करने के लिए क्या करना होता है? उत्तर है: तोक्यो (जापान) से अपने खर्च पर भारत आना और पत्रिका की सामग्री अपने सामने छपवाना—इस के भी पहले जापान के लेखकों से विविध लेख प्राप्त करना. ये लेखक वे जापानी हैं जो हिंदी भाषा के विद्वान हैं, इसलिए आग्रह करना कि वे हिंदी में ही लिखें. इतना सब करने के बाद ही एक अनूठी पत्रिका प्रकट हुई जिस के सब लेखक जापानी हैं और सब ने हिंदी में लिखा है. कहना न होगा कि संपादक भी जापानी ही हैं. उन का नाम है **श्री योशिअकि सुजुकि** और पत्रिका का **ज्वालामुखी**—जापान का प्राकृतिक प्रतीक.

इतना झंझट अपने सर मोल लेने से फ़ायदा? **योशिअकि सुजुकि** ने दिल्ली में एक लेखक के घर बातचीत करते हुए कहा: जापान में लोग हिंदी सीख कर यदि भारत के लोगों से संवाद न कर सकें तो क्या फायदा?

अपने संपादकीय में योशिअकि ने एक प्रश्न उठाया है कि जापान में जब दस पंद्रह विश्वविद्यालयों में हिंदी शिक्षण और अनुसंधान कार्य हो रहा है, तो शोध प्रबंध जापानी भाषा में ही क्यों लिखे जाते हैं? इस की जगह यदि वे हिंदी में लिखे जायें तो भारत से व्यापक तौर से सुझाव मिलेंगे. पत्रिका का एक उद्देश्य तो ऐसा लेखन कराना ही है, दूसरा जापानी साहित्य और इतिहास के बारे में हिंदी में जानकारी देना. पर दूसरा वास्तव में जापानियों के नहीं हिंदी भाषियों के करने का ही काम होना चाहिए जो वे अपने दंभ और अज्ञान के कारण करते नहीं हैं. लक्ष्मीधर मालवीय और सत्यमोहन वर्मा जैसे भारतीय जो जापानी से सुंदर अनुवाद कर सकें, उंगलियों पर गिने जायें तो कुछ उंगलियाँ खाली रह जायेंगी.

इसी महीने प्रकाशित प्रथम अंक के लेखों के मध्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और काशीनाथ सिंह के साहित्य की विवेचना है. लेखक हैं क्रमशः **श्री यूसुके ओहिरा** जो आजकल जापानी साप्ताहिक 'तोने' में संवाददाता हैं और **शिगेओ अराकि** जिन का परिचय पत्रिका में इतना ही दिया गया है कि वह जापान एफ्रोएशिया लेखक संघ के सदस्य हैं. उत्तरी भारत के नगरों में भाषा समस्या पर कुछ टिप्पणियाँ **तोमिओ मिज़ोकामि** ने लिखी हैं. आप ओसाका विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग में प्राध्यापक हैं. दक्षिण भारत में सतमाहे की रस्म और गीतों पर लेख **डा. नारिहिको उचिदा** ने लिखा है, आप जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय नयी दिल्ली में जापानी विभाग में प्राध्यापक हैं. परिशिष्ट में जापान में 1970-79 तक प्रकाशित हिंदी एवं हिंदी साहित्य संबंधी 56 निबंधों की सूची भी दी गयी है.

तोमिओ मिज़ोकामि लिखते हैं कि उत्तर भारत के बुद्धिजीवियों ने अक्सर मुझ से कहा है आप की हिंदी मुझ से काफी अच्छी है. किसी विदेशी के मुँह से हम अपनी भाषा सुन कर खुश हों यह तो समझ में आता है पर अपने से अच्छी हिंदी बोलने के लिए उस की प्रशंसा करना क्या दिखाता है?

बंगाल में बुद्धिजीवी किसी अबंगाली से कभी नहीं कहेंगे 'आपनार बांगला आमार चेये भालो'. सत्य यह है कि हिंदीभाषा का एक विशेष स्तर या शैली (साहित्यिक भाषा) हिंदी क्षेत्र के इन बुद्धिजीवियों के लिए भी उतनी ही अबूझ है जितना हिंदी सीखने वालों के लिए.

74 पृष्ठ की पत्रिका अभी धनाभाव के कारण वार्षिक है. संपादक का पता है योशिअकि सुजुकि, 5-9 मात्सुयामा, दुच्योमे. कियोसे-शि, तोक्यो, जापान. सुजुकि अभी कुछ दिन भारत में ही रहेंगे. उन से डा. नोरिहिको उचिदा, प्राध्यापक जापानी विभाग, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, के-87, हौजखास एंक्लेव, नयी दिल्ली-110016 के पते पर संपर्क किया जा सकेगा.

दिनमान 7

"दिनमान"
19-25 - अक्टूबर
1980

19-25 अक्टूबर, 1980
"दिनमान"

19-25 अक्टूबर, 1980 दिनमान

ज्वालामुखी पत्रिका के संपादक श्री योशिआकि सुज़ुकि जी

बाएँ से तोमिओ मिज़ोकामि, दोसुतो सकाई, योशिआकि सुज़ुकि

अपने बारे में

योशिआकि सुज़ुकि

कल मुझे अचानक प्रो. मिज़ोकामि साहब का पत्र प्राप्त हुआ।
इस में लिखा था कि लगभग तीस-चालीस साल पहले मैंने
"ज्वालामुखी" नामक हिन्दी पत्रिका प्रकाशित की थी।
इस पत्रिका को ओसाका स्थित भारतीय ओसाका-कोबे कोंसल
के प्रधान निकलेश गिरि साहब की कृपा से फिर से
पुस्तक के रूप में प्रकाशित होने वाला है।
पढ़कर मैं महसूस करता हूँ कि जरूर प्रो. मिज़ोकामि साहब
का प्रयास भी है।

आश्चर्य के साथ साथ इन लोगों की कृपा से धन्यवाद
कहना पड़ता है।

प्रो. मिज़ोकामि साहब ने यह भी पूछते हैं कि आप अब क्या कर रहे हैं?
अब मैं 73 उम्र का बूढ़ा हूँ।
10 साल पहले बड़े शहर टोक्यो को छोड़कर 30 हजार
की जनसंख्या का छोटा नगर आतामि में अकेला रहता हूँ।
सामने समुद्र है पीछे पहाड़ है।
कभी सूर्योदय के साथ उठकर समुद्र-तट पर बंसी से
मछली पकड़ने जाता हूँ, कभी पहाड़ में कचौर ढूँढने जाता हूँ।
कभी तस्वीर बनाता हूँ।
शाम को कभी Youtube में पुरानी हिन्दी फिल्में देखता हूँ
कभी "आजतक" की ताजी खबर देखता हूँ।
इस प्रकार जिन्दगी व्यतीत कर रहा हूँ।
बुढ़ापे होते हुए भी न जाने क्यों
हिन्दी भाषा सुनायी जा न सकी।

धन्यवाद

15-अगस्त-2022

पुरी के समुद्र के तट
फ़र 2011

योशिआकि सुज़ुकि- अपने बारे में

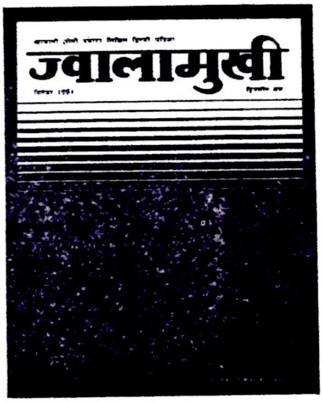

जापानी 'ज्वालामुखी'

16 सितंबर 81 की 'सारिका' में मुज्तबा हुसैन ने बताया था कि जापान में सुजुकि नामधारियों की भरमार है. पाठकों को यह जानकर शायद सुखद आश्चर्य हो कि जापानी लोगों द्वारा लिखित हिंदी पत्रिका 'ज्वालामुखी' (5-9 मात्सुयामा, 3 च्योमे, कियोसेशि, टोकियो, जापान) के संपादक भी एक सुजुकि हैं—योशिआकि सुजुकि. जापान के हिंदी लेखक हिंदी साहित्य की अद्यतन प्रवृत्तियों से इस कदर वाकिफ हैं कि नागार्जुन और मन्नू भंडारी से लेकर मिथिलेश्वर तक की ताजातर कृतियों का विवेचन-विश्लेषण कर रहे हैं. भारतीय फिल्मों पर लेख के साथ जापानी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियों पर भी एक लेख ताजे अंक में है. आशा है, जापान की इस हिंदी पत्रिका का स्वागत होगा. □

सारिका अंक 296 पर्व 29. पृष्ठ 70.

"सारिका" नवंबर - १९८१

सारिका-नवंबर 1981

हिंदी के वरिष्ठ कथाकार काशीनाथ सिंह के साथ योशिआकि सुज़ुकि